

के संक्षिप्त

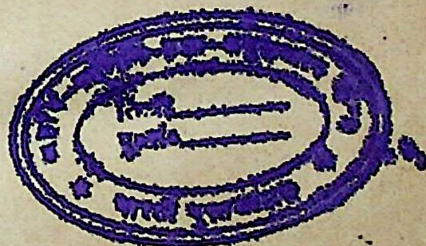
ली
जीवित
लिकाओं
एवं
जगत् को
रूप से
यायी महाभाष्य
तथा
दांगादि विषयों में
त कराते हुए
ी एवं सुदक्षा
ना।



इमे दिवो अनिमिषा : पृथिव्याश्चिकित्वांसो अचेतसं नयन्ति
प्रवाजे चिन्नद्यो गाधमस्ति पारं नो अस्य विष्पितस्य
पर्षन्

न शम्या यह मपुरुचा वोहि : सूनुभांड मांड तो
द्विजाति मन्त्र स पूषा चाण्डाले नाव मर्दितम् ।

मा (ग), आ धे नवा १११९ २१६



2592

१९१
:९९ —



ओ३म्

संस्कार-विधिः

वेदानुकूलैर्गर्भाधानादारभ्यान्त्येष्टिपर्यन्तैः षोडशसंस्कारैः समन्वितः

तस्येदं

शुद्धपाठयुतं विविधटिप्पणीभिरलंकृतं परिशिष्टैः सुशोभितं आर्यसमाजशताब्दी-संस्करणम्



श्रीमत्स्वामी दयानन्द सरस्वती

प्रकाशक—
रामलाल कपूर ट्रस्ट
बहालगढ़ (सोनीपत-हरयाणा)

सम्पादक—
युधिष्ठिर मीमांसक
रामलाल कपूर ट्रस्ट

इस संस्करण की विशेषता

१—सभी संस्करणों से मिलाकर 'द्वितीय संस्करण' के आधार पर मूल पाठ का संरक्षण।

२—विविध संस्करणों में हुए परिवर्तनों एवं प्रक्षेपों को दूर करके मूल पाठ का स्थापन।

३—उद्धृत वचनों का ग्रन्थकार अभिमत शुद्धपाठ वा मूल स्थान का निर्देश।

४—मूल-ग्रन्थ पर लगभग एक सहस्र टिप्पणियां।

५—प्रथम परिशिष्ट में विविध विषयों पर ३६ विवेचनात्मक टिप्पणियां।

६—उद्धरण की सुविधा के लिये प्रति पृष्ठ पंक्ति संख्या का निर्देश।

७—विषय की सुविधा के लिये ग्रन्थ का छोटे-छोटे सन्दर्भों में विभाजन वा अवान्तर शीर्षकों का निर्देश।

८—विविध संस्करणों का विवेचनात्मक सम्पादकीय।

९—ग्रन्थ का ऐतिहासिक विवरण

१०—अन्त में अत्युपयोगी १२ विशिष्ट परिशिष्ट (—सूचियां)

११—सुन्दर शुद्ध मुद्रण, बढ़िया कागज, पक्की सुन्दर जिल्द।

१२—लागतमात्र मूल्य—सजिल्द १० रु० (मंहगाई के कारण)

प्रथमवार २००० | वि० सं० २०३१ | सन् १९७४

मूल्य
सजिल्द १०-००
विना जिल्द ८-००

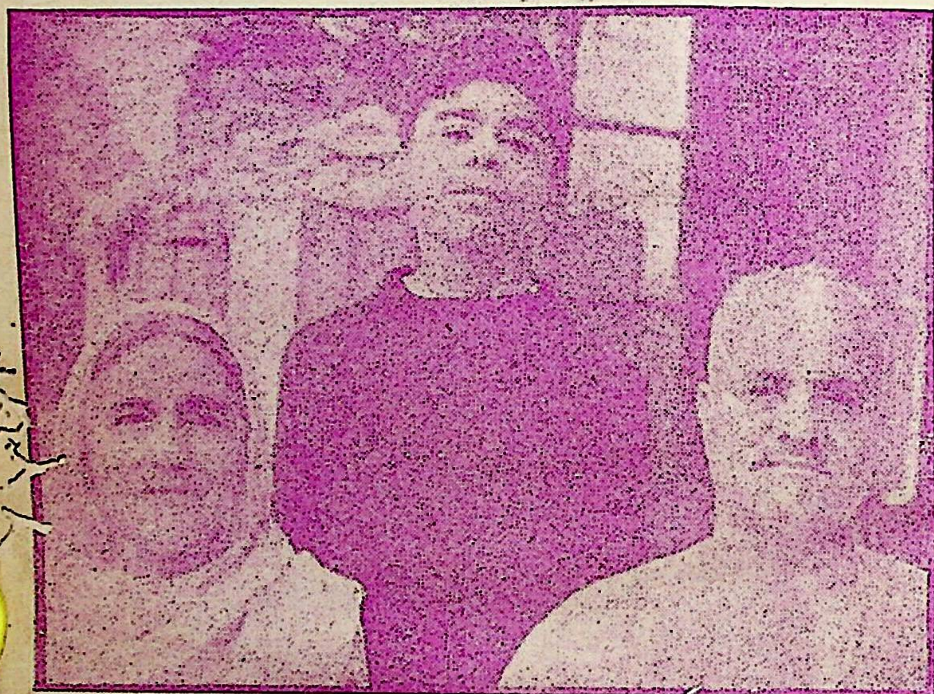
मुद्रक—सुरेन्द्रकुमार कपूर
रामलाल कपूर ट्रस्ट प्रेस,
बहालगढ़ (सोनीपत)

आर्य-समाज के प्रवर्तक तथा संस्कार-विधि के रचयिता

महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती
[सं० १९२४ का असली चित्र]

संस्कार-विधि के आर्यसमाज-शताब्दी-संस्करण के लिये

सहायता देनेवाले



श्रीमती भागवन्ती जी, उनके पति श्री हरिश्चन्द्र जी बत्रा,
मध्य में स्व० सत्यप्रकाश
जिस की स्मृति में यह संस्करण छपा

ऋषि दयानन्द कृत संस्कारविधि का
आर्यसमाज-शताब्दी-संस्करण

श्रीमती माता भागवन्ती जी, धर्मपत्नी श्रीमान् हरिश्चन्द्र जी
बत्रा ने अपने होनहार मेधावी व्यवहार-पटु
दूरदर्शी मितभाषी सत्यवादी
सन्मार्गगामी आज्ञाकारी
मातृ-पितृ-भक्त
प्रभु-भक्त
पुत्र

स त्य प्र का श

जिसे १६ वर्ष की अल्पायु में ही
अकालमृत्यु ने सहसा
उठा लिया, को
स्मृति में
प्रकाशित कराया है।

प्रकाशकीय वक्तव्य

आर्यसमाज की स्थापना को अप्रैल १६७५ में १०० वर्ष पूरे हो रहे हैं। इस अवसर की महत्ता को ध्यान में रखकर हमने ऋषि दयानन्द कृत ग्रन्थों के आ० स० शताब्दी संस्करण निकालने की योजना बनाई थी। उसके अन्तर्गत गतवर्ष सत्यार्थ-प्रकाश और ऋग्वेदभाष्य भाग १ का प्रकाशन किया था। इस वर्ष ऋग्वेदभाष्य भाग २ का प्रकाशन फ़रवरी में हो चुका है, और संस्कारविधि का अब कर रहे हैं।

उक्त ग्रन्थों के हमारे द्वारा प्रकाशित संस्करणों को जिन विद्वानों ने देखा, चाहे आर्यसमाजी हों चाहे अन्य मतावलम्बी, सभी ने अत्यन्त सराहा है। इन ग्रन्थों के शताब्दी संस्करण में पाठ शुद्धि पर पूरा ध्यान देते हुए सहस्रों उपयोगी टिप्पणियां दी हैं। विविध विषयों से सम्बद्ध १२ परिशिष्ट (=सूचियां) आदि दी हैं। यह कार्य ऋषिकृत ग्रन्थों के प्रकाशकों में से किसी ने भी आज तक नहीं किया। सभी का लक्ष्य ग्रन्थ का प्रकाशनमात्र होता है, चाहे वह कैसा ही खराब वा अशुद्ध क्यों न छपे।

संस्कारविधि का प्रस्तुत संस्करण भी सत्यार्थप्रकाश आदि के समान सभी विशेषताओं से युक्त है। प्रथम परिशिष्ट में संस्कारविधि से सम्बद्ध अत्यन्त आवश्यक ३६ विषयों पर विशिष्ट विवेचनात्मक टिप्पणियां दी गई हैं।

यह महत्त्वपूर्ण कार्य कभी सम्पन्न न होता यदि इस कार्य के लिये ऋषि-भक्त वैदिकधर्म-प्रेमी हमारे ट्रस्ट के सदस्य श्री हरिश्चन्द्र जी बत्रा तथा उनकी धर्मपत्नी श्रीमती भागवन्ती जी पांच सहस्र रुपयों की सहायता न करते। इस महत्त्वपूर्ण धर्म-कार्य के लिये श्री बत्रा जी समस्त आर्यजगत् के वधाई के पात्र हैं।

इस संस्करण को शुद्ध छापने के लिये माननीय श्री पं० महेन्द्र जी शास्त्री ने विशेष परिश्रम किया है। और सूचियों के निर्माण में भी सहयोग दिया है। इस परिश्रम-साध्य कार्य के लिये मैं आपका आभारी हूं।

वर्तमान महर्घता के कारण कागज वा छपाई आदि का व्यय अत्यन्त बढ़ जाने से इस संस्करण का मूल्य १०-०० रखना पड़ा है। आशा है स्वाध्यायशील ऋषि-भक्त इस ग्रन्थ को भी पूर्ववत् अपनाकर हमें सहयोग देंगे।

वैशाखी, सं० २०३१
१३ अप्रैल १६७४

प्यारेलाल कपूर
मन्त्री—रामलाल कपूर ट्रस्ट

सम्पादकीय

'ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों में 'संस्कार-विधि' का प्रमुख स्थान है। इस ग्रन्थ की बृहत्त्रयी (सत्यार्थ-प्रकाश, ऋग्वेदा०, संस्कारविधि) में गणना होती है। सत्यार्थ-प्रकाश के पश्चात् यही एक ग्रन्थ ऐसा है, जिसकी बिक्री सर्वाधिक होती है। वैदिक-यन्त्रालय का छपा जो २५वां संस्करण इस समय उपलब्ध है, वह संवत् २०२५ में छपा है। अन्य प्रकाशकों द्वारा भी 'संस्कार-विधि' के १०-११ संस्करण छप चुके हैं।

वैदिक-यन्त्रालय अजमेर द्वारा संस्कार-विधि के जितने संस्करण छपे हैं, उनकी संक्षिप्त विवेचना आगे की जायेगी। हमने संस्कार-विधि पर जो कार्य किया है, उससे हम इस परिणाम पर पहुंचे हैं कि ऋषि दयानन्द ने श्रीमती परोपकारिणी सभा और वैदिक यन्त्रालय की स्थापना जिन उदात्ततम उद्देश्यों को लेकर की थी[2], उन्हें पूरा करना तो दूर रहा, ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों को ही अपने मूलरूप में स्थिर न रखा जा सका। ऋषि दयानन्द के महान् साहित्यिक उद्देश्य को सम्मुख रखकर किसी भी आर्यसंस्था ने उनके इष्ट क्षेत्र में प्रमुखरूप से कार्य नहीं किया। अतः उक्त संस्था द्वारा ऋषि दयानन्द के ग्रन्थ जैसे भी छप रहे हैं, उन्हीं से ही आर्य जनता को संतोष करना पड़ता है।

---

१. यह सम्पादकीय मूलतः रामलाल कपूर ट्रस्ट से लघु आकार के संवत् २०२३ में प्रकाशित संस्करण के लिये लिखा गया था। अगले संस्करणों में स्वल्प परिवर्तन होता रहा। अब उसी में साधारण संशोधन करके यहां दिया जा रहा है।

२. द्र०—स्वीकार-पत्र धारा १—'वेद और वेदाङ्ग वा सत्यशास्त्रों के प्रचार अर्थात् उनकी व्याख्या करने-कराने, पढ़ने-पढ़ाने, सुनने-सुनाने, छापने-छपवाने आदि'। तथा द्र०—ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन, पृष्ठ ४१६, द्वि० संस्करण – 'यह छापाखाना केवल सत्यशास्त्र के प्रचार के लिये किया गया, रोजगार के लिये नहीं।'

संस्कारविधि पर कार्य का संकल्प

मैंने संवत् २०१० के चतुर्थ चरण में संस्कार-विधि पर गृह्य-सूत्रादि कर्मकाण्डीय ग्रन्थों के साहाय्य से टीका-टिप्पणी लिखने का उपक्रम किया था।

प्रारम्भिक कठिनाई—कुछ ही कार्य करने पर मुझे विदित हुआ कि संस्कार-विधि के जिस पाठ (संवत् २००९ वाले)[1] को ऋषि दयानन्द का मानकर कार्य करने के लिए मैं उद्यत हुआ हूं, वह पाठ पूर्णतया ऋषि दयानन्द का नहीं है। इसमें संशोधकों ने अपने अज्ञान से बहुत से पाठ परिवर्तित कर दिये हैं, और उनके प्रमाद से बहुत से पाठ भ्रष्ट हो गये हैं। इसलिए प्रथम यह आवश्यक है कि ऋषि दयानन्द-सम्मत मूल पाठ को जानने का प्रयत्न किया जाये, उसके पश्चात् उस पर कुछ लिखा जाये।

संस्कारविधि के मूल पाठ का निश्चय—मूल पाठ के निश्चय और उसमें उत्तरोत्तर हुए परिवर्तनों के परिज्ञान के लिए मैंने संस्कार-विधि के ऋषि दयानन्द के द्वारा परिशोधित द्वितीय संस्करण से लेकर २४ वें संस्करण[1] तक सभी संस्करणों के पाठ मिलाये।

हस्तलिखित पाठ से मिलान—संस्कारविधि के दो हस्तलेख हैं—प्रथम पाण्डुलिपि (रफ कापी), और द्वितीय संशोधित प्रतिलिपि। इन दोनों से मुद्रित संस्कारविधि की तुलना, जो बहुत काल पूर्व में की जा चुकी थी[2], से भी मिलान किया गया।[3]

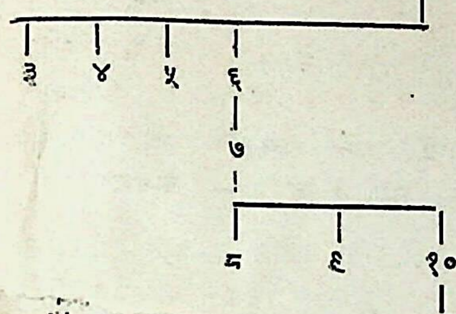
मुद्रित और हस्तलिखित पाठों की तुलना का परिणाम—ऋषि दयानन्द के मूल पाठ का परिज्ञान करने के लिये सभी मुद्रित और हस्तलिखित पाठों की तुलना करने पर मैं इस परिणाम पर पहुंचा कि—'इस ग्रन्थ में उत्तरोत्तर पाठ-परिवर्तन वा परिवर्धन होकर ग्रन्थ का स्वरूप अत्यन्त भ्रष्ट हो चुका है'। अतः पहले संस्कारविधि का आदर्श परिशुद्ध संस्करण तैयार करना चाहिए।

---

१. संवत् २००९ का छपा संस्करण।

२. यह तुलना हमने संभवतः सन् १९४६ में की थी।

३. यह निर्देश संवत् २०११ के आरम्भ के कार्य का है।



... पाठों को दर्शाने के लिए टिप्पणियों की भरमार हो गई थी,[1] और ग्रन्थ का आकार लगभग दूना हो गया था।

वै० यं० मुद्रित संस्करणों का वर्गीकरण

संस्कारविधि के परिशुद्ध संस्करण को प्रकाशित करने के लिये वै० यं० के छपे प्रायः सभी संस्करणों से पाठ मिलाये। उनके अनुसार संस्कारविधि के पाठों की दृष्टि से वै० यं० के छपे संस्करणों का निम्न वर्गीकरण बनता है—

प्रथम वर्ग—द्वितीय[2] संस्करण से लेकर छठे संस्करण तक का पाठ एक समान है। जहां-कहीं नाममात्र का भेद मिलता है, वह मुद्रण पत्र (प्रूफ) संशोधकों के दृष्टिदोष से हुआ है।

द्वितीय वर्ग—७वें संस्करण से लेकर १२वें संस्करण तक का पाठ प्रायः समान है। ७वें संस्करण में मन्त्रादि उद्धरणों के कुछ पते दिये गये हैं। उनके कारण पूर्व पाठ से कुछ पाठ-भेद हुआ है।

---

१. ऐसी ही स्थिति सत्यार्थप्रकाश के संशोधनकाल में उपस्थित हुई। अतः हमने रा० ला० क० ट्रस्ट द्वारा संवत् २०२९ में प्रकाशित सत्यार्थप्रकाश में वै० य० अजमेर मुद्रित संस्करण २-३५ तक के पाठभेदों का उल्लेख निदर्शनार्थ भूमिका के अन्त तक ही किया है।

२. यहां प्रथम संस्करण का निर्देश हमने इसलिये नहीं किया है कि ऋषि दयानन्द ने स्वयं उसमें परिवर्तन करके द्वितीय संस्करण तैयार किया था।

संस्कारविधि पर कार्य का संकल्प

मैंने संवत् २०१० के चतुर्थ चरण में संस्कार-विधि पर गृह्य-सूत्रादि कर्मकाण्डीय ग्रन्थों के साहाय्य से टीका-टिप्पणी लिखने का उपक्रम किया था।

प्रारम्भिक कठिनाई—कुछ ही कार्य करने पर मुझे विदित हुआ कि संस्कार-विधि के जिस पाठ (संवत् २००९ वाले) को ऋषि दयानन्द का मानकर कार्य करने के लिए मैं उद्यत हुआ हूं, वह पाठ ऋषि दयानन्द का नहीं है। इसमें संशोधकों ने अपने अज्ञान-

शताब्दी सं[illegible]

पाध्याय थे।

इस प्रकार मोटे रूप से यह कहा जा सकता है कि द्वितीय संस्करण से लेकर १७ वें संस्करण तक मूल पाठ (परिवर्धित टिप्पणियों को छोड़ कर) ९० प्रतिशत सुरक्षित रहा।

चतुर्थ वर्ग—१८वें संस्करण में मूल पाठ में अत्यधिक परिवर्तन हुआ। वही परिवर्तित पाठ २१वें संस्करण तक छपता रहा। १८वें संस्करण में शताब्दी संस्करण में प्रवर्धित कुछ टिप्पणियां हटा दी गईं, और कुछ नई जोड़ दी गईं।

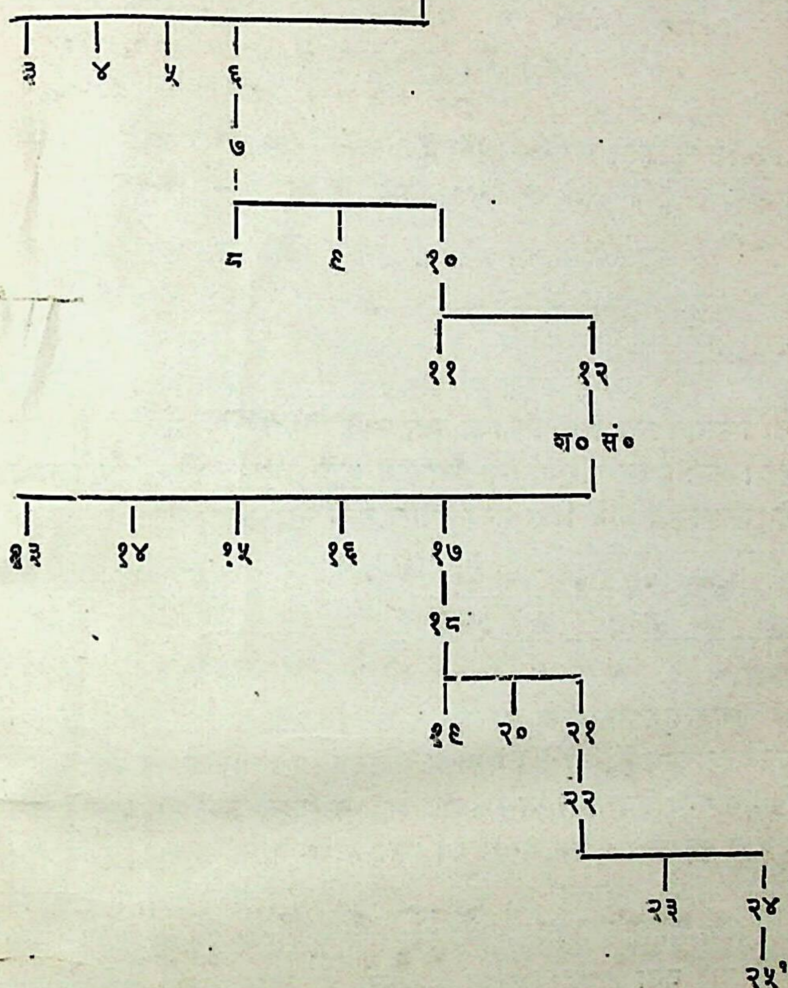
१८वां संस्करण श्री पं० जयदेव शर्मा चतुर्वेद-भाष्यकार ने श्री हरविलास जी शारदा, मन्त्री परोपकारिणी सभा के आदेश से मुद्रणलिपि (प्रेस कापी) के अनुसार तैयार किया था।

पञ्चम वर्ग—२२वां संस्करण श्री स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी द्वारा मुद्रणलिपि (प्रेस कापी) के आधार पर पुनः संशोधित हुआ। उसमें पुनः कुछ मौलिक परिवर्तन हुए। उद्धरणों के अनेक पते बढ़ाये गये। वैदिक यन्त्रालय से प्रकाशित उत्तरवर्ती संस्करण इसी २२वें संस्करण के अनुसार हैं।

पाठकों की सुगमता के लिये हम इस वर्गीकरण को चित्र द्वारा स्पष्ट करते हैं—

---

१. यह बारहवें संस्करण के पश्चात् और तेरहवें संस्करण से पूर्व सम्वत् १९८१ में छपा है।



इस चित्र के अनुसार संशोधकों द्वारा संस्कार विधि में ६ बार परिवर्तन हुआ है।

---

१. यह संस्करण हमारे छोटे आकार के द्वितीय संस्करण (संवत् २०२५) के पश्चात् छपा है।

यह तो हुआ पाठ-परिवर्तन के अनुसार वैदिक-यन्त्रालय के छपे संस्करणों का वर्गीकरण। अब हम परिवर्तित पाठों का वर्गीकरण करके उनका एक-एक उदाहरण उपस्थित करते हैं—

परिवर्तित पाठों का वर्गीकरण

उपर्युक्त संस्करणों में संस्कारविधि के पाठों में जो परिवर्तन हुए हैं, उन्हें निम्न विभागों में बांटा जा सकता है—

१—उद्धरणों के पते देनेवालों द्वारा परिवर्तन—ऋषि दयानन्द के मूल हस्तलिखित ग्रन्थ में तथा द्वितीय संस्करण में बहुत थोड़े से उद्धरणों के पते दिये गये थे। उसी के अनुसार ६ संस्करणों तक पाठ छपता रहा। ७वें संस्करण में प्रथम बार उन मन्त्रादि के पते देने का प्रयत्न किया गया, जिनका पता २–६ संस्करणों में नहीं दिया गया था। अतः प्रथम परिवर्तन का आरम्भ यहीं से हुआ। ऋषि दयानन्द ने संस्कारविधि में किस मन्त्र का कौनसा पाठ किस ग्रन्थ से उद्धृत किया है, इसके लिये विशेष प्रयत्न न करके पता देनेवाले महानुभावों ने जो भी मिलता-जुलता पाठ मिला, उसी के अनुसार मन्त्रादि का पाठ बदल कर पता दे दिया। यथा—

गृहाश्रमप्रकरण के आरम्भ में अथर्ववेद के २७ मन्त्र उद्धृत हैं। उनमें आरम्भ के दो ऐसे मन्त्र हैं, जिनमें प्रथम मन्त्र अक्षरशः और द्वितीय मन्त्र केवल अन्तिम पद के भेद से ऋग्वेद में भी मिलता है। ७वें संस्करण में इन मन्त्रों का पता लिखनेवाले महानुभाव ने इन दो मन्त्रों पर ऋग्वेद का पता लिख दिया। और द्वितीय मन्त्र के अथर्ववेद-अनुसारी अन्तिम पद **स्वस्तकौ** के स्थान पर ऋग्वेदीय **स्वे गृहे** पाठ बना दिया। परन्तु व्याख्या में कोष्ठान्तर्गत अथर्ववेदीय **(स्वस्तकौ)** पद ही बना रहने दिया, अर्थात् उसमें परिवर्तन करने की ओर ध्यान नहीं दिया। तदनुसार २१वें संस्करण तक मन्त्रपाठ में **स्वे गृहे** और व्याख्या में **(स्वस्तकौ)** पाठ छपता रहा। इतने सुदीर्घ काल में किसी भी संशोधक ने इसकी ओर ध्यान नहीं दिया। इस भूल की ओर स्वर्गीय श्री स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी का ध्यान गया, और उन्होंने २२ वें संस्करण के लिये शोधन की गई कापी में मन्त्रपाठ के अनुसार अर्थ में भी **(स्वस्तकौ)** को हटाकर **(स्वे गृहे)**

पाठ बना दिया। इस प्रकार उन्होंने अपनी दृष्टि से मन्त्र और व्याख्या में एकरूपता तो कर दी, परन्तु एक नया दोष उत्पन्न हो गया, जिसकी ओर उनका ध्यान ही नहीं गया। व्याख्या में 'उत्तम गृहवाले' अर्थ किया गया है (जिसे श्री स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी ने भी रहने दिया)। यह अर्थ **स्वस्तकौ** पद का है, न कि **स्वे गृहे** पदों का। इसके साथ ही यह भी ध्यान देने योग्य है कि उक्त पाठ के पूर्व में **क्रीडन्तौ** और पीछे '**मोदमानौ**' द्विवचनान्त पद और उनके अर्थ लिखे हैं। दोनों के बीच में '**स्वस्तकौ**' द्विवचनान्त पद और उसकी व्याख्या ही युक्त हैं, भिन्न विभक्तिवाले **स्वे गृहे** पदों और उनके अर्थों का सम्बन्ध कैसे हो सकता है? श्री स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी से यह भूल उनके संस्कृत-भाषा में व्युत्पन्न न होने के कारण हुई है। २४वें संस्करण में (जो हमारे संस्करण के बाद छपा) यह भूल ठीक की गई।

सातवें संस्करण के पश्चात् इस प्रकार के उद्धृत-पाठों में परिवर्तन १०वें संस्करण में पुनः हुए, और ऐसे परिवर्तन उत्तरोत्तर बढ़ते ही गये। इस प्रकार के परिवर्तनों के निदर्शनों के लिये हमने इस संस्करण में कतिपय टिप्पणियां दी हैं।

२—**मूलपाठ में परिवर्तन**—यद्यपि १७वें संस्करण तक भी कहीं-कहीं मूल पाठ में भेद उपलब्ध होता है, परन्तु वह बहुत साधारण है। मूल पाठ में भारी परिवर्तन अकस्मात् १८वें संस्करण में उपलब्ध होता है।

अठारहवें संस्करण में पाठ-परिवर्तन का कारण—१८वें संस्करण में किये पाठ-परिवर्तन को समझने के लिये द्वितीय संस्करण के मुद्रित पाठ की पृष्ठभूमि जाननी आवश्यक है। वह इस प्रकार है—

ऋषि दयानन्द ने संस्कारविधि के पुनः संशोधन की पाण्डुलिपि (रफ कापी) स्वर्गवास से पूर्व पूर्ण कर ली थी। और उसकी ४७ पृष्ठ की मुद्रणलिपि (प्रेस कापी) तैयार करके यन्त्रालय में भेज दी थी[1]। ऋषि दयानन्द के निर्वाण के अनन्तर पं० भीमसेन आदि

१. द्र०—ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन, पृष्ठ ४७१, ४८१ द्वितीय संस्करण, मुन्शी समर्थदान के नाम लिखे पत्र।

ने पाण्डुलिपि (रफ कापी) के आधार पर यथोचित संशोधन करके अवशिष्ट मुद्रणलिपि (प्रेस कापी) तैयार की।[1] ग्रन्थ के छपते समय भी उसमें अनेक उचित परिवर्तन हुये, जो कि स्वाभाविक थे। प्रत्येक विज्ञ लेखक जानता है कि प्रेस में उसके ग्रन्थ की जो कापी छापने के लिये दी जाती है, ग्रन्थ के छपने पर उसका अक्षरशः वही रूप नहीं रहता। यही स्थिति संस्कारविधि की प्रेस-कापी और उस से छपे द्वितीय संस्करण की हुई। इस कारण हस्तलिखित प्रेसकापी की अपेक्षा द्वितीय संस्करण का पाठ अधिक प्रामाणिक है। **ऐसा न मानने पर सत्यार्थप्रकाश द्वितीय संस्करण जहां तक ऋषि के जीवनकाल में छप गया था[2], और हस्तलेख से उसमें छपते समय जो-जो अन्तर कर दिया[3], वह भी अप्रामाणिक हो जायगा।** अतः सब दृष्टियों से हस्तलेख की अपेक्षा उसके आधार पर छपा हुआ परिष्कृत पाठ ही अधिक प्रामाणिक माना जाता है। हां, छपे संस्करण में प्रेस-संशोधकों की भूल से जहां पाठ छूट गया हो, वा भ्रष्ट हो गया हो, उतने मात्र का संशोधन हस्तलेख के प्रमाण से किया जा सकता है।

१८वें संस्करण के लिये संशोधन करते हुये स्व० श्री पंडित जयदेव जी ने[4] इस तथ्य की ओर ध्यान न देकर श्री दीवान बहादुर हरविलास जी, मन्त्री, परोपकारिणी सभा के आदेशानुसार प्रेस

---

१. द्र०—द्वि० सं० का मुख पृष्ठ—'ज्वालादत्तभीमसेनशर्मभ्यां संशोधितः'।

२. ऋषि के स्वर्गवास से दो मास पूर्व तक ३२० पृष्ठ छप चुके थे (द्र०—म० मुन्शीराम संपादित पत्रव्य० पृ० ४७०-४७२)। अतः निर्वाण तक लगभग १२ समुल्लास छप गये होंगे।

३. द्र०—म० मुन्शीराम संपादित पत्रव्यवहार पृष्ठ ४७०-४७२, मुन्शी समर्थदान का ऋषि दयानन्द के नाम पत्र। मुन्शी समर्थदान को स० प्र० छपतें समय भाषादि में संशोधन करने का अधिकार ऋषि दयानन्द ने दिया था। द्र०—ऋषि दया० के पत्र और विज्ञापन, पृष्ठ ३६५, ४५५ (सं० २) पर मुन्शी समर्थदान के नाम पत्र।

४. अठारहवां संस्करण पं० जयदेव जी द्वारा संशोधित है। यह उन्होंने अपने एक पत्र में स्वीकार किया था।

कापी के अनुरूप पाठ बनाकर १८वां संस्करण छपवा दिया। इस कारण यह संस्करण पूर्व संस्करणों से अत्यधिक भिन्न हो गया। इतना ही नहीं, कई स्थानों पर पाठ विसंगत हो गये, और कई स्थानों पर ऋषि दयानन्द के अन्य ग्रन्थों के पाठों से विरोध भी उत्पन्न हो गया। यथा—

विसङ्गत पाठ—विसङ्गत पाठ का एक उदाहरण **'प्रजापते न त्वदेता०'** मन्त्र की व्याख्या से उपस्थित करते हैं—

पूर्व पाठ	१८वें संस्करण का पाठ
......(ता) उन (एतानि) इन (विश्वा) सब (जातानि) उत्पन्न हुए जड़ चेतनादिकों को (न) नहीं (परि,बभूव) तिरस्कार करता है। ......[1]	......(ता) उन (एतानि) इन (विश्वा) सब (जातानि) उत्पन्न हुए भूगोलादि जगत् का बनानेहारा और (परि ता) व्यापक (न) नहीं (बभूव) है (ते) उस आप के भक्ति करने हारे हम जड़ चेतनादिकों को (न)नहीं (परि, बभूव) तिरस्कार करता है।......

इस १८वें संस्करण के पाठ की विसङ्गतता इसी से स्पष्ट है कि उसमें मन्त्रगत 'ता परि न बभूव ते' इन पांच पदों तथा उनके अर्थों की पुनरुक्तता है। इतना ही नहीं, परि का सम्बन्ध एक बार ता से बताया है, और दूसरी बार बभूव से।

परिवर्तित पाठ का अन्य ग्रन्थों से विरोध—परिवर्तित पाठ का ऋषि दयानन्द के अन्य ग्रन्थों से भी विरोध कई स्थलों पर उपलब्ध होता है। कहीं-कहीं तो संस्कारविधि में ही पूर्वापर-विरोध हो गया है। इसके लिये हम नामकरण संस्कार में नीचे टिप्पणीस्थ नक्षत्रवृक्ष० श्लोक की व्याख्या से एक पाठ उद्धृत करते हैं—

पूर्व पाठ	१८वें संस्करण का पाठ
...... (वृक्ष) चम्पा तुलसी इत्यादि	(वृक्ष) आम्रा अश्वत्था बदरी इत्यादि ....
(पक्षी) कोकिला हंसा इत्यादि[2]	(पक्षी) श्येनी काकी इत्यादि ...।

१. हमारा संस्करण पृष्ठ १०

२. हमारा संस्करण पृष्ठ ८६।

सत्यार्थप्रकाश के चौथे समुल्लास में उक्त श्लोक की व्याख्या में इस प्रकार पाठ मिलता है—

…. तुलसिया, गेंदा, गुलाबी चम्पा, चमेली आदि वृक्ष नामवाली …. कोकिला, मैना आदि पक्षी नामवाली ….।

सत्यार्थप्रकाश का पाठ संस्कारविधि के पूर्व पाठ से ही साम्य रखता है, न कि १८वें संस्करण के परिवर्तित पाठ से। यह हस्तामलकवत् स्पष्ट है।

पूर्वापर-विरोध—१८वें संस्करण के परिवर्तित पाठ का स्व-ग्रन्थ के पाठ से भी विरोध हो गया है। उक्त नर्क्षवृक्ष० श्लोक विवाह प्रकरण में पुनः व्याख्यात है। उसका पाठ १८वें संस्करण में ही इस प्रकार छपा है—

(पक्षी) पक्षी अर्थात् कोकिला हंसा इत्यादि।[1]

इस प्रसङ्ग में (वृक्ष) पद की व्याख्या त्रुटित है, अन्यथा उस से भी विरोध प्रकट हो जाता।

टिप्पणियों में परिवर्धन-परिवर्तन—तीसरा परिवर्तन शताब्दी संस्करण और उसके अनुसार छपे संस्करणों की टिप्पणियों का उस से पूर्व तथा १८वें संस्करण की टिप्पणियों से दिखाई देता है। हम पूर्व लिख चुके हैं कि शताब्दी-संस्करण में मूल ग्रन्थकार की टिप्पणियों के अतिरिक्त लगभग ३० टिप्पणियां बढ़ाई गयी हैं। और १८वें संस्करण में उनमें से कुछ टिप्पणियां मूल पाठ में परिवर्तन करके हटा दीं, और कुछ नई जोड़ दी गईं।

अन्य अक्षम्य भूलें

उपर्युक्त परिवर्तनों के अतिरिक्त इन संस्करणों में अन्य अनेक प्रकार की अक्षम्य भूलें हैं। यथा—

१. उद्धरणों के अशुद्ध पते देना—संस्कारविधि में अनेक उद्धरणों के पते अशुद्ध दिये गये हैं। यथा—नामकरण संस्कार में "भद्रं कर्णेभि०:" मन्त्र का पाठ यजुर्वेदीय होने पर भी उस पर पता ऋग्वेद का दिया गया। और इसी ऋग्वेद के पते से व्यामुग्ध होकर उत्तरवर्ती संस्करणों में यजुर्वेदीय ँकार हटाकर अनुस्वार कर दिया

१. हमारा संस्करण पृष्ठ १५६।

गया। पुनरपि मन्त्र में आजतक उपलब्ध **व्यशेमहि** पाठ उच्चैः घोष कर रहा है कि मेरा पाठ यजुर्वेदीय है ऋग्वेदीय नहीं, जैसा कि मेरे सम्बन्ध में पता छापा जा रहा है (ऋग्वेद का पाठ—**व्यशेम** है, यजुर्वेद का **व्यशेमहि**)। इस मन्त्र पर ऋग्वेद का पता देने पर भी आज तक **व्यशेमहि** याजुष पाठ ही छप रहा है।

ऐसे ही एक और भयानक दोष की ओर संकेत कर देना उचित होगा। **'यदस्य कर्मणो'०** मन्त्र पर पता 'शतपथ कं० (कां०) १४।९। ४।२४' छप रहा है। २२वें संस्करण में 'पा० १।२।१०' पता और बढ़ाया गया है। शतपथ में इस मन्त्र का पाठ बहुत भिन्न है, फिर भी इस मन्त्र पर आंख मींच कर शतपथ का पता दे दिया गया (पारस्कर में तो प्रतीकमात्र ही है)। इसी अशुद्ध पते से भ्रान्त होकर श्री पं० ठाकुरदत्त जी अमृतधारा ने कई बार (लाहौर में रहते हुए तथा उसके पश्चात् भी) आर्य पत्रों में लेख छपवाये कि **'यदस्य कर्मणो'०** मन्त्र का पाठ अशुद्ध छप रहा है, उसे शुद्ध कर देना चाहिये। वस्तुतः मन्त्रपाठ ठीक है, उसका यथार्थ पता न देने से ही श्री पं० ठाकुरदत्तजी को भ्रान्ति हुई थी। इस संस्करण में ऐसे सभी अशुद्ध पतों का शोधन कर दिया है। विशिष्ट पाठों पर यथास्थान टिप्पणियां भी दी गई हैं।

संशोधनपत्र के अनुसार पाठ को शुद्ध न करना—द्वितीय संस्करण के अन्त में दिये गये संशोधनपत्र के अनुसार अन्तिम संस्करण तक संशोधन न होना, अर्थात् अशुद्ध पाठ का छपते रहना। यथा—

पृ०	पं०	अशुद्ध पाठ	शुद्ध पाठ
७३	१८	मे सविता	मे देवः सविता
७३	२२	वाक् म	वाक् च म
९४	१	वाङ्म)	वाक् च म)
१०७	१२	ऋतमग्ने	ऋतमग्रे

यह संशोधन द्वितीय संस्करण के अन्त में छपे संशोधनपत्र में दर्शाया हुआ है। इसमें पृष्ठ पंक्ति द्वितीय संस्करण की दी हैं।

इनमें से प्रथम अशुद्धि १२वें संस्करण तक रही, उसके बाद शताब्दी-संस्करण में शोधी गई। दूसरी अशुद्धि १८वें संस्करण में ठीक

की गई। शेष अशुद्धियां वर्तमान २४ संस्करण तक छप रही हैं। २४वें संस्करण की पृष्ठ पङ्क्ति सख्या इस प्रकार है—

वाङ् म—पृष्ठ ११७, पं० ३। **ऋतमग्ने**—पृष्ठ १३४, पं० ५। ये दोनों अशुद्धियां २५ वें संस्करण में ठीक की गईं।

द्वितीय संस्करणस्थ संशोधनपत्रानुसार उत्तर संस्करण में पाठ शोधन न करने का फल यहां तक हुआ कि अशुद्ध पाठ के विषय में कई स्थानों पर टिप्पणियां दी गई कि अमुक संस्करण में यह पाठ है। यथा—

विवाह-प्रकरण में '**इमाँल्लाजान्**०' मन्त्र में द्वितीय संस्क० में **संवननं** के स्थान में **संवदनं** छप गया था। उसका संशोधनपत्र में संशोधन कर दिया, परन्तु शताब्दी संस्करण में मूल पाठ में **संवदनं** पाठ छाप कर टिप्पणी दी है—"सं० १९३३ की संस्कारविधि में **संवननं** पाठ हैं"। १८वें संस्करण में मूल में **संवननं** पाठ छापकर टिप्पणी दी गई—"संस्कारविधि के कई संस्करणों में 'संवदनं भी पाठ है।"

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि द्वितीय संस्करण के पश्चात् संशोधन करनेवाले महानुभाव अत्यन्त असावधान थे। उन्होंने द्वि० संस्करणस्थ संशोधन-पत्र को देखने का भी कष्ट नहीं किया।

केवल द्वितीय संस्करण के संशोधनपत्र को नहीं देखा गया ऐसी ही बात नहीं है, अपितु उत्तरवर्ती संस्करणों में दिये गये संशोधन-पत्रों पर भी ध्यान नहीं दिया गया। संशोधनपत्रों में ठीक किये गये अशुद्ध पाठ जो आगे छपते रहे, उनमें से कतिपय पाठों का संकेत हमने यथास्थान टिप्पणी में किया है। यथा—पृष्ठ ६०, २०५, २०७।

एक और भयानक प्रमाद—ऐसे ही एक भयानक प्रमाद का और उदाहरण देखिये। शताब्दी-संस्करण से लेकर आज तक संन्यास-प्रकरण के **यो विद्यात्**० और **सामानि यस्य**० मन्त्रों के नीचे टिप्पणी छप रही है—"(१) और (२) मन्त्रों के हिन्दी **अर्थ संवत्** १९४१ की छपी संस्कारविधि में नहीं हैं"।

हम पाठकों से निवेदन करेंगे कि वे संस्कारविधि के संवत् १९४१ के द्वितीय संस्करण में पृष्ठ २०८ के नीचे देखें कि उक्त दोनों मन्त्रों के अर्थ छपे हुये हैं या नहीं ? इतना ही नहीं, इस महती भूल की ओर हम सन् १९५० में अपने 'ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का

इतिहास' ग्रन्थ के पृष्ठ ८१ पर सूचना दे चुके थे, पुनरपि सन् १९५० के पीछे सन् १९५२ आदि के छपे संस्करणों में उक्त टिप्पणी छप रही है। समझ में नहीं आता कि शताब्दी संस्करण के सम्पादक महोदय ने उक्त टिप्पणी कैसे लिख दी ? इस टिप्पणी पर १८वें तथा २२वें संस्करण के संशोधक ने भी कोई ध्यान नहीं दिया। यह भी अशुद्धि २५वें संस्करण में दूर की गई।

२५वें संस्करण की लीला

वैदिक यन्त्रालय का २५ वां संस्करण हमारे संवत् २०२५ में छपे द्वितीय संस्करण के पश्चात् छपा है। इस संस्करण में हमारे संस्करण के अनुसार बहुत से पाठ शुद्ध किये गये हैं, पुनरपि इसमें बहुत से पाठ अभी तक मूल पाठ के विपरीत छप रहे हैं। इनकी सूची देकर हम अपने वक्तव्य का कलेवर बढ़ाना उचित न जानकर संकेत-मात्र कर रहे हैं। हमारे द्वारा सर्वत्र शुद्ध मूल पाठ देने पर भी वैदिक यन्त्रालय के सशोधक पं० धर्मचन्द कोठारी ने उन पर पूरा ध्यान नहीं दिया, और बदले हुये पाठ ही छपवाये।

नया प्रक्षेप—२५वें संस्करण में वैदिक यन्त्रालय के संशोधक महोदय ने एक नया प्रक्षेप संस्कारविधि में किया। उन्होंने स्वस्ति-वाचन एवं शान्तिकरण के जो मन्त्र ऋषि दयानन्द ने अपने वेदभाष्य में भिन्न प्रक्रिया में व्याख्यात किये हैं, उन मन्त्रों का वह अर्थ नीचे छाप दिया। स्वस्तिवाचन और शान्तिकरण प्रकरण प्रकृत ग्रन्थ में प्रार्थनापरक हैं, इस पर उन्होंने ध्यान ही नहीं दिया। मेरे द्वारा और श्री पं० विश्वश्रवाः जी के समझाने पर भी वे न समझ सके, अपना हठ प्रदर्शित किया। इतना ही नहीं, वेदभाष्य से उद्धृत मन्त्रार्थ के नीचे अथवा अन्यत्र कहीं पर यह सूचना भी नहीं दी कि 'ये मन्त्रार्थ मूल ग्रन्थ (संस्कारविधि) में नहीं हैं, हम ऋ० द० के वेद-भाष्य से उद्धृत कर रहे हैं'। उक्त प्रकार का संकेत न देने से सभी पाठक यह समझेंगे कि ये मन्त्रार्थ संस्कारविधि के ही अंग हैं (जो २४वें संस्करण तक नहीं छपे, अब छापे गये हैं)। इस प्रकार का भ्रम जनता में उत्पन्न करना कहां तक न्याय्य है, इस पर पाठक स्वयं विचार करें। हमारे लिखने का इतना ही प्रयोजन है कि व० यं० के

संस्करणों में जो नित्य नये प्रक्षेप वा पाठ परिवर्तन हो रहे हैं, उनसे ऋ० द० के ग्रन्थों का मूल स्वरूप ही नष्ट हो रहा है। इस ओर परोपकारिणी सभा ने कभी गम्भीरता से ध्यान नहीं दिया।

यह है परोपकारिणी सभा द्वारा ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों के साथ वर्ता जानेवाला प्रमाद। इतने भारी प्रमादों से छापे गये ग्रन्थों पर भी परोपकारिणी सभा अपने संस्करणों की प्रामाणिकता का ढोल पीटती है। और प्रायः सभी ग्रन्थों पर यह आशय छापती है कि परोपकारिणी सभा द्वारा प्रकाशित संस्करण ही प्रामाणिक हैं।

हमारा संस्करण

हमने रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित होनेवाले संस्कार-विधि के प्रथम संस्करण में ही वैदिक यन्त्रालय मुद्रित संस्करणों के सभी दोषों का परिमार्जन करने का पूरा-पूरा प्रयत्न किया है। हम ने रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा प्रकाश्यमान संस्करण को तैयार करने के लिये निम्नलिखित कार्य किये हैं—

१—सन् १९३५ में हस्तलेख की पाण्डुलिपि (रफ कापी) वा प्रेसकापी से मिलान करके रखी हुई प्रति से मिलान।

२—प्रमुख संस्करणों (जिनमें पाठभेद हुए हैं) से पाठों की तुलना।

३—उद्धरणों को मूल ग्रन्थों से पूरी तरह मिलान करके ठीक शुद्ध पतें देने का प्रयास।

४—जिन ग्रन्थों के उद्धरण दिये गये हैं, उनके यदि एक से अधिक संस्करण छपे हैं, तो यथासम्भव सभी संस्करणों को देखने का प्रयास कियां है।

५—जिन उद्धरणों के पते द्वि० संस्करण में नहीं दिये गये थे, और पीछे से संशोधकों ने दिये, उनके पते हमने नीचे टिप्पणी में दिये हैं। इस प्रकार हमने द्वि० संस्करण के पाठ को पूर्ण रूप में सुरक्षित रखने का प्रयास किया है।

हमारे संस्करण का मूल आदर्श

हमारे संस्करण का मूल आदर्श द्वितीय संस्करण है। उसमें कतिपय मुद्रण दोष की अशुद्धियों का शोधन तृतीय संस्करण से

स्वीकार किया है। हस्तलेखों का पाठ केवल उन्हीं २-४ स्थानों पर स्वीकार किया है, जहां हस्तलेख का पाठ वस्तुतः शुद्ध था। ऐसे स्थानों पर हमने नीचे टिप्पणी दे दी है। यथा पृष्ठ २१ टि० १, पृष्ठ ५७ टि० १। इस प्रकार हमारा संस्करण कतिपय स्थलों को छोड़कर द्वितीय संस्करण का ही अक्षरशः अनुसरण करता है।

एक विशेष स्थल – केवल एक स्थल ऐसा है, जहां द्वितीय संस्करण में उद्धृत मन्त्रपाठ को मुद्रित आकर ग्रन्थ के पाठ के अनुसार शुद्ध करना पड़ा। वह स्थल है—सीमन्तोन्नयन संस्कार में राकामहं से लेकर अगले मन्त्रों का पाठ। इस स्थल पर यह विषय पृष्ठ ६६ टिप्पणी १ में स्पष्ट कर दिया है।

उदधृत पाठ की रक्षा–जहां पर उद्धृत पाठ वर्तमान में छपे ग्रन्थों में पाठभेद से मिलते हैं, उन्हें मूलवत् ही रखा है, और वर्तमान पाठ टिप्पणी में दर्शाया है[1]। उद्धरणों के पते देते समय भी इस बात का पूरा ध्यान रखा है कि जिस आकर ग्रन्थ के एक से अधिक संस्करण छपे मिले हैं, उनमें से जिस संस्करण में संस्कारविधिस्थ पाठ मिलता है, उसका निर्देश कर दिया है। यथा स्वस्तिवाचन में **त्वमग्ने यज्ञानाँ᳒ होता॰** इस साममन्त्र में ᳒कार किसी संस्करण में मिलता है, किसी में नहीं मिलता। इसी प्रकार साममन्त्रब्राह्मण के जो भी पाठ ऋषि दयानन्द ने दिये हैं, उनमें ᳒कार का निर्देश मिलता है। यह पाठ सत्यव्रत सामश्रमी के संस्करण में देखा जाता है। कलकत्ते से अभिनव छपे व्याख्याद्वय-सहित संस्करण में ᳒ के स्थान पर अनुस्वार का पाठ मिलता है।

अन्य कार्य –इस संस्करण में टिप्पणियों में कई विषयों का स्पष्टीकरण किया है। संस्कार करानेवालों की सुविधा के लिये कई स्थानों पर टिप्पणियां दी हैं। अपनी टिप्पणियों की ऋषि दयानन्द की टिप्पणियों से भिन्नता का ज्ञान कराने के लिये ऋषि दयानन्द की टिप्पणियों पर द०स॰ ऐसा संकेत किया है।

उत्तरवर्ती पाठान्तरों की उपेक्षा –यतः वै. यं. के छपे उत्तरवर्ती पाठान्तरों का सम्बन्ध ऋषि दयानन्द से नहीं है, वे वैदिक यन्त्रालय

---

१. वेदों के मन्त्रपाठ में पाठ-शुद्धि का विशेष ध्यान रखा है।

के शोधकों की मूर्खता वा प्रमाद के कारण हुये हैं, अतः उनका निर्देश हमने इस संस्करण में नहीं किया है। हमने तो ऋषि दयानन्द के मूल पाठ को ही यथापूर्व व्यवस्थित करने का मुख्य प्रयास किया है।

इतनी सावधानता वर्तने पर भी जो भूल रही, उसे द्वि० सं० मे पुनः मिलाकर शुद्ध कर दिया। इतना प्रयास करने पर भी यदि कोई भूल रही प्रतीत होगी, अथवा कोई स्वाध्यायशील व्यक्ति सुझाएंगे, तो उसे आगामी संस्करण में सुधार दिया जाएगा।

संस्कारविधि पर विशेष कार्य की आवश्यकता

ऋषि दयानन्द ने संस्कारविधि की रचना प्राचीन विविध आर्ष गृह्यसूत्रों के आधार पर की है, और उसकी रचना में भी आर्ष शैली ही अपनाई है। इसलिये इसकी व्यवस्था को समझने में अनार्ष पद्धति से पढ़े लिखे लोगों को अनेक स्थानों पर प्रक्रियागत भूलें प्रतीत होती हैं। साधारणजन तो यथालिखित पाठ के अनुसार ही कर्मकाण्ड करा लेते हैं, उन्हें व्यवस्थित करना आता ही नहीं। यथा आचमन-क्रिया का विधान अग्न्याधान से पूर्व किया गया है, परन्तु कर्मकाण्डीय पद्धति के अनुसार प्रार्थनामन्त्रों से पूर्व आचमन करना चाहिये। क्योंकि विना आचमन के कोई भी कार्य आरम्भ नहीं किया जाता है। कर्मकाण्ड का नियम है—**आचान्तेन कर्म कर्तव्यम्**। ऐसे आगे-पीछे लिखे गये कर्म की व्यवस्था के लिये प्राचीन आचार्यों का नियम है– **पाठक्रमाद् अर्थक्रमो बलीयान्**। अर्थात् ग्रन्थ में लिखे गये पाठक्रम की अपेक्षा अर्थ = प्रयोजन का क्रम बलवान् होता है।

ऐसे ही नियम का ज्ञान न होने से **यदस्य कर्मणो०** मन्त्र से दी जानेवाली स्विष्टकृत् आहुति संस्कारविधि मे जहां लिखी है, प्रायः वहीं दे दी जाती है, जब कि मन्त्रार्थ-सामर्थ्य से उसका विधान प्रधान याग के पश्चात् होना चाहिये। इसी प्रकार स्विष्टकृत् आहुति उसी द्रव्य से दी जानी चाहिये, जिससे प्रधान याग किया जाता है। चाहे वह द्रव्य आज्य हो, वा भात वा खिचड़ी वा अन्य शाकल्य (जो जिस कर्म में विहित है)। परन्तु आर्यसमाज में एक भ्रमपूर्ण परम्परा चल गई है कि स्विष्टकृत् आहुति मिष्टान्न द्वारा ही देनी चाहिये। इसलिये उसके अभाव में चीनी या गुड़ से भी दी जाती है।

ऐसे सभी कर्मकाण्डीय प्रकरणों की स्पष्टता के लिये कर्मकाण्डीय श्रौत गृह्य और मीमांसा आदि प्राचीन आर्ष ग्रन्थों के अनुसार व्याख्या की अत्यन्त आवश्यकता है। इस प्रकार का कार्य करने की मेरी इच्छा भी है, परन्तु यह महत्त्वपूर्ण कार्य हो सकेगा वा नहीं, यह सब भविष्य के गर्भ में निहित है।

उपसंहार

आर्यसमाज के विद्वानों तथा कर्मकाण्ड में प्रवीण महानुभावों से निवेदन है कि इस संस्करण में जहां-कहीं ऐसी भूल प्रतीत हो, जो मुद्रण आदि दोषजन्य हो, उसे दर्शाने का कष्ट करें, जिससे अगले संस्करण में उसे सुधारा जा सके।

संस्कारविधि में ऐसे अनेक स्थल हैं, जो साधारण पुरोहितों के लिये अस्पष्ट हैं। दो-चार स्थल ऐसे भी हैं, जहां परस्पर विरोध प्रतीत होता है[1]। कुछ स्थान ऐसे भी हैं, जहां कर्मकाण्डीय व्यवस्था के अनुसार विशिष्ट ज्ञापन अपेक्षित है। इन सब विषयों पर इस संस्करण में कोई प्रकाश नहीं डाला गया है, क्योंकि यह एक स्वतन्त्र कार्य है। इस संस्करण में तो केवल संस्कारविधि का प्रामाणिक पाठ उपस्थित करने का प्रयत्न किया है, जो वै०यं०के द्वितीय संस्करण में विद्यमान है, अथवा साधारण परिवर्तनों के होने पर भी ९० प्रतिशत १७वें संस्करण तक सुरक्षित रहा है। अठारहवें संस्करण में संशोधन के नाम पर अचानक बहुसंख्या में परिवर्तित पाठों तथा २२वें संस्करण में पुनः संशोधन के नाम पर भ्रष्ट किये गये अपपाठों को दूर करने का इस संस्करण में पूरा प्रयत्न किया गया है। २५वें संस्करण में पुनः पाठ बदले गये, और स्वस्तिवाचन और शान्तिकरण के कुछ मन्त्रों के अर्थों का प्रक्षेप किया गया। उन पर भी पूरा ध्यान दिया गया, और ग्रन्थ के मूलपाठ को सुरक्षित रखा गया है।

रा० ला० कपूर ट्रस्ट द्वारा पूर्व प्रकाशित लघु संस्करण के तैयार करने में हमारे पाणिनि-महाविद्यालय तथा अन्य कार्यों को पूरे परिश्रम और योग्यतापूर्वक व्यवस्थितरूप से यथापूर्व चालू रखने में मेरे सहयोगी श्री पं० विजयपालजी ने बहुत श्रम किया है। द्वितीय संस्करण

---

१. इस प्रकार के विरोधों के समाधान के लिये इस संस्करण का प्रथम परिशिष्ट देखें। इस परिशिष्ट में कुछ अन्य विषयों पर भी प्रकाश डाला है।

से मिलान और ग्रन्थ में उद्धृत वचनों का तत्तद् ग्रन्थों से मिलान और यथार्थ पतों का अन्वेषण सम्बन्धी क्लिष्ट कार्य उन्होंने ही सम्पन्न किया था।

प्रस्तुत आर्यसमाज शताब्दी संस्करण से पूर्व हम संस्कारविधि के २०×३० सोलह पेजी आकार में तीन संस्करण छाप चुके हैं। प्रस्तुत संस्करण में ग्रन्थ का जो मूल पाठ तथा टिप्पणियां छपी हैं, वे पूर्व लघु संस्करणों के अनुसार ही हैं। हमारे पूर्व मुद्रित संस्करणों का जहां आर्य जनता ने उदार हृदय से स्वागत किया, वहां कतिपय ऐसे व्यक्ति भी समाज में निकले, जिन्हें अत्यन्त परिश्रम से किये गये उक्त कार्य से प्रसन्नता नहीं हुई। उन्हीं में से एक श्री पं० सुदर्शन देव जी हैं। इन्होंने 'आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट देहली' से प्रकाशित संस्कारविधि के द्वितीय संस्करण के प्रतिकृति-संस्करण (फोटो कापी) के प्राक्कथन में ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित संस्करण की शत-प्रतिशत तथ्य-हीन आलोचना की है। उसका विस्तृत उत्तर हम वेदवाणी वर्ष २० अङ्क ४ (फरवरी १९६८) में प्रकाशित कर चुके हैं। जो पाठक देखना चाहें, वे उस अङ्क में देखें। श्री पण्डित जी की तथ्यहीन और छल-प्रपञ्च-पूर्ण आलोचना के निदर्शनार्थ एक अंश हम यहां भी उपस्थित करते हैं। पं० सुदर्शनदेवजी प्राक्कथन पृष्ठ ७ पर लिखते हैं—

"पृष्ठ २४, टि० ५ में पण्डितजी लिखते हैं—'पञ्चमहायज्ञविधि, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका और सत्यार्थप्रकाश में यज्ञपात्रों के प्रसङ्ग में सोने (के पात्र) का भी निर्देश है'। अत: पण्डितजी ने मूलपाठ में सोना और बढ़ा दिया है, किन्तु पण्डितजी ने यह ध्यान नहीं किया कि यहां पर ऋषि ने 'विशेषकर चांदी अथवा काष्ठ के पात्र' ऐसा लिखा है। यहां संस्कारविधि में 'विशेष' शब्द और है, जो अन्य पुस्तकों में नहीं है। 'सोना' हस्तलेख में भी नहीं है, फिर कैसे बढ़ाया?"

श्री पण्डित सुदर्शनदेवजी ने हमारा पाठ उद्धृत करते हुए छल से काम लिया है। हमारी पूरी टिप्पणी उद्धृत नहीं की। टिप्पणी का "सोना क ख. हस्तलेखों में है और आवश्यक है" इतना आरम्भिक अंश छोड़ दिया। यदि वे इतना अंश न छोड़ते, तो न वे छल कर

सकते थे, और न "सोना हस्तलेख में भी नहीं है फिर कैसे बढ़ाया" यह आक्षेप करने का उन्हें अवकाश ही रहता। इतना ही नहीं, पण्डित जी को ऋषि के किसी भी ग्रन्थ का अभ्यास नहीं, अन्यथा वे ऐसी अयुक्त आलोचना न करते। संस्कारविधि में भी आगे पृष्ठ ३६ (द्वि० सं० ३७) पर 'सोने' के पात्रों का निर्देश ऋषि ने किया है। उनका पाठ है—"…शाकल्य जो यथावत् विधि से बनाया गया हो सुवर्ण, चांदी, कांसा आदि धातु के पात्र ··।" अतः स्पष्ट है कि क. ख. दोनों हस्तलेखों में विद्यमान 'सोने' पद मुद्रण-प्रमाद से द्वि० सं० में छूट गया था। हमने उसे हस्तलेख और ऋषि के अन्यत्र के लेखों के आधार पर पूर्ण किया है।

श्री पण्डित सुदर्शनदेवजी ने जिस प्रकार यहां हमारी आधी टिप्पणी देकर तथा आधी न देकर छल करके उलटा हम पर आक्षेप किया है, ठीक इसी प्रकार उन्होंने अपने प्राक्कथन के ३१ पृष्ठों में हमारे लघु संस्करण के प्रथम संस्करण की मिथ्या आलोचना की है। विज्ञ पुरुषों के लिये एक ही उदाहरण पर्याप्त है। हमें आश्चर्य तो इस बात का है कि श्री पं० वाचस्पतिजी शास्त्री और श्री पं० सत्यपालजी शास्त्री एम० ए० ने भी बिना विचारे, कैसे हमारे संस्करण के विरुद्ध सम्मति देदी ?

इस संस्करण में हमने पूर्व लघु मुद्रित संस्करणों में रहे मुद्रण दोषों को दूर करके, तथा ९-१० प्रकार के परिशिष्ट वा सूचियां देकर पूर्व प्रकाशित लघु संस्करणों की अपेक्षा इसे अधिक शुद्ध और सुन्दर छापने का प्रयत्न किया है। आशा है आर्य जनता ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित इस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण संस्करण को भी सत्यार्थ-प्रकाश के विशिष्ट संस्करण के समान ही अपनायेगी।

विदुषां वशंवदः—
युधिष्ठिर मीमांसक

संस्कारविधि का ऐतिहासिक विवरण

प्राचीन ऋषियों ने मनुष्य-जन्म को सुसंस्कृत बनाने के लिये बहुविध संस्कारों की योजना की है। मनुस्मृति के 'निषेकादिश्मशानान्तः' (२।१६) वचन के अनुसार गृह्यसूत्रों में गर्भाधान से मृत्युपर्यन्त करने योग्य अनेकविधि संस्कारों के क्रियाकलाप का सविस्तर वर्णन मिलता है। उपलब्ध गृह्यसूत्रों में इन संस्कारों की संख्या न्यूनाधिक है। इसी प्रकार संस्कारों की क्रियाकलाप में भी कुछ-कुछ भिन्नता है। मनुस्मृति और बौधायनादि अन्य धर्मसूत्रों में भी संस्कारों का वर्णन मिलता है। संस्कारों की संख्या अधिक से अधिक ४८ अड़तालीस और न्यून से न्यून १६ सोलह है।

गृह्यसूत्रों में वानप्रस्थ और संन्यास का वर्णन नहीं मिलता,[1] क्योंकि उनमें केवल उन्हीं संस्कारकर्मों का विधान है, जो गृह्याग्नि (=आवसथ्याग्नि) में किये जाते हैं, अतएव उनका नाम गृह्यसूत्र है।

ऋषि दयानन्द ने विभिन्न गृह्यसूत्रों और मनुस्मृति के आधार पर अत्यन्त उपयोगी १६ संस्कारों के क्रियाकलाप का वर्णन इस 'संस्कारविधि' संज्ञक ग्रन्थ में किया है।

संस्कारविधि बनाने का विचार

सम्भवतः स्वामी जी महाराज को सत्यार्थप्रकाश के लेखनकाल में संस्कार-विषयक ग्रन्थ लिखने का विचार उत्पन्न हुआ होगा। क्योंकि संस्कारविधि का लिखना प्रारम्भ करने से ८, ९ मास पूर्व के पत्रों में इस ग्रन्थ के बनाने का निर्देश मिलता है। यथा—

स्वामी जी ने फाल्गुन बदि २ सोमवार संवत् १९३१ (२२ फरवरी १८७५) को एक पत्र श्री गोपालराव हरिदेशमुख के नाम लिखा था। उसमें लिखा है—

---

१. हमारे द्वारा दृष्ट गृह्यसूत्रों में केवल आग्निवेश्य गृह्यसूत्र के द्वितीय प्रश्न के अन्त (पृष्ठ ११८—१२०) में इनका वर्णन उपलब्ध होता है।

"यहां निषेकादि अन्त्येष्टि पर्यन्त संस्कार की चोपड़ी (=पुस्तक) बनाने की तय्यारी हो रही है।" ऋ० द० के पत्र और विज्ञापन पृष्ठ २५ (द्वि० सं०)।

दूसरे पत्र में पुनः लिखा है---

"संस्कारविधि का पुस्तक वेदमन्त्रों से बनेगा शीघ्र।"

ऋ० द० के पत्र और विज्ञापन पृष्ठ २७ (द्वि० सं०)।

तीसरे पत्र में फिर लिखा है---

"आगे संस्कारविधि का पुस्तक भी शीघ्र बनेगा।"

ऋ० द० के पत्र और विज्ञापन पृष्ठ २८ (द्वि० सं०)।

चौथे पत्र में आश्विन बदि २ संवत् १९३२ को लिखा है---

'एक पण्डित का खोज हो रहा है, संस्कार का पुस्तक बनवाने के लिये।" ऋ० द० के पत्र और विज्ञापन पृष्ठ ३० (द्वि० सं०)।

ये सब पत्र संस्कारविधि के आरम्भ करने से पूर्व के हैं।

संस्कारविधि के प्रथम संस्करण का रचनाकाल

संस्कारविधि का लिखना कब और कहां आरम्भ हुआ, इस विषय में जीवनचरित्रों में पर्याप्त भेद है। 'दयानन्द-प्रकाश' में प्रथम बार बम्बई पधारने के वर्णन में लिखा है—

"संस्कारविधि उस समय लिखी जा रही थी।"

द० प्र० पृष्ठ२४१, सं० ५।

स्वामी जी महाराज बम्बई प्रथम बार कार्तिक कृष्णा १ सं० १९३१(२६ अक्टूबर १८७४)में पधारे थे, और अगहन कृष्णा ८ सं० १९३१ (१ दिसम्बर १८७४) तक उन्होंने वहां निवास किया था। अतः दयानन्दप्रकाश के लेखानुसार संस्कारविधि का लेखन कार्तिक में प्रारम्भ हुआ होगा।

पं० देवेन्द्रनाथ संगृहीत जीवनचरित्र पृष्ठ ३०४ (संस्करण १) में लिखा है—

"सूरतवास के शेष दिनों में स्वामी जी इसी (नगीनदास के) बंगले में ठहरे रहे, और यहां ही उन्होंने पं० कृष्णराम इच्छाराम से संस्कारविधि लिखाना प्रारम्भ की थी।"

इस लेख के अनुसार संस्कारविधि का प्रारम्भ अगहन संवत् १९३१ में हुआ होगा।

वस्तुतः संस्कारविधि के प्रारम्भ करने के ये दोनों मत अयुक्त हैं। महर्षि ने स्वयं संस्कारविधि का रचनाकाल ग्रन्थ के आरम्भ में इस प्रकार लिखा है—

चक्षूरामाङ्कचन्द्रेऽब्दे कार्तिकस्यान्तिमे दले।
अमायां शनिवारेऽयं ग्रन्थारम्भः कृतो मया॥

अर्थात् सवत् १९३२ कार्तिक अमावस्या शनिवार के दिन संस्कारविधि का लिखना आरम्भ किया गया।

उक्त श्लोक के पाठ में परिवर्तन

संस्कारविधि के प्रथम संस्करण में यही शुद्ध पाठ है, परन्तु संस्कारविधि के द्वितीय संस्करण से लेकर २१वें संस्करण तक **"कार्तिकस्यान्तिमे दले"** के स्थान में **"कार्तिकस्यासिते दले"** पाठ मिलता है। द्वितीय संस्करण की पाण्डुलिपि (रफ कापी) और प्रेस कापी दोनों में **"अन्तिमे दले"** ही पाठ है। इससे प्रतीत होता है कि द्वितीय संस्करण छापते समय प्रूफ संशोधनकाल में **'अन्तिमे'** के स्थान में **'असिते'** पाठ बनाया गया हैं। द्वितीय संस्करण के प्रूफों का संशोधन पं० भीमसेन और ज्वालादत्त ने किया था। इन पण्डितों का नाम द्वितीय संस्करण के मुख पृष्ठ पर छपा हुआ मिलता है। अतः यह परिवर्तन निश्चय ही इन्हीं में से किसी का है।

उक्त भूल का सुधार—कालविषयक उक्त भूल का सुधार श्री स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी ने संस्कारविधि के संशोधनकाल में किया। अतः उनके संशोधनों के अनुसार जो २२वां संस्करण छपा, उसमें शुद्ध पाठ मिलता है।

देखने में यह परिवर्तन छोटा सा और उचित प्रतीत होता है, क्योंकि सस्कारविधि की भाषा में स्पष्ट लिखा है—**"कार्तिक की अमावस्या को ग्रन्थ का आरम्भ किया"**। महीने का अन्तिम पक्ष उत्तर-भारत में शुक्ल पक्ष होता है। अत एव इन पण्डितों ने **'अन्तिमे'** के स्थान पर **'असिते'** बना दिया। परन्तु काल की दृष्टि से यह महती भूल है। इस ग्रन्थ के लेखन का आरम्भ गुजरात-परिभ्रमण काल में

हुआ था। वहां मास का अन्त पूर्णिमा पर नहीं होता, अमावास्या पर होता है। और शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा से मास का आरम्भ माना जाता है। अत एव उत्तर-भारत में जो कार्तिक का कृष्ण पक्ष होता है, वह दक्षिण भारत में आश्विन का कृष्ण पक्ष गिना जाता है। इस प्रकार दक्षिण-भारत का जो कार्तिक का कृष्ण पक्ष है, वह उत्तर-भारत के पञ्चाङ्ग के अनुसार मार्गशीर्ष का कृष्ण पक्ष होता है। अतः **"कार्तिकस्यान्तिमे दले अमायां"** पाठ गुजराती पञ्चाङ्ग के अनुसार ठीक था। अर्थात् उत्तर भारतीय पञ्चाङ्ग के अनुसार **मार्गशीर्ष की अमावास्या** को ग्रन्थ का आरम्भ हुआ था। **'अन्तिमे'** के स्थान में **'असिते'** पाठ कर देने से आपाततः संगति तो ठीक लग गई, परन्तु काल और इतिहास की दृष्टि से पाठ अशुद्ध हो गया। उत्तर-भारतीय पञ्चाङ्ग के अनुसार कार्तिक की अमावस्या के दिन शुक्रवार था।

साधारण से परिवर्तन से कितना महान् अनर्थ होता है, इस बात का यह स्पष्ट प्रमाण है। अतः ऋषि के ग्रन्थों का संशोधन करना कोई साधारण काम नहीं है, जो कि साधारण संस्कृत पढ़े-लिखे से कराया जा सके। इसके लिये चहुंमुखी-प्रतिभा-सम्पन्न बहुश्रुत महापण्डितों की आवश्यकता है।

कार्तिक कृष्ण ३० (उ० पं० मार्गशीर्ष ३०) संवत् १९३२ में स्वामी जी महाराज बम्बई में थे। अतः संस्कारविधि का आरम्भ बम्बई में हुआ था, यह निश्चित है। ऋषि दयानन्द के जीवनचरित्र कितनी असावधानता से लिखे गये हैं, इसका भी यह एक उदाहरण है। यदि जीवनचरित्र के लेखक इस वृत्त को लिखते हुए संस्कारविधि को भी खोलकर देख लेते तो ऐसी भयङ्कर भूल न करते। अस्तु।

संस्कारविधि के प्र० सं० के लेखन की समाप्ति

संस्कारविधि का लिखना कब समाप्त हुआ, इसके विषय में प्रथम संस्करण के अन्त में निम्न श्लोक मिलता है—

नेत्ररामाङ्कचन्द्रेऽब्दे (१९३२) पौषे मासे सिते दले।
सप्तम्यां सोमवारेऽयं ग्रन्थः पूर्तिं गतः शुभः॥[1]

१. यह ऐतिहासिक महत्व का श्लोक संस्कारविधि के अगले संस्करणों में नहीं छापा गया। हमने इसे रामलाल कपूर ट्रस्ट संस्करण के अन्त में टिप्पणी में छाप कर सुरक्षित कर दिया है।

तदनुसार पौष शुक्ला ७ सोमवार संवत् १९३२ को संस्कार-विधि का लेखन समाप्त हुआ था।

ग्रन्थ के आरम्भ और अन्त की तिथि से पता लगता है कि इस ग्रन्थ के रचने में केवल १ मास और आठ दिन का समय लगा था। यहां ध्यान रहे कि संस्कारविधि के आरम्भ करने की तिथि गुजराती पञ्चाङ्ग के अनुसार है (यह हम पूर्व लिख चुके हैं)।

श्री पं० देवेन्द्रनाथ संकलित जीवनचरित्र में लिखा है—

"संस्कारविधि का लिखना बड़ोदे में ही समाप्त हुआ था।"

जीवनचरित्र पृष्ठ ३६४ (संस्करण १)।

यद्यपि जीवनचरित्र से यह स्पष्ट विदित नहीं होता कि स्वामी जी महाराज बड़ोदा में कब से कब तक रहे थे, तथापि इतना स्पष्ट है कि अगहन और पौष में वे वहां विद्यमान थे। अतः जीवनचरित्र का उपर्युक्त लेख ठीक हो सकता है।

प्रथम संस्करण का मुद्रण

संस्कारविधि का प्रथम संस्करण संवत् १९३३ के अन्त में बम्बई के एशियाटिक प्रेस में छपकर प्रकाशित हुआ था। इस संस्करण के विषय में ऋषि ने द्वितीय संस्करण की भूमिका में इस प्रकार लिखा है—

"उसमें संस्कृतपाठ और भाषापाठ एकत्र लिखा था। इस कारण संस्कार करानेवाले मनुष्यों को संस्कृत और भाषा दूर-दूर होने होने से कठिनता पड़ती थी।

...किन्तु उन विषयों का यथावत् क्रमबद्ध संस्कृत के सूत्रों में प्रथम लेख किया था। उसमें सब की बुद्धि कृतकारी नहीं होती थी।"

सं० वि० परिशोधित संस्करण की भूमिका[२]।

संस्कारविधि के प्रथम संस्करण में एक-दो स्थानों में गृह्यसूत्रों के ऐसे वचनों का भी उल्लेख है, जिनमें मांसभक्षण का विधान है। ऋषि ने इन वचनों का संग्रह केवल तत्तद् ग्रन्थों के मतों के प्रदर्शन के अभिप्राय से किया था, वह उनका स्व-मत नहीं था। अत एव प्रथम संस्करण में दो स्थानों पर स्पष्ट लिखा है—

---

२. रामलाल कपूर ट्रस्ट मुद्रित संस्करण पृष्ठ १, २।

अन्नप्राशन संस्कार में पृष्ठ ४२ में लिखा है—**यह बात मांसाहारी तथा एकदेशीय लोगों के लिये है।**

गर्भाधान संस्कार में भी पृष्ठ ११ में लिखा है—**यह बात एक देशी है, सर्वदेशी नहीं, क्योंकि मांस से पौष्टिक गुणवाला द्रव्य दुग्ध और औषधादिकों में अधिक ही है।**

कई मांसभक्षण के पक्षपाती मांसभक्षण को उचित सिद्ध करने के लिये ऋषि के इस ग्रन्थ का भी आश्रय लेते हैं, परन्तु यह सर्वथा अनुचित है। ऋषि ने अपने समस्त जीवन में एक बार भी मांसभक्षण का प्रतिपादन नहीं किया। ऋषि ने स्वयं संवत् १९३५ में ऋग्वेद और यजुर्वेद भाष्य के प्रथम और द्वितीय अङ्क में विज्ञापन देकर इस विचार को स्पष्ट कर दिया था। इस विज्ञापन का इस विषय का अंश इस प्रकार है—

इससे जो मेरे बनाये सत्यार्थप्रकाश वा संस्कारविधि आदि ग्रन्थों में गृह्यसूत्र वा मनुस्मृति आदि पुस्तकों के वचन बहुत से लिखे हैं, उनमें से वेदार्थ के अनुकूल का साक्षिवत् प्रमाण और विरुद्ध का अप्रमाण मानता हूं।" ऋ० द० के पत्र और विज्ञापन पृष्ठ ९४ (द्वि० सं०)

प्रथम संस्करण का संशोधन

संस्कारविधि के प्रथम संस्करण का संशोधन **पं० लक्ष्मण शास्त्री** ने किया था। उसका नाम प्रथम संस्करण के मुख पृष्ठ पर छपा है। यह लक्ष्मण शास्त्री वही व्यक्ति है, जिसने "आर्याभिविनय" के प्रथम संस्करण का संशोधन किया था।

प्रथम संस्करण का प्रकाशन

प्रथम संस्करण के मुख पृष्ठ पर **"श्रीयुत केशवलाल निर्भयरामोपकारेण यन्त्रितो जातः"** लेख छपा है। इससे प्रतीत होता है कि प्रथम संस्करण लाला केशवलाल निर्भयराम के द्रव्य की सहायता से प्रकाशित हुआ था। ये महानुभाव बम्बई आर्यसमाज के प्रमुख व्यक्ति थे। ऋषि के इन के नाम लिखे हुए अनेक पत्र 'ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन' संग्रह में छपे हुए मिलते हैं।

प्रथम संस्करण का महत्त्व

यद्यपि ऋषि दयानन्द ने संस्कारविधि के प्रथमरूप को संशोधित करके नया रूप दे दिया है, तथापि उस संस्करण का महत्त्व कम

नहीं हुआ है। प्रथम संस्करण में गृह्यसूत्रों के लम्बे-लम्बे उद्धरण देकर उनका भाषार्थ दिया गया है। उस से उन गृह्यसूत्रों का ऋषि दयानन्द सम्मत अभिप्राय जानने में अत्यन्त सहायता मिलती है। इसी प्रकार संस्कारों में विनियुक्त सैकड़ों मन्त्रों का भाषा में भावार्थ लिखा है। इन मन्त्रों में लगभग २०० मन्त्र ऐसे हैं, जो सामवेद, अथर्ववेद और ऋग्वेद के उस भाग के हैं, जिनका ऋषि ने भाष्य नहीं किया। प्रथम संस्करण में प्रदर्शित उन मन्त्रों के भावार्थ से वेद के उन-उन प्रकरणों के विषय में ऋषि की दृष्टि क्या थी, यह समझने में सहायता मिलती है।

संशोधित द्वितीय संस्करण

संस्कारविधि के प्रथम संस्करण लिखने के लगभग ७॥ साढे सात वर्ष के पश्चात् महर्षि ने इसका पुनः संशोधन किया। इस विषय में संशोधित संस्कारविधि की भूमिका में स्वयं महर्षि ने लिखा है—

"जो एक हजार पुस्तक छपे थे, उनमें से अब एक भी नहीं रहा, इसलिये श्रीयुत् महाराजे विक्रमादित्य के संवत् १९४० अषाढ़ बदी १३ रविवार के दिन पुनः संशोधन करके छपवाने के लिये विचार किया।'[1]

द्वितीय संस्करण के संशोधन का यही काल संस्कारविधि के प्रारम्भ में ११वें श्लोक में लिखा है। जो इस प्रकार है—

विन्दुवेदाङ्कचन्द्रेऽब्दे शुचौ मासेऽसिते दले।
त्रयोदश्यां रवौ वारे पुनः संस्करणं कृतम्॥[2]

संशोधन की समाप्ति

संस्कारविधि के संशोधन की समाप्ति भाद्र कृष्ण अमावस्या संवत् १९४० के लगभग हो गई थी, अर्थात् तब तक संशोधित संस्कारविधि की पाण्डुलिपि (रफ कापी) पूरी लिखी जा चुकी थी। यह बात महर्षि के भाद्र बदी ५ संवत् १९४० के पत्र से व्यक्त होती है। उसमें लिखा हैं—

---

१. रामलाल कपूर ट्रस्ट संस्करण पृष्ठ १।
२. रामलाल कपूर ट्रस्ट संस्करण, पृष्ठ ६।

"और अब के संस्कारविधि बहुत अच्छी बनाई गई है। और अमावस्या तक बन चुकेगी।"

पत्र और विज्ञापन पृष्ठ ४७५ (द्वि० सं०)

इससे स्पष्ट है कि संशोधित संस्कारविधि की पाण्डुलिपि (रफ कापी) ऋषि के निर्वाण से दो मास पूर्व तैयार हो गई थी। जो लोग संस्कारविधि के संशोधित संस्करण को ऋषिदयानन्द कृत नहीं मानते हैं, उन्हें उपर्युक्त लेख पर अवश्य विचार करना चाहिये। इतना ही नहीं, इस पाण्डुलिपि पर ऋषि के हाथ को काली पेंसिल के संशोधन आदि से अन्त तक विद्यमान हैं। ये ऋषि के हाथ से किये गये संशोधन भी इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं कि इस पाण्डुलिपि का संशोधन भी वे अपने जीवन काल में कर चुके थे।

संशोधित संस्करण का मुद्रण

इस संशोधित संस्कारविधि के मुद्रण का आरम्भ कब हुआ, इसकी कोई निश्चित तिथि उपलब्धि नहीं होती। महर्षि ने आश्विन बदि ८ सोमवार संवत् १९६० (२४ सितम्बर १८८३) के पत्र में मुंशी समर्थदान प्रबन्धकर्त्ता वैदिक यन्त्रालय को लिखा था—

"आज संस्कारविधि के पृष्ठ १ से लेके ४७ तक भेजते हैं।"

पत्र और विज्ञापन पृष्ठ ४७१ (द्वि० सं०)

पुनः आश्विन बदि १३ शनिवार संवत् १९४० (२९ सितम्बर १८८३) के पत्र में ऋषि ने लिखा था—

"आश्विन बदि ८ सोमवार संवत् १९४० को संस्कारविधि के पृष्ठ १ से लेके ४७ तक भेजे हैं, पहुंचे होंगे।"

पत्र और विज्ञापन पृष्ठ ४८१ (द्वि० सं०)

अतः मुद्रण का आरम्भ सम्भव है, ऋषि के जीवन के अन्तिम दिनों में हो गया हो।

मुद्रण की समाप्ति

संस्कारविधि के द्वितीय संस्करण के अन्त में निम्न श्लोक उपलब्ध होता है—

"विधुयुगनवचन्द्रे (१९४१) वत्सरे विक्रमस्या-
ऽसितदलबुधयुक्तानङ्गतिथ्यामिषस्य।

निगमपथशरण्ये भूय एवात्र यन्त्रे,
विधिविहितकृतीनां पद्धतिर्मुद्रिताऽभूत् ॥

इस श्लोक के अनुसार द्वितीय संस्करण का मुद्रण आश्विन शुदि ५ बुधवार संवत् १९४१ को समाप्त हुआ था।

उपर्युक्त श्लोक संस्कारविधि के १२वें संस्करण तक अन्त में छपता रहा। १२वें सस्करण के पश्चात् शताब्दी ग्रन्थमाला (सन् १९२५) में जो संस्करण छपा, उसमें इस श्लोक को हटा दिया। अतः वैदिक यन्त्रालय अजमेर के उत्तरवर्ती संस्करणों में नहीं मिलता। ऐतिहासिक दृष्टि से यह श्लोक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अतः इसे सर्वथा न हटाकर टिप्पणी से छाप दिया जाता तो अच्छा होता।[1]

ऋग्वेदभाष्य मार्गशीर्ष शुक्ल संवत् १९४१ के ६०, ६१वें सम्मिलित अङ्क के अन्त में संस्कारविधि के विषय में एक विज्ञापन छपा था। जिस के ऊपर छोटे टाईप में ( ) कोष्ठक में लिखा है—"दिसम्बर सन् १८८४ के आरम्भ में बिकेगी।" इससे विदित होता है कि छपकर तथा सिलाई होकर दिसम्बर १८८४ में विक्रय के लिये तैयार हो गई थी।

द्वितीय संस्करण का प्रूफ संशोधक

संस्कारविधि द्वितीय संस्करण के प्रूफों का संशोधन पं० ज्वाला दत्त और पं० भीमसेन जी ने किया था। जैसा कि द्वितीय संस्करण के मुख पृष्ठ पर लिखा है—"ज्वालादत्तभीमसेनशर्मभ्यां संशोधितः।"

द्वितीय संस्करण के हस्तलेख

इस संशोधित द्वितीय संस्करण के दो हस्तलेख श्रीमती परोपकारिणी सभा के संग्रह में अभी तक सुरक्षित है। पाण्डुलिपि (रफ कापी) में स्वामी जी के काली पेन्सिल के संशोधन, परिवर्तन, परिवर्धन आदि से अन्त तक विद्यमान हैं। **प्रेसकापी में पृष्ठ १-४७ तक** कर्णवेध पर्यन्त ऋषि के हाथ के संशोधन है। पाण्डुलिपि ऋषि के निर्वाण से लगभग दो मास पूर्व सम्पूर्ण हो चुकी थी। यदि हम ऋषि

---

१. हमने रामलाल कपूर ट्रस्ट से प्रकाशित संस्करण में द्वितीय संस्क० के छपने का कालनिर्देशक उक्त श्लोक को टिप्पणी में दर्शा दिया है। वहीं तृतीय संस्करण के छपने का कालनिर्देशक श्लोक भी दे दिया है।

के पत्र के आधार पर पूर्व लिख चुके हैं। अतः किन्हीं लोगों का यह लिखना कि संस्कारविधि का द्वितीय संस्करण ऋषि दयानन्द कृत नहीं है, सर्वथा मिथ्या है।

संस्कारविधि में अनुचित संशोधन

संस्कारविधि का पाठ द्वितीय संस्करण से १२वें संस्करण तक प्रायः एक जैसा छपा है। शताब्दी संस्करण में कहीं-कहीं टिप्पणी में गृह्यसूत्रों के पते या पाठान्तर दर्शाये हैं, शेष पाठ प्रायः पूर्ववत् है। सं० १३ से १७ तक शताब्दी संस्करण वाला ही पाठ छपा है। १८वें संस्करण में परोपकारिणी सभा ने श्री पं० जयदेव जी विद्यालङ्कार से संशोधन कराया है। उनका संशोधन कई स्थानों में संशोधन की सीमा को लांघकर परिवर्तन की सीमा में प्रविष्ट हो गया है। इसके उदाहरण के लिये हम एक स्थल उपस्थित करते हैं।[1]

निष्क्रमण संस्कार में पुराना पाठ है—

"चतुर्थे मासि निष्क्रमणिका सूर्यमुदीक्षयति तच्चक्षुरिति।
यह आश्वलायन गृह्यसूत्र का वचन है।

जननाद् यस्तृतीयो ज्यौत्स्नस्तस्य तृतीयायाम्। यह पारस्कर गृह्यसूत्र में भी है।

इसके स्थान में अठारहवें संस्करण में पाठ इस प्रकार छपा है—

"चतुर्थे मासि निष्क्रमणिका सूर्यमुदीक्षयति तच्चक्षुरिति। यह पारस्कर गृह्यसूत्र [१।१७।५,६।।] का वचन है। जननाद् यस्तृतीयो ज्यौत्स्नस्तस्य तृतीयायाम्। यह गोभिल गृह्यसूत्र [२।८। १-५] में भी है।"

यद्यपि यह ठीक है कि संस्कारविधि के दिये हुये पाठ क्रमशः आश्वलायन और पारस्करगृह्य में नहीं मिलते। और पारस्करगृह्य तथा गोभिल में मिलते हैं। तथापि मूलपाठ के परिवर्तन का किसी को क्या अधिकार है? और वह भी श्रीमती परोपकारिणी सभा से छपे ग्रन्थ में। संशोधन में जो पाठ दिये हैं, हम उसके विरोधी नहीं हैं। परन्तु वह संशोधन ऊपर मूल में न करके टिप्पणी में देने चाहियें

---

१. श्री पं० जयदेव जी द्वारा किये गये अन्य कतिपय भ्रष्ट संशोधनों लिये पूर्व मुद्रित सम्पादकीय पृष्ठ ९. १०, ११ देखें।

(जैसे हमने अपने संस्करण में दर्शाया है) । क्योंकि सम्भव हो सकता है, उपर्युक्त पाठ उन गृह्यसूत्रों के किसी हस्तलिखित ग्रन्थ में मिल जावें ।

इस प्रकार के संशोधनों से संशोधक की अल्पज्ञता से कितना अनर्थ हो जाता है । इसका एक प्रमाण नीचे दिया जाता है—

कर्णवेध संस्कार में पुराना पाठ था—

"अथ प्रमाणम्—कर्णवेधो वर्षे तृतीये पञ्चमे वा । यह आश्वलायन गृह्यसूत्र का वचन है ।

उसके स्थान में नया संशोधित पाठ "यह कात्यायन गृह्यसूत्र [१-२] का वचन है" छपा है ।

यह संशोधन पं० जी ने संस्कारचन्द्रिका के अनुसार किया है । मूल कात्यायन उन्होंने नहीं देखा । क्योंकि यह स्वतन्त्र रूप में अभी तक नहीं छपा ।

अनेक प्राचीन ग्रन्थों के सम्पादन और संशोधन करने के अनन्तर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि ऋषि के स्वयं बनाये हुये ग्रन्थों में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं होना चाहिये यदि परिवर्तन करना इष्ट हो तब भी पूर्व पाठ नीचे टिप्पणी में अवश्य देना चाहिये । कई बार अशुद्ध पाठों से भी अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्य प्रकाशित होते हैं । जैसा कि हमने 'ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास' ग्रन्थ में पञ्चमहायज्ञविधि के प्रकरण में सन्ध्याग्निहोत्र के प्रमाण में दिये हुए "सांयसांय" और "प्रातः-प्रातः" मन्त्रों के संस्कृत भाष्य में दी हुई '।।३।' '।।४।।' संख्या की अत्यन्त साधारण अशुद्धि से एक महत्त्वपूर्ण बात का उद्घाटन किया है, देखो पञ्चमहाविधि का प्रकरण (पृष्ठ ५४) यदि संशोधक इसे बदल कर ठीक संख्या '।।१।। ।।२।' कर देता, तो हमें उक्त महत्त्वपूर्ण बात का ज्ञान ही नहीं होता ।

इससे स्पष्ट है कि ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का संशोधन करते समय बड़ी सावधानता बरतनी चाहिये ।

—युधिष्ठिर मीमांसक

संस्कारविधि के हस्तलेखों का विवरण

परोपकारिणी सभा के संग्रह में संस्कारविधि के प्रथम तथा संशोधित द्वितीय संस्करण दोनों के हस्तलेख सुरक्षित हैं। उनका विवरण इस प्रकार है—

प्रथम संस्करण

संस्कारविधि प्रथम संस्करण (संवत् १९३२) की एक हस्त-लिखित कापी है। यह कापी पूर्ण है।

पृष्ठ—इस कापी में १३६ पृष्ठ हैं।

पंक्ति—प्रति पृष्ठ लगभग ३३, ३४ पंक्तियां हैं।

अक्षर—प्रति पंक्ति लगभग २६ अक्षर हैं।

कागज—नीला रूलदार फुलस्केप आकार का कागज इसमें लगा हुआ है।

लेखक—इस सम्पूर्ण कापी का एक ही लेखक है।

संशोधन—लाल स्याही और पेंसिल का है। स्वामी जी के हाथ का संशोधन भी पर्याप्त है।

संशोधित (द्वितीय संस्करण)

संस्कारविधि के संशोधित द्वितीय संस्करण (संवत् १९४०) की दो हस्तलिखित प्रतियां हैं। एक पाण्डुलिपि (रफ कापी) और दूसरी संशोधित (प्रेस कापी)। इन दोनों का ब्यौरा इस प्रकार है—

१— पाण्डुलिपि

यह संस्कारविधि के संशोधित (द्वितीय) संस्करण की रफ कापी है। प्रारम्भ का सामान्य प्रकरण कुछ खण्डित तथा अव्यवस्थित सा है। शेष ग्रन्थ पूरा है।

पृष्ठ—इसकी पृष्ठसंख्या इस प्रकार है—

१-१८ तक भूमिका तथा सामान्य प्रकरण का खण्डित भाग।

१-१८४ तक गर्भाधान से अन्त्येष्टि संस्कार पर्यन्त।

विशेष विवरण—पृष्ठ संख्या १५९ के आगे अनवधानता से केवल ६० संख्या लिखी गई है, अर्थात् सौ का अंक छूट गया। इसी प्रकार अन्त तक ८४ संख्या चली है। पृष्ठ १५८ से आगे ७ पृष्ठ और बढ़ाये हैं, उन पर पृथक् पृष्ठ संख्या नहीं है। तदनुसार इस कापी में पृष्ठ १८+१८४+७=२०९ है।

पंक्ति ....।

अक्षर ......।

कागज—सन् १८७८ तथा १८८१ का हाथी छाप का फुलसकेप आकार का लगा है।

संशोधन—इसमें काली पेंसिल का सारा संशोधन स्वामी जी के हाथ का है। कहीं-कहीं स्याही का भी संशोधन है।

२—संशोधित (प्रेस) कापी

इस कापी का हस्तलेख प्रारम्भ से गृहस्थाश्रम पर्यन्त है, अर्थात् इस कापी में अन्त्य के तीन संस्कार नहीं हैं।

पृष्ठ—इसमें आदि से गृहस्थाश्रम पर्यन्त १७२ पृष्ठ हैं।

विशेष विवरण—अन्त्य के वानप्रस्थ संन्यास और अन्त्येष्टि संस्कारों का मुद्रण पहली रफ कापी से हुआ है। प्रेस में भेजते समय रफ कापी पर ही प्रेसकापी की पृष्ठ संख्या १७२ से अगली अर्थात् १७३ आदि संख्यायें डाली गई हैं।

पंक्ति—प्रति पृष्ठ लगभग ३०, ३१ पंक्तियां हैं।

अक्षर—प्रति पंक्ति लगभग ३५ अक्षर हैं।

कागज—पृष्ठ १७२ तक सफेद मोटा विना रूल का फुलसकेप आकार का है।

लेखक—आदि से अन्त तक एक ही है।

संशोधन—लाल और काली स्याही से किया है। इसमें पृष्ठ ४७ तक काली स्याही का स्वामी जी के हाथ का है।

विशेष विवरण—ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन ग्रन्थ के पृष्ठ ४७१, ४८१ (द्वि० सं०) पर छपे पत्रों से ज्ञात होता है कि स्वामी जी ने इसके ४७ पृष्ठ शोधकर प्रेस में भेजे थे। आगे के संशोधित पृष्ठ रुग्ण हो जाने के कारण वे नहीं भेज सके।

संस्कारविधि की विस्तृत विषय-सूची

१. [ ] इस कोष्ठक के अन्तर्गत निर्दिष्ट विषय टिप्पणीस्थ हैं।

१. यहां मनुस्मृति के श्लोक और उनका भाषार्थ जिस पृष्ठ पङ्क्ति में है, उनका क्रमशः निर्देश किया है।

१. ग्रन्थकार ने इस प्रकरण में पृष्ठ २०९ तक जिन विभिन्न विषयों का प्रतिपादन करने के लिये मन्त्र उद्धृत करके उनका व्याख्यान किया है, उन्हीं विषयों की संक्षिप्त सूची दी गई है।

१. यहां से आगे पृष्ठ २१७ तक उद्धृत मनु वचनों द्वारा प्रतिपादित विषयों की सूची दी गई है।

संस्कार-विधिः



॥ ओ३म् ॥

भूमिका[1]

सब सज्जन लोगों को विदित होवे कि मैंने बहुत सज्जनों के अनुरोध क से श्रीयुत महाराजे विक्रमादित्य के संवत् १९३२ कार्त्तिक कृष्ण क्ष ३०शनिवार के दिन 'संस्कारविधि' का प्रथमारम्भ किया था। उसमें संस्कृतपाठ सब एकत्र और भाषापाठ एकत्र लिखा था। इस कारण सस्कार करनेवाले मनुष्यों को संस्कृत और भाषा दूर-दूर होने से कठिनता पड़ती थी। और जो १००० एक हजार पुस्तक छपे थे, उनमें से अब एक भी नही रहा। इसलिये श्रीयुत महाराजे विक्रमादित्य के संवत् १९४० आषाढ़ वदि १३ रविवार के दिन पुनः संशोधन करके छपवाने के लिए विचार किया।

अब की बार जिस-जिस[2] संस्कार का उपदेशार्थ प्रमाण-वचन और प्रयोजन है, वह-वह संस्कार के पूर्व लिखा जायेगा। तत्पश्चात् जो-जो संस्कार में कर्त्तव्य विधि है, उस-उस को क्रम से लिखकर पुनः उस संस्कार का शेष विषय, जो कि दूसरे संस्कार तक करना चाहिए, वह लिखा है। और जो विषय प्रथम अधिक लिखा था, उसमें से अत्यन्त उपयोगी न जानकर छोड़ भी दिया है। और अब की बार जो-जो अत्यन्त उपयोगी विषय है, वह-वह अधिक भी लिखा है। इसमें यह न समझा जावे कि प्रथम विषय युक्त न था, और युक्त छूट गया था, उसका संशोधन किया है। किन्तु उन विषयों का

---

१. **विशेष**—इस ग्रन्थ में ग्रन्थकार की अपनी टिप्पणियां भी हैं, उन टिप्पणियों के अन्त में द० स० ऐसा संक्षिप्त नाम मोनो काले टाइप में देंगे। शेष टिप्पणियां मोनो सफेद पैका टाइप में हमारी हैं, ऐसा जानना चाहिए।

२. संस्कारविधि में जिस शब्द को दो बार पढ़ना होता है, वहां उस शब्द के आगे २ का अङ्क लिखा गया है। यथा—जिस २, वह २, उस २। ऐसे सभी स्थानों पर हमने उस-उस शब्द को पाठकों की सुगमता के लिए दो बार छापा है।

यथावत् क्रमबद्ध संस्कृत के सूत्रों में प्रथम लेख किया था, उसमें सब लोगों की बुद्धि कृतकारी नहीं होती थी, इसलिये अब सुगम कर दिया है। क्योंकि संस्कृतस्थ विषय विद्वान् लोग समझ सकते थे, साधारण नहीं।'[1]

इसमें सामान्य विषय, जो कि सब संस्कारों के आदि और उचित समय तथा स्थान में अवश्य करना चाहिए, वह प्रथम सामान्य-प्रकरण में लिख दिया है। और जो मन्त्र वा क्रिया सामान्यप्रकरण की संस्कारों में अपेक्षित है, उसके पृष्ठ पंक्ति की प्रतीक उन कर्त्तव्य संस्कारों में लिखी है, कि जिसको देखके सामान्यविधि की क्रिया यहां सुगमता से कर सकें। और सामान्यप्रकरण का विधि[2] भी सामान्यप्रकरण में लिख दिया है, अर्थात् वहां का विधि करके संस्कार का कर्त्तव्यकर्म करे। और जो सामान्यप्रकरण का विधि लिखा है, वह एक स्थान से अनेक स्थलों में अनेक वार करना होगा। जैसे अग्न्याधान प्रत्येक संस्कार में कर्त्तव्य है, वैसे वह सामान्यप्रकरण में एकत्र लिखने से सब संस्कारों में वारम्वार न लिखना पड़ेगा।

इसमें प्रथम ईश्वर की स्तुति-प्रार्थना-उपासना, पुनः स्वस्ति-वाचन, शान्तिपाठ, तदनन्तर सामान्यप्रकरण, पश्चात् गर्भाधानादि

---

१. इस सन्दर्भ से अत्यन्त स्पष्ट है कि ऋषि दयानन्द ने प्रथम संस्करण को अप्रामाणिक नहीं माना। यही स्थिति 'सत्यार्थ-प्रकाश' के प्रथम संस्करण की है। इन दोनों ग्रन्थों के प्रथम संस्करणों में किन्हीं कारणों से जो अप्रामाणिक अंश छप गया था, उसका निर्देश ऋषि दयानन्द ने अपने विज्ञापनों में स्पष्ट कर दिया था। द्र०—'ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन' पृष्ठ ९४, १०९ (द्वि० सं०) के विज्ञापन। इसी प्रकार सं० १९३२ में छपी 'पञ्चमहायज्ञविधि' का सं० १९३४ में परिशोधित संस्करण प्रकाशित कर देने पर भी सं० १९३२ की 'पञ्चमहायज्ञविधि' का विक्रयार्थ उल्लेख सं० १९३९ तक छपे ग्रन्थों की सूची में मिलता है। इससे स्पष्ट है कि इन ग्रन्थों में जो उपयोगी अंश है, वह अध्ययन योग्य है।

२. ग्रन्थकार ने सर्वत्र आर्यभाषा में भी संस्कृत-शब्दों का लिङ्ग संस्कृत-व्याकरण के अनुसार ही प्रयुक्त किया है। अतः यहां 'का विधि' लिखा है। 'विधि' शब्द संस्कृतभाषा में पुंल्लिङ्ग है। इसी प्रकार सर्वत्र लिङ्ग-प्रयोग के विषय में जानना चाहिए।

अन्त्येष्टिपर्यन्त सोलह संस्कार क्रमशः लिखे हैं। और यहां सब मन्त्रों का अर्थ नहीं लिखा है, क्योंकि इसमें कर्मकाण्ड का विधान है, इस लिए विशेषकर क्रिया-विधान लिखा है। और जहां-जहां अर्थ करना आवश्यक है, वहां-वहां अर्थ भी कर दिया है। और मन्त्रों के यथार्थ अर्थ मेरे किये वेदभाष्य में लिखे ही हैं, जो देखना चाहें, वहां से देख लेवें। यहां तो केवल क्रिया करनी ही मुख्य है, जिस करके शरीर और आत्मा सुसंस्कृत होने से धर्म अर्थ कामं और मोक्ष को प्राप्त हो सकते हैं, और सन्तान अत्यन्त योग्य होते हैं, इसलिए संस्कारों का करना सब मनुष्यों को अति उचित है।

॥ इति भूमिका ॥

स्वामी दयानन्द सरस्वती



ओ३म् नमो नमः सर्वविधात्रे जगदीश्वराय

अथ संस्कारविधिं वक्ष्यामः

ओं सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै । तेजस्वि नावधीतमस्तु । मा[1] विद्विषावहै । ओं शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥ तैत्तिरीय आरण्यके, अष्टमप्रपाठके, प्रथमानुवाके ॥[2]

सर्वात्मा सच्चिदानन्दो विश्वादिर्विश्वकृद्विभुः ।
भूयात्तमां सहायो नस्सर्वेशो न्यायकृच्छुचिः ॥१॥

गर्भाद्या मृत्युपर्य्यन्ताः संस्काराः षोडशैव हि ।
वक्ष्यन्ते तं नमस्कृत्यानन्तविद्यं परेश्वरम् ॥२॥

वेदादिशास्त्रसिद्धान्तमाध्याय परमादरात् ।
आर्यैतिह्यं पुरस्कृत्य शरीरात्मविशुद्धये ॥३॥

संस्कारैस्संस्कृतं यद्यन्मेध्यमत्र तदुच्यते[3] ।
असंस्कृतं तु यल्लोके तदमेध्यं प्रकीर्त्यते ॥४॥

अतः संस्कारकरणे क्रियतामुद्यमो बुधैः ।
शिक्षयौषधिभिर्नित्यं सर्वथा सुखवर्द्धनः ॥५॥

कृतानीह विधानानि ग्रन्थग्रन्थनतत्परैः ।
वेदविज्ञानविरहैः स्वार्थिभिः परिमोहितैः ॥६॥

प्रमाणैस्तान्यनादृत्य क्रियते वेदमानतः ।
जनानां सुखबोधाय संस्कारविधिरुत्तमः ॥७॥

बहुभिः सज्जनैस्सम्यङ्मानवप्रियकारकैः ।
प्रवृत्तो ग्रन्थकरणे क्रमशोऽहं नियोजितः ॥८॥

---

१. तैत्तिरीयारण्यक में '०मस्तु मा' ऐसा संहिता पाठ है ।

२. 'अष्टमप्रपाठकः । प्रथमानुवाकः' अजमेर-मुद्रित में यह परिवर्तित पाठ है ।

३. संस्करण १७—२४ तक 'तदुत्तमम्' यह परिवर्तित पाठ मिलता है ।

दयाया आनन्दो विलसति परो ब्रह्मविदितः,
सरस्वत्यस्याग्रे निवसति मुदा सत्यनिलया।
इयं ख्यातिर्यस्य प्रततसुगुणा ह्रीशशरणा-
ऽस्त्यनेनायं ग्रन्थो रचित इति बोद्धव्यमनघाः ॥९॥

चक्षूरामाङ्कचन्द्रेऽब्दे कार्तिकस्यान्तिमे[1] दले।
अमायां शनिवारेऽयं ग्रन्थारम्भः कृतो मया ॥१०॥

बिन्दुवेदाङ्कचन्द्रेऽब्दे शुचौ मासेऽसिते दले।
त्रयोदश्यां रवौ वारे पुनः संस्करणं कृतम् ॥११॥

सब संस्कारों के आदि में निम्नलिखित मन्त्रों का पाठ और अर्थ द्वारा एक विद्वान् वा बुद्धिमान् पुरुष ईश्वर की स्तुति प्रार्थना और उपासना स्थिरचित्त होकर परमात्मा में ध्यान लगाके करे, और सब लोग उसमें ध्यान लगाकर सुनें और विचारें—

---

१. प्रथम तथा द्वितीय संस्करण के लिए लिखी गई पाण्डुलिपि (रफ कापी), तथा संशोधित कापी में 'कार्तिकस्यान्तिमे दले' ही पाठ है। द्वितीय सं० में छपते समय 'कार्तिकस्यासिते दले' पाठ भीमसेनादि द्वारा बनाया गया। वह २२ वें संस्करण तक छपता रहा। 'अन्तिमे दले' पाठ गुजराती पञ्चाङ्ग के अनुसार है, क्योंकि इसकी रचना का आरम्भ बम्बई में हुआ था। उत्तरभारतीय पञ्चाङ्ग के अनुसार संस्कारविधि की रचना का आरम्भ मार्गशीर्ष की अमावास्या वि० सं० १९३२ में हुआ, ऐसा जानना चाहिये।

अथेश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासनामन्त्राः

[1]ओ३म्, विश्वा॑नि देव सवितर्दुरि॒ता॑नि॒ परा॑ सुव ।
यद् भ॒द्रन्तन्न॒[2]ऽआ सु॑व ॥१॥ यजुः अ० ३०। मं०३ ॥[3]

अर्थः—हे (सवितः) सकल जगत् के उत्पत्तिकर्त्ता, समग्र ऐश्वर्य-युक्त, (देव) शुद्धस्वरूप, सब सुखों के दाता परमेश्वर! आप कृपा करके (नः) हमारे (विश्वानि) संपूर्ण (दुरितानि) दुर्गुण दुर्व्यसन और दुःखों को (परा सुव) दूर कर दीजिए। (यत्) जो (भद्रम्) कल्याणकारक गुण कर्म स्वभाव और पदार्थ है, (तत्) वह सब हमको (आ सुव) प्राप्त कीजिए ॥१॥

हि॒र॒ण्य॒ग॒र्भः सम॑वर्त्त॒ताग्रे॑ भू॒तस्य॑ जा॒तः पति॒रेक॑ऽ आसीत् ।
स दा॑धार पृथि॒वीं द्यामु॒तेमां कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम ॥२॥
यजुः अ० १३। मं० ४॥

अर्थः—जो (हिरण्यगर्भः) स्वप्रकाशस्वरूप, और जिसने प्रकाश करनेहारे सूर्य-चन्द्रमादि पदार्थ उत्पन्न करके धारण किए हैं, जो (भूतस्य) उत्पन्न हुए संपूर्ण जगत् का (जातः) प्रसिद्ध (पतिः)

---

१. 'ओ३म्' यह मन्त्र का पद नहीं है, प्रारम्भ में प्लुत उच्चारण का शास्त्रों में विधान होने से जोड़ा गया है। आगे भी सर्वत्र ऐसा ही समझें।

२. यजुर्वेद में अनुस्वार को पदान्त में भी नित्य परसवर्ण ही होता है। अतः 'भद्रन्तन्न आ' पाठ ही शुद्ध है, 'भद्रं तन्न आ' नहीं। 'संस्कार-विधि' के प्राचीन संस्करण में यहां परसवर्ण ही छपा है। यजुर्वेद और पारस्करगृह्य के सब मन्त्रों में प्राचीन परिपाटी के अनुसार पदान्त अनुस्वार को सर्वत्र पर-सवर्ण ही होना चाहिये, परन्तु हमने यथामुद्रित पाठ ही रहने दिया है।

३. जिन मन्त्र आदि उद्धरणों के पते द्वितीय संस्करण में दिए हैं, उन्हें हम मूल पाठ में रखेंगे। और जो अगले संस्करणों में संशोधकों ने दिए हैं, उन्हें हम नीचे टिप्पणी में देंगे। तथा जिनके पते अशुद्ध दिए गए हैं या नहीं दिए गए, उनका संशोधन वा निर्देश भी टिप्पणी में ही किया जाएगा।

स्वामी (एकः) एक ही चेतनस्वरूप (आसीत्) था, जो (अग्रे) सब जगत् के उत्पन्न होने से पूर्व (समवर्तत) वर्तमान था, (सः) सो (इमाम्) इस (पृथिवीम्) भूमि (उत) और (द्याम्) सूर्यादि को (दाधार) धारण कर रहा है। हम लोग उस (कस्मै) सुखस्वरूप (देवाय) शुद्ध परमात्मा के लिए (हविषा) ग्रहण करने योग्य योगाभ्यास और अतिप्रेम से (विधेम) विशेष भक्ति किया करें ॥२॥

यऽ आत्मदा बलदा यस्य विश्वऽ उपासते प्रशिषं यस्य देवाः ।
यस्य [1]छायामृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥३॥

यजुः अ० २५ । मं० १३ ॥

अर्थः—(यः) जो (आत्मदाः) आत्मज्ञान का दाता, (बलदाः) शरीर आत्मा और समाज के बल का देनेहारा, (यस्य) जिसकी (विश्वे) सब (देवाः) विद्वान् लोग (उपासते) उपासना करते हैं, और (यस्य) जिसका (प्रशिषम्) प्रत्यक्ष सत्यस्वरूप शासन और न्याय अर्थात् शिक्षा को मानते हैं, (यस्य) जिसका (छाया) आश्रय ही (अमृतम्) मोक्षसुखदायक है, (यस्य) जिसका न मानना अर्थात् भक्ति न करना ही (मृत्युः) मृत्यु आदि दुःख का हेतु है। हम लोग उस (कस्मै) सुखस्वरूप (देवाय) सकल ज्ञान के देनेहारे परमात्मा की प्राप्ति के लिये (हविषा) आत्मा और अन्तःकरण से (विधेम) भक्ति अर्थात् उसी की आज्ञा पालन करने में तत्पर रहें ॥३॥

यः प्राणतो निमिषतो महित्वैकऽ इद्राजा जगतो बभूव ।
य ईशेऽअस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥४॥

यजुः अ० २३ । मं० ३ ॥

अर्थः—(यः) जो (प्राणतः) प्राणवाले और (निमिषतः) अप्राणिरूप (जगतः) जगत् का (महित्वा) अपने अनन्त महिमा से (एक इत्) एक ही (राजा) विराजमान राजा (बभूव) है, (यः) जो (अस्य) इस (द्विपदः) मनुष्यादि और (चतुष्पदः) गौ आदि

---

१. सब संस्करणों में 'यस्यच्छाया' ऐसा चकार सहित पाठ मिलता है। यजुर्वेद के कतिपय मुद्रित ग्रन्थों में भी चकार दिखाई पड़ता है, परन्तु मूल मन्त्रपाठ चकार-रहित है। द्र०—कात्यायनीय यजुःप्रातिशाख्य। ४।२३ ॥

प्राणियों के शरीर की (ईशे) रचना करता है। हम लोग उस (कस्मै) सुखस्वरूप (देवाय) सकलैश्वर्य के देनेहारे परमात्मा के लिये (हविषा) अपनी सकल उत्तम सामग्री से (विधेम) विशेष भक्ति करें ॥४॥

येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा येन स्व' स्तभितं येन नाकः।
योऽअन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥५॥

यजुः अ० ३२। मं० ६॥

अर्थः—(येन) जिस परमात्मा ने (उग्रा) तीक्ष्ण स्वभाववाले (द्यौः) सूर्य आदि (च) और (पृथिवी) भूमि को (दृढा) धारण, (येन) जिस जगदीश्वर ने (स्वः) सुख को (स्तभितम्) धारण, और (येन) जिस ईश्वर ने (नाकः) दुःखरहित मोक्ष को धारण किया है। (यः) जो (अन्तरिक्षे) आकाश में (रजसः) सब लोक-लोकान्तरों को (विमानः) विशेष मानयुक्त, अर्थात् जैसे आकाश में पक्षी उड़ते हैं, वैसे सब लोकों का निर्माण करता और भ्रमण कराता है। हम लोग उस (कस्मै) सुखदायक (देवाय) कामना करने के योग्य परब्रह्म की प्राप्ति के लिये (हविषा) सब सामर्थ्य से (विधेम) विशेष भक्ति करें ॥५॥

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥६॥

ऋ० मं १०। सू० १२१। मं० १०॥

अर्थः—हे (प्रजापते) सब प्रजा के स्वामी परमात्मा! (त्वत्) आप से (अन्यः) भिन्न दूसरा कोई (ता) उन (एतानि) इन (विश्वा) सब (जातानि) उत्पन्न हुये जड़ चेतनादिकों को (न) नहीं (परि बभूव) तिरस्कार करता है, अर्थात् आप सर्वोपरि हैं।

---

१. 'स्वः स्तभितं' अजमेर-मुद्रित पाठ है। यद्यपि 'वा शर्प्रकरणे खर्परे लोपः' (महा० ८।३।३६) के नियम से विसर्ग का विकल्प से लोप कहा है, परन्तु वैदिक विकल्पों के व्यवस्थित होने में 'शुक्ल यजुःप्रातिशाख्य' ३।१३ के नियमानुसार यजुः-संहितापाठ में विसर्ग-रहित ही पाठ है। अत एव हमने भी विसर्ग-रहित ही पाठ रखा है। मन्त्रपाठ में विद्यमान सामान्य अशुद्धियों को हमने ठीक कर दिया है।

(यत्कामाः) जिस-जिस पदार्थ की कामनावाले हम लोग (ते) आपका (जुहुमः) आश्रय लेवें और वाञ्छा करें, (तत्) उस-उसकी कामना (नः) हमारी सिद्ध (अस्तु) होवे। जिससे (वयम्) हम लोग (रयीणाम्) धनैश्वर्यों के (पतयः) स्वामी (स्याम) होवें ॥६॥

स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यत्र देवाऽ अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त ॥७॥

यजुः अ० ३२। मं० १०॥

अर्थः—हे मनुष्यो! (सः) वह परमात्मा (नः) अपने लोगों का (बन्धुः) भ्राता के समान सुखदायक, (जनिता) सकल जगत् का उत्पादक, (सः) वह (विधाता) सब कामों का पूर्ण करनेहारा, (विश्वा) सम्पूर्ण (भुवनानि) लोकमात्र और (धामानि) नाम स्थान जन्मों को (वेद) जानता है। और (यत्र) जिस (तृतीये) सांसारिक सुखदुःख से रहित, नित्यानन्दयुक्त, (धामन्) मोक्षस्वरूप, धारण करनेहारे परमात्मा में (अमृतम्) मोक्ष को (आनशानाः) प्राप्त होके (देवाः) विद्वान् लोग (अध्यैरयन्त) स्वेच्छापूर्वक विचरते हैं, वही परमात्मा अपना गुरु आचार्य राजा और न्यायाधीश है। अपने लोग मिलके सदा उसकी भक्ति किया करें ॥७॥

अग्ने नय सुपथा रायेऽ अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठान्ते नमऽउक्तिं विधेम ॥८॥

यजु अ० ४०। मं० १६॥

अर्थः—हे (अग्ने) स्वप्रकाश, ज्ञानस्वरूप, सब जगत् के प्रकाश करनेहारे, (देव) सकल सुखदाता परमेश्वर! आप जिससे (विद्वान्) संपूर्ण विद्यायुक्त हैं, कृपा करके (अस्मान्) हम लोगों को (राये) विज्ञान वा राज्यादि ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए (सुपथा) अच्छे धर्मयुक्त आप्त लोगों के मार्ग से (विश्वानि) सम्पूर्ण (वयुनानि) प्रज्ञान और उत्तम कर्म (नय) प्राप्त कराइये। और (अस्मत्) हमसे (जुहुराणम्) कुटिलतायुक्त (एनः) पापरूप कर्म को (युयोधि) दूर कीजिए। इस कारण हम लोग (ते) आपकी (भूयिष्ठाम्) बहुत प्रकार की स्तुतिरूप (नमउक्तिम्) नम्रतापूर्वक प्रशंसा (विधेम) सदा किया करें, और सर्वदा आनन्द में रहें ॥८॥

इतीश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासनाप्रकरणम् ॥

अथ स्वस्तिवाचनम्[1]

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् ।
होतारं रत्नधातमम् ॥१॥
स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव ।
सचस्वा नः स्वस्तये ॥२॥ ऋ० मं० १ । सू० १ । मं० १, ९॥
स्वस्ति नो मिमीतामश्विना भगः स्वस्ति देव्यदितिरनर्वणः ।
स्वस्ति पूषा असुरो दधातु नः स्वस्ति द्यावापृथिवी सुचेतुना ॥३॥
स्वस्तये वायुमुप ब्रवामहै सोमं स्वस्ति भुवनस्य यस्पतिः ।
बृहस्पतिं सर्वगणं स्वस्तये स्वस्तय आदित्यासो भवन्तु नः ॥४॥
विश्वे देवा नो अद्या स्वस्तये वैश्वानरो वसुरग्निः स्वस्तये ।
देवा अवन्त्वृभवः स्वस्तये स्वस्ति नो रुद्रः पात्वंहसः ॥५॥
स्वस्ति मित्रावरुणा स्वस्ति पथ्ये रेवति ।
स्वस्ति न इन्द्रश्चाग्निश्च स्वस्ति नो अदिते कृधि ॥६॥
स्वस्ति पन्थामनु चरेम सूर्याचन्द्रमसाविव ।
पुनर्ददताघ्नता जानता सं गमेमहि[2] ॥७॥
ऋ० म० ५ । सू० ५१ ॥[3]

---

१. स्वस्तिवाचन के मन्त्रों के पदार्थ और भावार्थ के लिए हमारे 'वैदिक नित्यकर्म विधि' ग्रन्थ में पृष्ठ १०१—१३५ देखें ।

विशेष—अजमेर-मुद्रित 'संस्कारविधि' के २५ वें संस्करण में स्वस्तिवाचन शान्तिकरण के कुछ मन्त्रों का जो अर्थ छपा है, वह ऋ० द० के वेदभाष्य से लेकर छापा गया है । वह 'संस्कारविधि' का अंश नहीं है । प्रकाशक ने इस विषय में टिप्पणी भी नहीं दी । पाठकों के मन में भ्रम उत्पन्न करना अक्षम्य अपराध है ।

२. ऋग्वेद में पदान्त अनुस्वार को परसवर्ण नहीं होता । अतः 'सङ्गमेमहि' अजमेर-मुद्रित पाठ अशुद्ध है । द्वितीय संस्करण में अनुस्वारवाला शुद्ध पाठ है ।

३. ऋ० ५।५१।११-१५॥

ये देवानां यज्ञिया यज्ञियानां मनोर्यजत्रा अमृता ऋतज्ञाः ।
ते नो रासन्तामुरुगायमद्य यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥८॥
ऋ० मं० ७। सू० ३५॥[1]

येभ्यो माता मधुमत् पिन्वते पयः पीयूषं द्यौरदितिरद्रिबर्हाः ।
उक्थशुष्मान् वृषभरान्त्स्वप्नसस्ताँ आदित्याँ अनु मदा स्वस्तये ॥९॥

नृचक्षसो अनिमिषन्तो अर्हणा बृहद् देवासो अमृतत्वमानशुः ।
ज्योतीरथा अहिमाया अनागसो दिवो वर्ष्माणं वसते स्वस्तये ॥१०॥

सम्राजो ये सुवृधो यज्ञमाययुरपरिह्वृता दधिरे दिवि क्षयम् ।
ताँ आ विवास नमसा सुवृक्तिभिर्महो आदित्याँ अदितिं स्वस्तये ।११।

को वः स्तोमं राधति यं जुजोषथ विश्वे देवासो मनुषो यति ष्ठन ।
को वोऽध्वरं तुविजाता अरं करद्यो नः पर्षदत्यंहः स्वस्तये ।१२।

येभ्यो होत्रां प्रथमामायेजे मनुः समिद्धाग्निर्मनसा सप्त होतृभिः ।
त आदित्या अभयं शर्म यच्छत सुगा नः कर्त सुपथा स्वस्तये ।१३।

य ईशिरे भुवनस्य प्रचेतसो विश्वस्य स्थातुर्जगतश्च मन्तवः ।
ते नः कृतादकृतादेनसस्पर्यद्या देवासः पिपृता स्वस्तये ॥१४॥

भरेष्विन्द्रं सुहवं हवामहेऽहोमुचं सुकृतं दैव्यं जनम् ।
अग्निं मित्रं वरुणं सातये भगं द्यावापृथिवी मरुतः स्वस्तये ॥१५॥

सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसं सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम् ।
दैवीं नावं स्वरित्रामनागसमस्रवन्तीमा रुहेमा स्वस्तये ॥१६॥

विश्वे यजत्रा अधि वोचतोतये त्रायध्वं नो दुरेवाया अभिह्रुतः ।
सत्यया वो देवहूत्या हुवेम शृण्वतो देवा अवसे स्वस्तये ॥१७॥

---

१. ऋ० ७।३५।१५॥ अजमेर मुद्रित कतिपय संस्करणों में सूक्त से पूर्व 'अ० ३।' भी छपा है, वह व्यर्थ है। द्वितीय संस्करण में नहीं है।

अपामीवामप विश्वामनाहुतिमपारातिं दुर्विदत्रामघायतः ।
आरे देवा द्वेषो अस्मद् युयोतनोरु णः शर्म यच्छता स्वस्तये ।१८।
अरिष्टः स मर्त्तो विश्व एधते प्र प्रजाभिर्जायते धर्मणस्परि ।
यमादित्यासो नयथा सुनीतिभिरति विश्वानि दुरिता स्वस्तये ।१९।
यं देवासोऽवथ वाजसातौ यं शूरसाता मरुतो हिते धने ।
प्रातर्यावाणं रथमिन्द्र सानसिमरिष्यन्तमा रुहेमा स्वस्तये ।।२०।।
स्वस्ति नः पथ्यासु धन्वसु स्वस्त्य१प्सु वृजने स्वर्वति ।
स्वस्ति नः पुत्रकृथेषु योनिषु स्वस्ति राये मरुतो दधातन ।२१।
स्वस्तिरिद्धि प्रपथे श्रेष्ठा रेक्णस्वत्यभि या वाममेति ।
सा नो अमा सो अरणे नि पातु स्वावेशा भवतु देवगोपा ।।२२।।

ऋ० मं० १० । सू० ६३ ।।[1]

इषे त्वोर्जे त्वा वायव स्थ देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणऽ आप्यायध्वमघ्न्याऽ इन्द्राय भागं प्रजावतीरनमीवाऽ अयक्ष्मा मा व स्तेनऽ ईशत माघशꣳसो[2] ध्रुवाऽ अस्मिन् गोपतौ स्यात बह्वीर्यजमानस्य पशून् पाहि ।।२३।।

यजु० अ० १ । मं० १ ।।

आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतोऽदब्धासोऽअपरीतासऽ उद्भिदः ।
देवा नो यथा सदमिद्वृधेऽअसन्नप्रायुवो रक्षितारो दिवेदिवे ।।२४।।
देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयतां देवानाꣳ रातिरभि नो निवर्त्तताम् ।
देवानाꣳ सख्यमुपसेदिमा वयं देवा नऽ आयुः प्रतिरन्तु जीवसे ।२५।

---

१. ऋ० १०।६३।३–१६ ।।

२. ह्रस्व स्वर से परे दीर्घ ꣳकार और दीर्घ से परे ह्रस्व ꣳकार लिखने की प्राचीन परिपाटी है । यहां तदनुसार ही निर्देश किया है ।

तमीशानं जगतस्तस्थुषस्पतिं धियञ्जिन्वमवसे हूमहे वयम् ।
पूषा नो यथा वेदसामसद्वृधे रक्षिता पायुरदब्धः स्वस्तये ॥२६॥
स्वस्ति नऽ इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्योऽ अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ।२७।
भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाᳫंसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः ॥२८॥

यजु० अ० २५ । मं० १४, १५, १८, १९, २१ ॥

अग्न आ याहि वीतये गृणानो हव्यदातये ।
नि होता सत्सि बर्हिषि ॥२९॥
त्वमग्ने यज्ञानाᳫं होता विश्वेषाᳫं[1] हितः ।
देवेभिर्मानुषे जने ॥३०॥

साο छन्द आο प्रपा० १ ।[2] मन्त्र १, २ ।

ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः ।
वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो अद्य दधातु मे ॥३१॥

अथर्व० कां० १ । सू० १ । वर्ग १ । अनु० १ । प्रपा० १ । मं० १ ॥[3]

इति स्वस्तिवाचनम् ॥



---

१. सामवेद के कुछ संस्करणों और हस्तलेखों में यजुर्वेद के समान ᳫ देखा जाता है, कुछ में अनुस्वार ही मिलता है ।

२. अर्ध प्र० १. दशति १ । मन्त्र १, २ ।

३. अथर्ववेद में 'काण्ड सूक्त मन्त्र', 'प्रपाठक वर्ग मन्त्र' तथा 'काण्ड अनुवाक सूक्त मन्त्र' इस प्रकार तीन विभाग हैं । किसी भी एक विभाग के अनुसार पता दिया जा सकता है । यहां तीनों का संमिश्रण है । काण्ड सूक्त मन्त्र के क्रम से पता देने में सुगमता होती है । यहां का० १, सू० १, मं० १ जानना चाहिए ।

अथ शान्तिकरणम्[1]

शं न इन्द्राग्नी भवतामवोभिः शं न इन्द्रावरुणा रातहव्या ।
शमिन्द्रासोमा सुविताय शं योः शं न इन्द्रापूषणा वाजसातौ ॥१॥
शं नो भगः शमु नः शंसो अस्तु शं नः पुरन्धिः शमु सन्तु रायः ।
शं नः सत्यस्य सुयमस्य शंसः शं नो अर्यमा पुरुजातो अस्तु ॥२॥
शं नो धाता शमु धर्ता नो अस्तु शं न उरूची भवतु स्वधाभिः ।
शं रोदसी बृहती शं नो अद्रिः शं नो देवानां सुहवानि सन्तु ॥३॥
शं नो अग्निर्ज्योतिरनीको अस्तु शं नो मित्रावरुणावश्विना शम् ।
शं नः सुकृतां सुकृतानि सन्तु शं न इषिरो अभि वातु वातः ॥४॥
शं नो द्यावापृथिवी पूर्वहूतौ शमन्तरिक्षं दृशये नो अस्तु ।
शं न ओषधीर्वनिनो भवन्तु शं नो रजसस्पतिरस्तु जिष्णुः ॥५॥
शं न इन्द्रो वसुभिर्देवो अस्तु शमादित्येभिर्वरुणः सुशंसः ।
शं नो रुद्रो रुद्रेभिर्जलाषः शं नस्त्वष्टा ग्नाभिरिह शृणोतु ॥६॥

---

१. 'संस्कारविधि के द्वितीय संस्करण में 'शान्तिकरण' पाठ ही है, और तदनुसार ही आगे सर्वत्र 'शान्तिकरण' शब्द का ही उल्लेख है। हस्तलेखों में भी 'शान्तिकरण' पाठ ही सर्वत्र है। कर्मकाण्ड के प्राचीन ग्रन्थों में भी 'स्वस्तिवाचन' के साथ शान्तिकरण' का ही निर्देश मिलता है। 'संस्कारविधि' के तृतीय संस्करण में 'प्र' बढ़ाकर 'शान्तिप्रकरण' बना दिया, परन्तु आगे ग्रन्थ में सर्वत्र 'शान्तिकरण' पाठ ही छपा है। ग्रन्थ के मध्य में भी अनेक स्थानों पर 'शान्तिकरण' पाठ सप्तम संस्करण तक मिलता है। हमने 'शान्तिकरण' मूल पाठ ही रखा है।

शान्तिकरण के मन्त्रों का अर्थ हमारे 'वैदिक नित्यकर्म विधि' ग्रन्थ में पृष्ठ १३६—१६४ तक देखें। पूर्व पृष्ठ १ की टिप्पणी का विशेष अंश यहां भी द्रष्टव्य है।

शं नः सोमो भवतु ब्रह्म शं नः शं नो ग्रावाणः शमु सन्तु यज्ञाः ।
शं नः स्वरूणां मितयो भवन्तु शं नः प्रस्व१ः शम्वस्तु वेदिः ॥७॥

शं नः सूर्य उरुचक्षा उदेतु शं नश्चतस्रः प्रदिशो भवन्तु ।
शं नः पर्वता ध्रुवयो भवन्तु शं नः सिन्धवः शमु सन्त्वापः ॥८॥

शं नो अदितिर्भवतु व्रतेभिः शं नो भवन्तु मरुतः स्वर्काः ।
शं नो विष्णुः शमु पूषा नो अस्तु शं नो भवित्रं शम्वस्तु वायुः ॥९॥

शं नो देवः सविता त्रायमाणः शं नो भवन्तूषसो विभातीः ।
शं नः पर्जन्यो भवतु प्रजाभ्यः शं नः क्षेत्रस्य पतिरस्तु शम्भुः ॥१०

शं नो देवा विश्वदेवा भवन्तु शं सरस्वती सह धीभिरस्तु ।
शमभिषाचः शमु रातिषाचः शं नो दिव्याः पार्थिवाः शं नो अप्याः ॥

शं नः सत्यस्य पतयो भवन्तु शं नो अर्वन्तः शमु सन्तु गावः ।
शं न ऋभवः सुकृतः सुहस्ताः शं नो भवन्तु पितरो हवेषु ॥१२॥

शं नो अज एकपाद् देवो अस्तु शं नोऽहिर्बुध्न्य१ः शं समुद्रः ।
शं नो अपां नपात् पेरुरस्तु शं नः पृश्निर्भवतु देवगोपा ॥१३॥

ऋ० मं० ७ । सू० ३५ । मं० १-१३ ॥

इन्द्रो विश्वस्य राजति । शं नोऽअस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे ॥१४॥

शं नो वातः पवताꣳ शं नस्तपतु सूर्यः ।
शं नः कनिक्रदद्देवः पर्जन्योऽअभि वर्षतु ॥१५॥

अहानि शं भवन्तु नः शꣳ रात्रीः प्रति धीयताम् ।
शं नऽइन्द्राग्नी भवतामवोभिः शं नऽइन्द्रावरुणा रातहव्या ।
शं नऽइन्द्रापूषणा वाजसातौ शमिन्द्रासोमा सुविताय शं योः ॥१६॥

शं नो देवीरभिष्टयऽ आपो भवन्तु पीतये ।
शं योरभि स्रवन्तु नः ॥१७॥

द्यौः शान्तिरन्तरिक्षꣳ शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः । वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्वꣳ शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि ॥१८॥

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् । पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतं प्र ब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् ॥१९॥

य० अ० ३६ । मं० ८, १०–१२, १७, २४ ॥

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति ।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥२०॥

येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः ।
यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥२१॥

यत् प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु ।
यस्मान्नऽ ऋते किं चन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥२२॥

येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत् परिगृहीतममृतेन सर्वम् ।
येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥२३॥

यस्मिन्नृचः साम यजूꣳषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः ।
यस्मिंश्चित्तꣳ सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥२४॥

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिनऽ इव ।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥२५॥

यजु० अ० ३४ । मं० १-६ ॥

स नः पवस्व शं गवे शं जनाय शमर्वते ।
शᳬ राजन्नोषधीभ्यः ॥२६॥ साम० उत्तरा० प्रपा० १। मं० ३॥[1]

अभयं नः करत्यन्तरिक्षमभयं द्यावापृथिवी उभे इमे ।
अभयं पश्चादभयं पुरस्तादुत्तरादधरादभयं नो अस्तु ॥२७॥
अभयं मित्रादभयममित्रादभयं ज्ञातादभयं परोक्षात्[2] ।
अभयं नक्तमभयं दिवा नः सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु ॥२८॥
अथर्व कां० १९ । सू० १५ । मं० ५, ६ ॥

इति शान्तिकरणम् ॥[3]

---

१. उत्तरा० प्रपा० १ प्रथमार्ध । त्रिक १ । मं० ३ यह पूरा पता जानना चाहिए । २. यह पाठ राथ-ह्विटनी के संस्करणानुसार है ।

३. इस स्वस्तिवाचन और शान्तिकरण को सर्वत्र जहां-जहां प्रतीक धर, वहां-वहां करना होगा । द० स० ।

अथ सामान्यप्रकरणम्

नीचे लिखी हुई क्रिया सब संस्कारों में करनी चाहिए। परन्तु जहां-कहीं विशेष होगा, वहां सूचना कर दी जायेगी कि यहां पूर्वोक्त अमुक कर्म न करना, और इतना अधिक करना, स्थान-स्थान में जना दिया जायेगा।

यज्ञदेश—यज्ञ का देश पवित्र, अर्थात् जहां स्थल वायु शुद्ध हो, किसी प्रकार का उपद्रव न हो।

यज्ञशाला—इसी को 'यज्ञमण्डप' भी कहते है। यह अधिक से अधिक १६ सोलह हाथ सम चौरस चौकोण और न्यून से न्यून ८ आठ हाथ की हो। यदि भूमि अशुद्ध हो, तो यज्ञशाला की पृथिवी और जितनी गहरी वेदी बनानी हो, उतनी पृथिवी दो-दो हाथ खोद अशुद्ध [मट्टी] निकालकर उसमें शुद्ध मट्टी भरें। यदि १६ सोलह हाथ की सम चौरस हो तो चारों ओर २० खम्भे, और जो ८ आठ हाथ की हो तो १२ बारह खम्भे लगाकर उन पर छाया करें। वह छाया की छत्त वेदी की मेखला से १० दश हाथ ऊंची अवश्य होवे। और यज्ञशाला के चारों दिशा में ४ द्वार रक्खें, और यज्ञशाला के चारों ओर ध्वजा पताका पल्लव आदि बांधें। नित्य मार्जन तथा गोमय से लेपन करें; और कुंकुम हल्दी मैदा की रेखाओं से सुभूषित किया करें।

मनुष्यों को योग्य है कि सब मङ्गलकार्यों में अपने और पराये कल्याण के लिए यज्ञद्वारा ईश्वरोपासना करें। इसीलिए निम्नलिखित सुगन्धित आदि द्रव्यों की आहुति यज्ञकुण्ड में देवें।

यज्ञकुण्ड का परिमाण—जो लक्ष आहुति करनी हों, तो चार-चार हाथ का चारों ओर सम चौरस चौकोण कुण्ड ऊपर और उतना ही गहिरा और चतुर्थांश नीचे, अर्थात् तले में १ एक हाथ चौकोण लम्बा-चौड़ा रहे। इसी प्रकार जितनी आहुति करनी हों, उतना ही गहिरा-चौड़ा कुण्ड बनाना। परन्तु अधिक आहुतियों में दो-दो हाथ [अधिक] अर्थात् दो लक्ष आहुतियों में छः हस्त परिमाण का चौड़ा और सम चौरस कुण्ड बनाना। जो पचास हजार आहुति देनी हों, तो एक हाथ घटावे, अर्थात् तीन हाथ गहिरा-चौड़ा सम चौरस और

पौन हाथ नीचे। तथा पच्चीस हजार आहुति देनी हों, तो दो हाथ चौड़ा-गहिरा सम चौरस और आध हाथ नीचे। दश हजार आहुति तक इतना ही, अर्थात् दो हाथ चौड़ा-गहिरा सम चौरस और आध हाथ नीचे रखना। पांच हजार आहुति तक डेढ़ हाथ चौड़ा-गहिरा सम चौरस और साढ़े आठ अंगुल नीचे रहे। यह कुण्ड का परिमाण विशेष घृताहुति का है। यदि इसमें २५०० ढाई हजार आहुति मोहनभोग खीर और २५०० ढाई हजार घृत की देवें, तो दो ही हाथ का चौड़ा-गहिरा सम चौरस और आध हाथ नीचे कुण्ड रक्खे।

चाहे घृत की हजार आहुति देनी हों, तथापि सवा हाथ से न्यून चौड़ा-गहिरा सम चौरस और चतुर्थांश नीचे न बनावे। और इन कुण्डों में १५ पन्द्रह अंगुल की मेखला अर्थात् पांच-पांच अंगुल की ऊंची ३ तीन बनावे। और ये तीन मेखला यज्ञशाला की भूमि के तले से ऊपर करनी। प्रथम पांच अंगुल ऊंची और पांच अंगुल चौड़ी, इसी प्रकार दूसरी और तीसरी मेखला बनावें।

यज्ञसमिधा—पलाश, शमी, पीपल, बड़, गूलर, आंब विल्व आदि की समिधा वेदी के प्रमाणे छोटी-बड़ी कटवा लेवें। परन्तु ये समिधा कीड़ा लगीं मलिन-देशोत्पन्न और अपवित्र पदार्थ आदि से दूषित न हों। अच्छे प्रकार देख लेवें। और चारों ओर बराबर कर बीच में चुनें।

होम के द्रव्य चार प्रकार—(प्रथम—सुगन्धित) कस्तूरी, केशर, अगर, तगर, श्वेतचन्दन, इलायची, जायफल, जावित्री आदि। (द्वितीय - पुष्टिकारक) घृत, दूध, फल, कन्द, अन्न, चावल, गेहूं, उड़द आदि। (तीसरे – मिष्ट) शक्कर, सहत, छुवारे, दाख आदि। (चौथे—रोगनाशक) सोमलता अर्थात् गिलोय[1] आदि ओषधियां।

स्थालीपाक—नीचे लिखे विधि से भात खिचड़ी खीर लड्डू मोहनभोग आदि सब उत्तम पदार्थ बनावे। इसका प्रमाण—

ओ३म् देवस्त्वा सविता पुनात्वच्छिद्रेण पवित्रेण [वसो] सूर्यस्य रश्मिभिः॥[2]

---

१. 'सोमः गिलोय इति भाषा'। व्युत्पत्तिसार नामक उणादिवृत्ति, हमारा हस्तलेख पृ० ३८।

२. तै० स० १।२।१।२॥

इस मन्त्र का यह अभिप्राय है कि होम के सब द्रव्य को यथावत् शुद्ध कर लेना अवश्य चाहिये, अर्थात् सब को यथावत् शोध छान देख भाल सुधार कर करें। इन द्रव्यों को यथायोग्य मिलाके पाक करना। जैसे कि सेर भर घी[1] के मोहनभोग में रत्तीभर कस्तूरी, मासेभर केशर, दो मासे जायफल-जावित्री, सेरभर मीठा, सब डालकर मोहनभोग बनाना। इसी प्रकार अन्य मीठा भात खीर खीचड़ी[2] मोदक आदि होम के लिये बनावें।

चरु अर्थात् होम के लिये पाक बनाने का विधि—(ओम् अग्नये त्वा जुष्टं निर्वपामि[3]) अर्थात् जितनी आहुति देनी हों, प्रत्येक आहुति के लिये चार-चार मूठी चावल आदि ले के[4] **(ओम् अग्नये त्वा जुष्टं प्रोक्षामि[5])** अर्थात् अच्छे प्रकार जल से धोके पाकस्थाली में डाल अग्नि से पका लेवे। जब होम के लिये दूसरे पात्र में लेना हो, तभी नीचे लिखी आज्यस्थाली वा शाकल्यस्थाली में निकाल के यथावत् सुरक्षित रक्खें, और उस पर घृत सेचन करें।

[यज्ञपात्र]

यज्ञपात्र—विशेषकर चांदी, सोना[6] अथवा काष्ठ के पात्र होने चाहियें। निम्नलिखित प्रमाणे—

---

१. सभी मुद्रित संस्करणों में यहां 'मिश्री' पाठ है। दोनों हस्तलेखों में 'घी' पाठ है। कस्तूरी, केसर, जायफल, जीवित्री का जो परिमाण आगे लिखा है, वह भी सेर भर घी के मोहनभोग में ही युक्त हो सकता है। सेर भर मीठा' इसका आगे पुनः विधान होने से भी यहां घी पाठ ही युक्त है।

२. यज्ञ में लवण का निषेध होने से इसमें नमक नहीं डाला जायेगा।

३. तुलना करो—आश्व० गृह्य १।१०।६॥

४. प्रत्येक आहुति के लिए चार मुट्ठी चावल आदि लेकर जो हव्य पदार्थ बनाया जाता है, उसमें से केवल दो अंगुष्ठ पर्वमात्र हवि से आहुति दी जाती है। शेष हव्य पदार्थ ऋत्विग् और यजमान (पति-पत्नी) द्वारा भक्ष्य होता है।

५. यजु० १।१३॥

६. 'सोना' क, ख हस्तलेखों में है। यह आवश्यक है। आगे समिदाधान के मन्त्रों के पश्चात् की भाषा में तथा अन्त्येष्टि प्रकरण में 'ओमग्नये स्वाहा' से पूर्व के भाषा-सन्दर्भ (अन्त से ५ पङ्क्ति पूर्व) में भी सोने के पात्रों का उल्लेख मिलता है। पञ्चमहायज्ञविधि, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका तथा सत्यार्थप्रकाश समु० ३ में यज्ञपात्र के प्रसङ्ग में सोने का भी निर्देश है।

अथ पात्रलक्षणान्युच्यन्ते[1]—बाहुमात्र्यः पाणिमात्रपुष्कराः, षडङ्गुलखातास्त्वग्बिला हंसमुखप्रसेकाः, मूलदण्डाश्चतस्रः स्रुचो भवन्ति। तत्र पालाशी जुहूः, आश्वत्थ्युपभृत्, वैकङ्कती ध्रुवा, अग्निहोत्रहवणी च।

अरत्निमात्रः खादिरः स्रुवः, अङ्गुष्ठपर्वमात्रपुष्करः। तथाविधो द्वितीयो वैकङ्कतः स्रुवः।

वारणं बाहुमात्र मकराकारम्, अग्निहोत्रहवणीनिधानार्थं कूर्चम्।

अरत्निमात्रं खादिरं खड्गाकृति वज्रम्।

वारणान्यहोमसंयुक्तानि—तत्रोलूखलं नाभिमात्रम्। मुसलं शिरोमात्रम्। अथवा मुसलोलूखले वार्क्षे[2] सारदारुमये शुभे इच्छाप्रमाणे भवतः। तथा—

खादिरं मुसलं कार्यं पालाशः स्यादुलूखलः।
यद्वोभौ वारणौ कार्यौ तदभावेऽन्यवृक्षजौ॥

शूर्पं वैणवमेव वा, ऐषीकं[3] नलमयं वाऽचर्मबद्धम्।

प्रादेशमात्री वारणी शम्या।

कृष्णाजिनमखण्डम्।

---

१. आगे वक्ष्यमाण पात्रलक्षण किस ग्रन्थ से उद्धृत किए हैं, यह अज्ञात है। कात्यायन, आपस्तम्ब, शाङ्खायन आदि श्रौतसूत्रों तथा अन्य अर्वाचीन ग्रन्थों में इनका विधान मिलता है, परन्तु परिमाण में परस्पर कुछ भेद है।

ये पात्र 'संस्कारविधि' में प्रयुक्त नहीं होते, फिर भी ग्रन्थकार ने इनका यहां निर्देश किया है। इससे आचार्य का निर्देश व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है (तुलना करो—'व्यर्थं सञ्ज्ञापयत्याचार्यः' महाभाष्य में अनेकत्र) कि संस्कारविधि का यह सामान्यप्रकरण अन्य श्रौतयज्ञों की विधि का भी अङ्ग है। आचार्य स्वग्रन्थों में बहुत्र उद्धृत 'अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेधपर्यन्त' श्रौतयज्ञों का विधान भी बनाना चाहते थे, जिसें वे पूरा न कर सके। यहां पर उद्धत पात्र श्रौत दर्शपौर्णमास इष्टि में प्रयुक्त होते हैं।

२. 'वार्क्ष्ये' पाठ द्वितीय संस्करण में।

३. तृतीय संस्करण से 'ऐशीकं' पाठ छप रहा है, वह अशुद्ध है। द्वि० सं० का 'ऐषीकं' पाठ शुद्ध है।

दृषदुपले अश्ममये ।

वारणीं २४ [1]हस्तमात्रीं २२ अरत्निमात्रीं वा खातमध्यां मध्यसंगृहीतामिडापात्रीम् ।

अरत्निमात्राणि ब्रह्मयजमानहोतृपत्न्यासनानि ।

मुञ्जमयं त्रिवृतं व्याममात्रं योक्त्रम् ।

प्रादेशदीर्घे अष्टाङ्गुलायते षडङ्गुलखातमण्डलमध्ये पुरोडाशपात्र्यौ ।

प्रादेशमात्रं द्व्यङ्गुलपरीणाहं तीक्ष्णाग्रं शृतावदानम् ।

आदर्शाकारे चतुरस्रे वा प्राशित्रहरणे । तयोरेकमीषत्खातमध्यम् ।

षडङ्गुलं कङ्कतिकाकारमुभयतःखातं षडवत्तम्[2] ।

द्वादशाङ्गुलमर्द्धचन्द्राकारमष्टाङ्गुलोत्सेधमन्तर्द्धानकटम् ।

उपवेशोऽरत्निमात्रः ।

मुञ्जमयी रज्जुः ।

खादिरान् द्वादशाङ्गुलदीर्घान् चतुरङ्गुलमस्तकान् तीक्ष्णाग्रान् शङ्कून् ।

यजमानपूर्णपात्रं [3]पत्नीपूर्णपात्रं च द्वादशाङ्गुलदीर्घं चतुरङ्गुलविस्तारं चतुरङ्गुलखातम् ।

तथा प्रणीतापात्रञ्च ।

आज्यस्थाली द्वादशाङ्गुलविस्तृता प्रादेशोच्चा ।

---

१. हस्त शब्द से पूर्वनिर्दिष्ट २४ संख्या २४ अङ्गुल प्रमाण की बोधक है । २४ अंगुल का हस्त होता है । इसी प्रकार अरत्नि शब्द से पूर्वपठित २२ संख्या २२ अंगुल प्रमाण की बोधक है । बद्धमुष्टिररत्निः स्यात् (कोश) ।

२. 'षडवदात्तम्' पाठ सब संस्कारणों में है, परन्तु वह अशुद्ध है । पात्र का नाम 'षडवत्त' ही है । आगे चित्र के ऊपर 'षडवत्त' शब्द ही सब संस्करणों में छपा हुआ मिलता है ।

३. 'पत्नीपूर्णपात्रं' से लेकर 'अन्वाहार्यपात्रं' तक पाठ द्वितीय संस्करण में नहीं है । प्रतीत होता है कि दोनों शब्दों के अन्त में 'पात्रं' पाठ होने से अक्षर-संयोजक के दृष्टिदोष से पाठ छूट गया । वह तृतीय सं० में पूरा कर दिया गया ।

तथैव चरुस्थाली । अन्वाहार्यपात्रं[1] पुरुषचतुष्टयाहारपाक-पर्याप्तम् ।

समिदिध्मार्थं[2] पलाशशाखामयम् ।

कौशं बर्हिः । ऋत्विग्वरणार्थं कुण्डलाङ्गुलीयकवासांसि । पत्नीयजमानपरिधानार्थं क्षौमवासश्चतुष्टयम् ।

अग्न्याधेयदक्षिणार्थं चतुर्विंशतिपक्षे एकोनपञ्चाशद् गावः, द्वादशपक्षे पञ्चविंशतिः, षट्पक्षे त्रयोदश, सर्वेषु पक्षेषु आदित्येष्टौ धेनुः ।[3]

वरार्थं[4] चतस्रो गावः ।

---

१. द्र० पूर्व पृष्ठ २३ टि० ३ ।

२. यहां पाठभ्रंश प्रतीत होता है। आगे हिन्दी में लिखे विवरण के अनुसार 'समित्-इध्म-परिध्यर्थं' पाठ होना चाहिए ।

३. श्रौत अग्न्याधेय में पवमान पावक और आदित्यसंज्ञक तीन 'तनूहवि' नामक इष्टियां होती हैं । इनमें प्रथम दो इष्टियों की दक्षिणा का विधान करते हुए कात्यायन श्रौतसूत्र (४।१०।१२) में ६, १२, २४ गाएं दक्षिणा देने का विधान किया है । आचार्य ने इन्हें प्रति इष्टि दक्षिणा मानकर दूनी संख्या कही है । और कात्यायन श्रौतसूत्र ४।१०।१४ में निर्दिष्ट आदित्येष्टि (=अदितिदेवतावाली) की १ दक्षिणा मिला कर चौबीस पक्ष में ४९, बारह पक्ष में २५ और छ पक्ष में १३ गौएं दक्षिणा देने का विधान किया है। एक पक्ष यह भी है कि नियत संख्या से १ गाय अधिक देनी चाहिए। (का० श्रौ० ४।१०।१५)। तदनुसार आदित्येष्टि की गाय मिलाकर क्रमशः ५०, २६, १४ होती हैं। अर्थात् ४९, २५, १३ से आदित्येष्टि की दक्षिणा अलग गिनी जाती हैं। ग्रन्थ का 'सर्वेषु पक्षेषु आदित्येऽष्टौ धेनवः' मुद्रित पाठ भ्रष्ट है। दोनों हस्तलेखों में 'आदित्येऽष्टौ धेनुः' पाठ है। इसमें ऽ चिह्नमात्र व्यर्थ है। उसे हटाने से शेष पाठ शुद्ध हो जाता है। 'धेनुः' एकवचन के प्रयोग से एक ही धेनु प्रदेय है, यह भी स्पष्ट हो जाता है। अथवा यहां 'सर्वेषु पक्षेषु आदित्येष्टौ एका धेनुः' ऐसा विस्पष्ट पाठ होना चाहिए।

४. संस्कारचन्द्रिका में 'वरार्थं' के स्थान पर 'वरणार्थं' पाठ-शोधन दर्शाया है, यह ठीक नहीं है। अग्न्याधान कर्म में अग्न्याधान अनन्तर चारों ऋत्विजों को 'वरं ददाति' (का० श्रौ० ४।८।८) से वर=अभिलषित वस्तु

स्रुवः ४, अंगुल २४¹ शम्या प्रादेश १



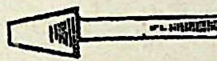
अरणी ४



उपल



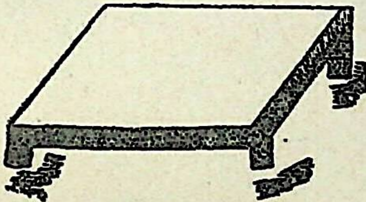
शृतावदान प्रादेशमात्र



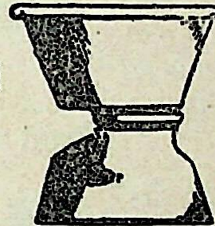
कूर्च बाहुमात्र १



पाटला ४, लम्बा २४ अंगुल



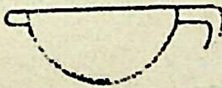
उलूखल नाभिमात्र



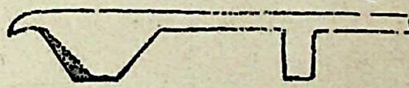
मुसल



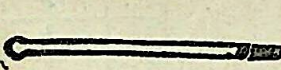
पूर्णपात्र अं० १२. चौड़ा अंगुल ६.



स्रुच सर्व ४. बाहुमात्र



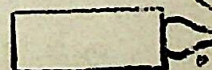
आभ्रि १. अं० २४



ओवली अ० १२



नेत्र अ० १२



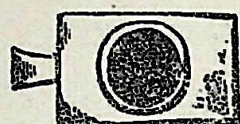
प्रदान करने का विधान किया है। 'गौर्ब्राह्मणस्य वरः' (पार० गृ० १।८।२५) नियमानुसार ब्राह्मण को गौ के वर का विधान है। अतः यहां चार ऋत्विजों के 'वर' के लिए चार गायों का विधान किया है। ऋत्विजों के वरणार्थ कुण्डल आदि का विधान पूर्व कर चुके हैं।

१. संस्कृतभाग में स्रुव का परिमाण अरत्नि लिखा है। अरत्नि २२ अंगुल का होता है। अतः 'अं० २४' के स्थान पर 'अं० २२' पाठ होना चाहिए। इसी प्रकार 'स्रुवः' ४ के स्थान में 'स्रुवः २' पाठ होना चाहिए। संस्कृतपाठ में २ स्रुव का ही विधान है।

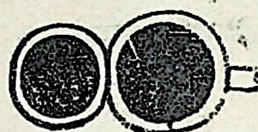
षडवत्त अं० २४



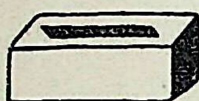
पुरोडाशपात्री



इडा अंगुल २४[1]



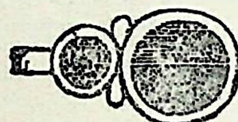
अंगुल ६ पोली अंगुल ४ ऊंची अधरारणी



प्राशित्रहरणे दर्पणाकार[2]



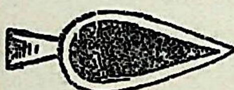
पिष्टपात्री



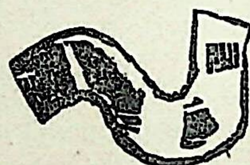
प्रणीता अं० १२



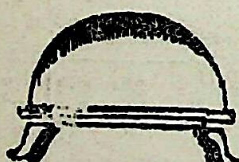
प्रोक्षणी अं० १२



अंगोछा २८ अं० लंबा



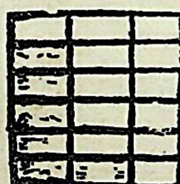
अन्तर्धान १, अं० १२



खांडा अंगुल २८



उत्तरारणी टुकड़ा १८

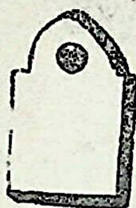
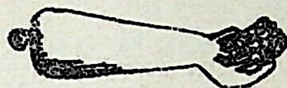
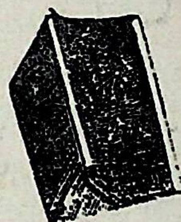


---

१. क. हस्तलेख में 'अंगुल २४' शुद्ध पाठ है। संस्कृत में २४ और २२ का विकल्प दर्शाया है। ख. हस्तलेख तथा अजमेर मुद्रित में 'अंगुल १२' अपपाठ है।

२. प्राशित्रहरण के समीप उसका ढक्कन है, अतः इसका परिमाण भी चित्र में उतना ही दिखाना चाहिये। प्राशित्रहरणे में द्विवंचन ऊपर नीचे के पात्रों की दृष्टि से है, वैसे दोनों मिलकर एक पात्र माना जाता है।

मूलेखात दृषद् | उर्वंशि १, अं० २४ | शूर्प

[1]समिध पलाश की १८हस्त [मात्र][2]।
इध्म[3] परिधि ३ पलाश की बाहुमात्र।
सामधेनी समित् प्रदेशमात्र। समीक्षण लेर ५[4]।
शाटी १। दृषदुपल[5] १, दीर्घ अंगुल १२, पृ० २७[6]।

---

१. यह पाठ ख. हस्तलेख वा संस्करण २ में यज्ञ के चित्रों के पीछे ही निर्दिष्ट है। तृतीय संस्करण में छपाई की सुविधा की दृष्टि से यज्ञपात्र-चित्रों से पूर्व कर दिया गया। तब से अब तक अस्थान में ही छप रहा है।

२. क. हस्तलेख में 'हस्तत्र' पाठ है। इसमें 'मा' शब्द लेखकप्रमाद से छूट गया है। ख. हस्तलेख में त्र' को काटकर '३' बना दिया है। उससे सारा पाठ अशुद्ध हो गया। कात्या० श्रौत १।३।१८ की विद्याधर शास्त्रीकृत टीका में इध्म=समित् का एक हाथ परिमाण ही लिखा है। अन्य आचार्य २ प्रादेश (११ × २=२२ अंगुल अरत्नि) प्रमाण मानते हैं।

३. ख. हस्तलेख और मुद्रित संस्करणों में '१८ हस्त ३ इध्म परिधि ३' पाठ है। इसके अनुसार यहां २४ संख्या होती है। कात्या० श्रौत १।३।१८ में १८ इध्म=समित् का विधान करके अगले १९वें सूत्र में अन्य (आपस्तम्ब) मत में २१ संख्या कही है। यहां वस्तुतः हमारे द्वारा उपरिनिर्दिष्ट क. हस्तलेख का पाठ ठीक है।

४. समीक्षण पद से यहां इध्म=समित् बांधने की रस्सी अभिप्रेत है। लेर ५=लड़ी ५। इध्म बांधने की रस्सी अयुग्म=३,५,७,९ लड़ीवाली बनाने का विधान है—'अयुग्धातूनि यूनानि।' का० श्रौ० १।३।१४॥

५. यहां केवल 'दृषद्' का निर्देश होना चाहिये। उपल का निर्देश आगे किया है।

६. यह पृष्ठ संख्या इस संस्करण की है। यहां संस्करण २ में 'पृष्ठ १५' का निर्देश है। पृष्ठ १५ पर दृषद् उपल का निर्देश नहीं है, वहां यज्ञ-समिधा

उपल अं० ६ ।

नेतु[1] व्याम=हाथ ४, त्रिवृत् तृण वा गोबाल का।

अथ ऋत्विग्वरणम्

यजमानोक्तिः—'ओमावसोः सदने सीद'[2] ।

इस मन्त्र का उच्चारण करके ऋत्विज् को कर्म कराने की इच्छा से स्वीकार करने के लिये प्रार्थना करे।

ऋत्विगुक्तिः—'ओं सीदामि' ।

ऐसा कहके जो उसके लिये आसन बिछाया हो उस पर बैठे।

यजमानोक्तिः—'अहमद्योक्तकर्मकरणाय भवन्तं वृणे' ।

ऋत्विगुक्तिः—'वृतोऽस्मि' ।

ऋत्विजों का लक्षण—अच्छे विद्वान् धार्मिक जितेन्द्रिय कर्म करने में कुशल निर्लोभ परोपकारी दुर्व्यसनों से रहित कुलीन सुशील वैदिक मत वाले वेदवित् एक दो तीन अथवा चार का वरण[3] करें।

का निर्देश है। यह संख्या कुछ संस्करणों में बदलती भी रही है। यथा संस्क० ७ में 'पृष्ठ सं० १७' दी है। हमारे विचार में संस्करण २ में निर्दिष्ट १५ पृष्ठ संख्या प्रेस कापी के उस पृष्ठ की संख्या है, जिस पर दृषद् का चित्र था। इसे न समझ कर उत्तर संस्करणों में परिवर्तन होता रहा है।

१. 'नेतु' यह प्रादेशिक भाषा का शब्द है। इसका अर्थ है—दही बिलौने की मथानी की रस्सी। इसे कहीं 'नेती' भी कहते हैं। इसका संस्कृत नाम 'नेत्र' है। अग्न्याधान में इससे अरणी-मन्थन किया जाता है। क. हस्तलेख में 'व्याम' शब्द है। मूल संस्कृत पाठ में भी 'व्याम' शब्द है। दोनों हाथ फैलाने पर जितना परिमाण होता है, वह 'व्याम' कहाता है। यह चार हाथ के बराबर होता है। अजमेर-मुद्रित संस्करणों में 'व्यास' पाठ मिलता है। 'व्यास' पाठ होने पर अर्थ होगा—'लम्बाई हाथ ४'।

२. तुलना—गोभिल गृह्य १।५।१५॥

३. कुछ प्रारम्भिक संस्करणों में 'वर्ण' अशुद्ध पाठ है।

जो एक हो तो उसका पुरोहित, और जो दो हों तो ऋत्विक् पुरोहित, और ३ तीन हों तो ऋत्विक् पुरोहित और अध्यक्ष, और जो चार हों तो होता अध्वर्यु उद्गाता और ब्रह्मा।

इनका आसन वेदी के चारों ओर, अर्थात् होता का वेदी से पश्चिम आसन पूर्व मुख, अध्वर्यु का उत्तर आसन दक्षिण मुख, उद्गाता का पूर्व आसन पश्चिम मुख, और ब्रह्मा का दक्षिण आसन उत्तर में मुख होना चाहिए। और यजमान का आसन पश्चिम में और वह पूर्वाभिमुख, अथवा दक्षिण में[1] आसन पर बैठके उत्तराभिमुख रहे। और इन ऋत्विजों को सत्कारपूर्वक आसन पर बैठाना, और वे प्रसन्नतापूर्वक आसन पर बैठें। और उपस्थित कर्म के विना दूसरा कर्म वा दूसरी बात कोई भी न करें।

[आचमन-अङ्गस्पर्श]

और अपने-अपने जलपात्र से सब जने, जो कि यज्ञ करने को बैठे हों, वे इन मन्त्रों से तीन-तीन आचमन करें, अर्थात् एक-एक से एक-एक वार आचमन करें। वे मन्त्र ये हैं—

[2]ओम् अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा ॥१॥ इससे एक,
ओम् अमृतापिधानमसि स्वाहा ॥२॥ इससे दूसरा,
ओं सत्यं यशः श्रीर्मयि श्रीः श्रयतां स्वाहा ॥३॥[3]

इससे तीसरा आचमन करके, तत्पश्चात् नीचे लिखे मन्त्रों से जल करके[4] अङ्गों का स्पर्श करें—

ओं वाङ् मऽआस्येऽस्तु ॥ इस मन्त्र से मुख,
ओं नसोर्मे प्राणोऽस्तु ॥ इन मन्त्र से नासिका के दोनों छिद्र,
ओम् अक्ष्णोर्मे चक्षुरस्तु ॥ इस मन्त्र से दोनों आंखें,

---

१. इस विकल्प की व्यवस्था इस प्रकार समझनी चाहिये—ग्रन्थकार के मतानुसार यदि यजमान आहुति दे, तो वह पश्चिम में बैठे। और यदि प्राचीन मतानुसार केवल त्यागमात्र करे ('इदं न मम' ही बोले) तो वह दक्षिण में बैठे।

२. यहां से लेकर 'इन्द्राय स्वाहा' तक के मन्त्रों का अर्थ 'वैदिक नित्यकर्मविधि पृष्ठ ८१—८५ तक देखें।

३. तुलना - आश्व० गृह्य १।२४।१२, २१, २२ ॥ वहां 'स्वाहा' पद नहीं है।

४. अर्थात् जल से।

ओं कर्णयोर्मे श्रोत्रमस्तु ॥ इस मन्त्र से दोनों कान,

ओं बाह्वोर्मे बलमस्तु ॥ इस मन्त्र से दोनों बाहु,

ओम् ऊर्वोर्मेऽओजोऽस्तु ॥ इस मन्त्र से दोनों जंघा। और

ओम् अरिष्टानि मेऽङ्गानि तनूस्तन्वा मे सह सन्तु ॥[१]

इन मन्त्र से दाहिने हाथ से जल स्पर्श करके मार्जन करना। [पुनः] पूर्वोक्त समिधाचयन वेदी में करें। पुनः—

[अग्न्याधान[२]]

ओं भूर्भुवः स्वः ॥[३]

इस मन्त्र का उच्चारण करके ब्राह्मण क्षत्रिय वा वैश्य के घर से अग्नि ला, अथवा घृत का दीपक जला, उससे कपूर में लगा, किसी एक पात्र में धर, उसमें छोटी-छोटी लकड़ी लगाके यजमान वा पुरोहित उस पात्र को दोनों हाथों से उठा, यदि गर्म हो तो चिमटे से पकड़कर अगले मन्त्र से अग्न्याधान करे। वह मन्त्र यह है—

ओं भूर्भुवः स्वर्द्यौरिव भूम्ना पृथिवीव वरिम्णा।
तस्यास्ते पृथिवि देवयजनि पृष्ठेऽग्निमन्नादमन्नाद्यायादधे ॥

यजु० अ० ३। मं० ५॥

इस मन्त्र से वेदी के बीच में अग्नि को धर, उस पर छोटे-छोटे काष्ठ और थोड़ा कपूर धर, अगला मन्त्र पढ़के व्यजन से अग्नि को प्रदीप्त करे—

ओम् उद्बुध्यस्वाग्ने प्रतिजागृहि त्वमिष्टापूर्ते सꣳसृजेथामयं च।
अस्मिन्त्सधस्थेऽ अध्युत्तरस्मिन् विश्वे देवा यजमानश्च सीदत ॥

यजुः अ० १५। मं० ५४॥

जब अग्नि समिधाओं में प्रविष्ट होने लगे, तब चन्दन की

---

१. द्रष्टव्य—पारस्कर गृह्य १।३।२५॥ अत्राह कर्कः—साकाङ्क्षत्वाद् 'अस्तु' इत्यध्याहारः। 'मे' इत्यस्य च सर्वत्रानुषङ्गः। अरिष्टानि मेऽङ्गानि तनूरित्यत्र 'सन्तु' इत्यध्याहारः। एतन्नियमे प्रतिमन्त्रं पाठकल्पना द्रष्टव्या।

२. आज्याहुतिपर्यन्त अग्न्याधान-सम्बन्धी मन्त्र हैं।

३. गोभिलगृह्य १।१।११॥

अथवा ऊपरलिखित पलाशादि की तीन लकड़ी आठ-आठ अंगुल की घृत में डुबा, उनमें से एक-एक निकाल नीचे लिखे एक-एक मन्त्र से एक-एक समिधा को अग्नि में चढ़ावें। वे मन्त्र ये हैं—

ओम् अयं त इध्म आत्मा जातवेदस्तेनेध्यस्व वर्धस्व चेद्ध वर्धय चास्मान् प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेनान्नाद्येन समेधय स्वाहा॥ इदमग्नये जातवेदसे—इदं न मम॥१॥[1]

इस मन्त्र से एक।

ओं समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम्।
आस्मिन् हव्या जुहोतन स्वाहा॥ इदमग्नये—इदं न मम॥२॥

इस से, और

ओं सुसमिद्धाय शोचिषे घृतं तीव्रं जुहोतन।
अग्नये जातवेदसे स्वाहा॥ इदमग्नये जातवेदसे—इदं न मम॥३॥

इस मन्त्र से अर्थात् इन दोनों मन्त्रों से दूसरी।

ओं तन्त्वा समिद्भिरङ्गिरो घृतेन वर्द्धयामसि। बृहच्छोचा यविष्ठ्य स्वाहा॥ इदमग्नयेऽङ्गिरसे—इदं न मम॥४॥

यजुः अ० ३। मं० १,२,३॥[2]

इस मन्त्र से तीसरी समिधा की आहुति देवे।

इन मन्त्रों से समिदाधान करके होम का शाकल्य, जो कि यथावत् विधि से बनाया हो, सुवर्ण[3] चांदी कांसा आदि धातु के पात्र अथवा

---

१. स्वाहा-पर्यन्त मन्त्र आश्व० गृह्य १।१०।१२॥ 'इदं · इदं न मम' अंश सर्वत्र मन्त्र से बहिर्भूत होता है। यह यज्ञ में स्वस्वत्व-निवृत्तिपूर्वक देवता-स्वत्वापादन के लिए यजमान द्वारा बोला जाता है।

२. यजुर्वेद में इन मन्त्रों के अन्त में 'स्वाहा' पद नहीं है। इसी प्रकार 'इद……इदन्न मम' भी पूर्ववत् मन्त्र से बहिर्भूत अंश है, ऐसे ही सर्वत्र समझें। स्वाहा पद का योग होने पर पूर्वपद के स्वर को हमने संहितास्वर के अनुसार कर दिया है।

३. द्र०—पृष्ठ २१ टि० ६।

काष्ठ-पाठ में वेदी के पास सुरक्षित धरें। पश्चात् उपरिलिखित घृतादि[1] जो कि उष्ण कर छान, पूर्वोक्त सुगन्ध्यादि पदार्थ मिलाकर पात्रों में रखा हो, उसमें से कम से कम ६ मासा भर घृत वा अन्य मोहनभोगादि जो कुछ सामग्री हो,[2] अधिक से अधिक छटांक भर की आहुति देवे, [यही] आहुति का प्रमाण है।

उस घृत में से चमसा, कि जिसमें छः मासा ही घृत आवे ऐसा बनाया हो, भरके नीचे लिखे मन्त्र से पांच आहुति देनी—

ओम् अयं त इध्म आत्मा जातवेदस्तेनेध्यस्व वर्धस्व चेद्ध वर्धय चास्मान् प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेनान्नाद्येन समेधय स्वाहा ॥ इदमग्नये जातवेदसे—इदं न मम ॥[3]

तत्पश्चात् वेदी के पूर्व दिशा आदि और अञ्जलि में जल लेके चारों ओर छिड़कावे। उसके ये मन्त्र हैं—

ओम् अदितेऽनुमन्यस्व ॥ इस मन्त्र से पूर्व।

ओम् अनुमतेऽनुमन्यस्व ॥ इससे पश्चिम।

ओं सरस्वत्यनुमन्यस्व ॥[4] इससे उत्तर ; और

ओं देव सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय।
दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतं नः पुनातु वाचस्पतिर्वाचं नः स्वदतु ॥

यजुः अ० ३० । मं० १ ॥

इस मन्त्र से वेदी के चारों ओर जल छिड़कावे।

इसके पश्चात् सामान्यहोमाहुति गर्भाधानादि प्रधान संस्कारों में अवश्य करें। इसमें मुख्य होम के आदि और अन्त में[5] जो आहुति दी जाती हैं, उनमें से यज्ञकुण्ड के उत्तर भाग में जो एक आहुति,

---

१. पूर्व पृष्ठ २० पर लिखित।

२. संस्करण ३ में पाठ इस प्रकार छपा मिलता है—०रखा हो, उस (घृत वा अन्य मोहनभोगादि जो कुछ सामग्री हो) में से कम से कम ६ मासा भर अधिक ०। शताब्दी संस्करण से अगले सं० में ( ) कोष्ठक हटा दिया गया।

३. द्र०—पृष्ठ ३१, टि० १।   ४. गोभिल गृह्य० १।३।१-३ ॥

५. अर्थात् 'आघाराहुति' प्रधान होम के आदि में तथा 'आज्यभागाहुति' प्रधान होम के अन्त में दी जाती हैं।

और यज्ञकुण्ड के दक्षिण भाग में दूसरी आहुति देनी होती है, उस का[1] नाम "आघारावाज्याहुति"[2] कहते हैं। और जो कुण्ड के मध्य में आहुतियां दी जाती हैं, उनका नाम "आज्यभागाहुति" कहते हैं। सो घृतपात्र में से स्रुवा को भर अंगूठा मध्यमा अनामिका से स्रुवा को पकड़के—

ओम् अग्नये स्वाहा ॥ इदमग्नये—इदं न मम ॥[3]

इस मंत्र से वेदी के उत्तर भाग अग्नि में।

ओं सोमाय स्वाहा ॥ इदं सोमाय—इदं न मम ॥[3]

इस मंत्र से वेदी के दक्षिण भाग में प्रज्वलित समिधा पर आहुति देनी। तत्पश्चात्—

ओं प्रजापतये स्वाहा ॥ इदं प्रजापतये—इदं न मम ॥[4]

ओम् इन्द्राय स्वाहा ॥ इदमिन्द्राय—इदं न मम ॥[5]

इन दोनों मन्त्रों[6] से वेदी के मध्य में दो आहुति देनी।

उसके पश्चात् चार आहुति अर्थात् आघारावाज्यभागाहुति

---

१. दो आहुतियां होने से 'उनका' पाठ होना चाहिए। आगे 'उनका नाम आज्य०' ऐसा ही निर्देश मिलता है।

२. यहां 'आघाराहुति' पाठ होना चाहिए।

३. यजु० १०। ५; २२। ६, २७॥ गोभिल गृह्य० १।८।५॥

४. यजु० २२।३२॥ ५. यजु० २२।६, २७॥

६. कर्मकाण्ड के प्राचीन आर्षग्रन्थों को, जिन्हें ऋषि दयानन्द प्रमाण मानते हैं, देखने से विन्दित होता है कि 'संस्कारविधि' में इस प्रकरण में 'आघाराहुति' और 'आज्यभागाहुति' के मन्त्र और उनकी आहुतियों से सम्बद्ध निर्देश की पंक्तियां ऊपर नीचे अस्थान में छप गई हैं। [द्र०—कात्या० श्रौत—पूर्वाघार (३।१।१२); उत्तराघार (३।२।१); आज्यभाग (३।३।१०) टीकाएं भी। आप० श्रौ० पूर्वाघार (२।१२।७); उत्तराघार (२।१४।१); आज्यभाग (२।१८।१,५,६) टीकाएं भी। आज्यभागाहुति—गोभिलगृह्य (१।८।४,५)]। इनमें प्रथम आघार के मन्त्र—

ओं प्रजापतये स्वाहा ॥ इदं प्रजापतये—इदं न मम ॥

ओम् इन्द्राय स्वाहा ॥ इदमिन्द्राय—इदं न मम ॥

'इन दो मन्त्रों से वेदी के मध्य भाग में दो आहुतियां देनी' पाठ होना

देके[1] जब प्रधान होम अर्थात् जिस-जिस कर्म में जितना-जितना होम करना हो करके, पश्चात् पूर्णाहुति [से पूर्व] पूर्वोक्त चार (आघारावाज्यभागा०[2]) देवें ।

[3]पुनः शुद्ध किये हुए उसी घृतपात्र[4] में से स्रुवा को भरके प्रज्वलित समिधाओं पर व्याहृति की चार आहुति देवें—

[5]ओं भूरग्नये स्वाहा ॥ इदमग्नये—इदं न मम ॥

ओं भुवर्वायवे स्वाहा ॥ इदं वायवे—इदं न मम ॥

ओं स्वरादित्याय स्वाहा ॥ इदमादित्याय—इदं न मम ॥

ओं भूर्भुवः स्वरग्निवाय्वादित्येभ्यः स्वाहा ॥ इदमग्नि-वाय्वादित्येभ्यः—इदं न मम ॥[6]

चाहिए, और पश्चात् आज्यभागाहुति से सम्बद्ध—

ओम् अग्नये स्वाहा ॥ इदमग्नये—इदं न मम ॥

इस मन्त्र से वेदी के उत्तर भाग में ।

ओम् सोमाय स्वाहा ॥ इदं सोमाय—इदं न मम ॥

इस मन्त्र से वेदी के दक्षिण भाग में······।

इसी प्रकार पाठ का वैपरीत्य इन मन्त्रों से पूर्व की भाषा में भी हो गया है । आघाराहुतियों तथा आज्यभागाहुतियों के स्थान और प्रकार के लिए हमारी 'वैदिक-नित्यकर्म-विधि' पृष्ठ ८६ देखें ।

१. यहां 'चार आहुति······देके' पाठ कोष्ठक में होना चाहिए । क्योंकि यह पाठ 'उसके पश्चात्' पाठ की व्याख्यारूप है ।

२. अर्थात् 'अग्नये स्वाहा, सोमाय स्वाहा, प्रजापतये स्वाहा, इन्द्राय स्वाहा' इन चार मन्त्रों से दी जानेवाली आहुतियां ।

३. यहां से लेकर सामान्य-प्रकरण के अन्त तक उन मन्त्रों वा आहुतियों का संग्रह है, जिनका अगले संस्कारों में यथास्थान निर्देश किया गया है । अर्थात् यहां क्रम विवक्षित नहीं है । द्र०—आगे पृष्ठ ३६ की 'परन्तु किस-किस······लिखेंगे' पङ्क्ति (६—८) ।

४. यहां 'उसी घृत में से' पाठ होना चाहिए । अथवा 'उसी घृतपात्र में रखे घृत में से' पाठ उचित है ।

५. यहां से लेकर 'भवतन्नः' पृष्ठ ३७ तक के मन्त्रों का अर्थ 'रामलाल कपूर ट्रस्ट' द्वारा प्रकाशित 'वैदिक नित्यकर्म विधि' पृष्ठ १६५-१७९ तक देखें ।

६. द्र०—महाव्याहृतिभिराज्येनाभिजुहुयात् ॥ गोभिल गृह्य० १।८।१४॥

ये चार घी की आहुति देकर, स्विष्टकृत् होमाहुति एक ही है, यह घृत की अथवा भात[1] की देनी चाहिए। उसका मन्त्र—

ओं यदस्य कर्मणोऽत्यरीरिचं यद्वा न्यूनमिहाकरम्।
अग्निष्टत्स्विष्टकृद्विद्यात् सर्वं स्विष्टं सुहुतं करोतु मे।
अग्नये स्विष्टकृते सुहुतहुते सर्वप्रायश्चित्ताहुतीनां कामानां समर्द्धयित्रे सर्वान्नः कामान्त्समर्द्धय स्वाहा॥ इदमग्नये स्विष्टकृते—इदं न मम॥[2]

इससे एक आहुति करके प्राजापत्याहुति करें। [यह] नीचे लिखे मन्त्र को मन में बोलके देनी चाहिए—

ओं प्रजापतये स्वाहा॥ इदं प्रजापतये—इदं न मम॥[3]

इससे मौन करके एक आहुति देकर ४ चार आज्याहुति घृत की देवें। परन्तु जो[4] नीचे लिखी आहुति चौल समावर्त्तन और विवाह में मुख्य हैं, वे चार मन्त्र ये हैं—

ओं भूर्भुवः स्वः। अग्न आयूंषि पवस आ सुवोर्जमिषं च नः।
आरे बाधस्व दुच्छुनां स्वाहा॥इदमग्नये पवमानाय—इदं न मम॥१॥
ओं भूर्भुवः स्वः। अग्निर्ऋषिः पवमानः पाञ्चजन्यः पुरोहितः।
तमीमहे महागयं स्वाहा॥ इदमग्नये पवमानाय—इदं न मम॥२॥
ओं भूर्भुवः स्वः। अग्ने पवस्व स्वपा अस्मे वर्चः सुवीर्यम्।
दधद्रयिं मयि पोषं स्वाहा॥ इदमग्नये पवमानाय—इदं न मम॥३॥
ऋ० मं० ९। सू० ६६। मं० १९-२१[5]॥

---

१. यह पाकद्रव्य का उपलक्षण है।

२. आश्व० १।१०।२२। वहां 'विद्यात्' के स्थान में 'विद्वान्' पाठ मिलता है। कलकत्तामुद्रित एक प्राचीन संस्करण में 'विद्यात्' यह भी पाठ मिलता है।

३. द्र०—पार० गृह्य० १।११।३॥

४. यहां 'ये' पाठ उचित प्रतीत होता है, ये=४ आज्याहुति। आगे भी "अष्टाहुति, ये निम्नलिखित मन्त्रों से" पाठ में 'ये' पाठ ही है।

५. इन मन्त्रों तथा अगले मन्त्र के आरम्भ में पठित 'भूर्भुवः स्वः' अंश और अन्त में पठित 'स्वाहा। इदं...इदन्न मम' अंश मूल मन्त्र से बहिर्भूत है।

ओं भूर्भुवः स्वः । प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव । यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणां स्वाहा ॥ इदं प्रजापतये--इदं न मम ॥४॥

ऋ० मं १० । सू० १२१ । मं० १० ॥

इनसे घृत की ४ चार आहुति करके "अष्टाज्याहुति" ये निम्नलिखित मन्त्रों से सर्वत्र मङ्गल-कार्यों में ८ आठ आहुति देवें । परन्तु किस-किस संस्कार में कहां-कहां देनी चाहिये, यह विशेष बात उस-उस संस्कार में लिखेंगे । वे ८ आठ आहुति-मन्त्र ये हैं—

ओं त्वं नो अग्ने वरुणस्य विद्वान् देवस्य हेळोऽव यासिसीष्ठाः । यजिष्ठो वह्नितमः शोशुचानो विश्वा द्वेषांसि प्र मुमुग्ध्यस्मत् स्वाहा ॥ इदमग्नीवरुणाभ्याम्--इदं न मम ॥१॥

ओं स त्वं नो अग्नेऽवमो भवोती नेदिष्ठो अस्या उषसो व्युष्टौ । अव यक्ष्व नो वरुणं रराणो वीहि मृळीकं सुहवो न एधि स्वाहा ॥ इदमग्नीवरुणाभ्याम्—इदं न मम ॥२॥

ऋ० मं० ४ । सू० १ । मं ४,५ ॥[1]

ओम् इमं मे वरुण श्रुधी हवमद्या च मृळय । त्वामवस्युराचके स्वाहा ॥ इदं वरुणाय--इदं न मम ॥३॥

ऋ० मं० १ । सू० २५ । मं० १९ ॥[1]

ओं तत्त्वा यामि ब्रह्मणा वन्दमानस्तदा शास्ते यजमानो हविर्भिः । अहेळमानो वरुणेह बोध्युरुशंस मा न आयुः प्र मोषीः स्वाहा ॥ इदं वरुणाय--इदं न मम ॥४॥

ऋ० मं० १ । सू० २४ । मं० ११ ॥[1]

ओं ये ते शतं वरुण ये सहस्रं यज्ञियाः पाशा वितता महान्तः । तेभिर्नो अद्य सवितोत विष्णुर्विश्वे मुञ्चन्तु मरुतः स्वर्काः स्वाहा ॥

---

१. यहां 'स्वाहा । इदं···इदं न मम' अंश मूल मन्त्र से बहिर्भूत है ।

इदं वरुणाय सवित्रे विष्णवे विश्वेभ्यो देवेभ्यो मरुद्भ्यः स्वर्केभ्यः—इदं न मम ॥५॥[1]

ओम् अयाश्चाग्नेऽस्यनभिशस्तिपाश्च सत्यमित्त्वमयासि। अया नो यज्ञं वहास्यया नो धेहि भेषजꣳ स्वाहा ॥ इदमग्नये अयसे—इदं न मम ॥६॥[2]

ओम् उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं श्रथाय। अथा वयमादित्य व्रते तवानागसो अदितये स्याम स्वाहा ॥ इदं वरुणायाऽऽदित्यायाऽदितये च—इदं न मम ॥७॥

ऋ० मं १। सू० २४। मं० १५॥[3]

ओं भवतन्नः समनसौ सचेतसावरेपसौ। मा यज्ञꣳ हिꣳसिष्टं मा यज्ञपतिं जातवेदसौ शिवौ भवतमद्य नः स्वाहा॥ इदं जातवेदोभ्याम्—इदं न मम ॥८॥ यजुः अ० ५। मं० ३॥[3]

सब संस्कारों में मधुर स्वर से मन्त्रोच्चारण यजमान ही करे। न शीघ्र न विलम्ब से उच्चारण करे, किन्तु मध्य भाग जैसा कि जिस वेद का उच्चारण है, करे। यदि यजमान न पढ़ा हो, तो इतने मन्त्र तो अवश्य पढ़ लेवे। यदि कोई कार्यकर्ता जड़ मन्दमति काला अक्षर भैंस बराबर जानता हो, तो वह शूद्र है। अर्थात् शूद्र मन्त्रोच्चारण में असमर्थ हो, तो पुरोहित और ऋत्विज् मन्त्रोच्चारण करे, और कर्म उसी मूढ़ यजमान के हाथ से करावे। पुनः निम्नलिखित मन्त्र से पूर्णाहुति करे। स्रुवा को घृत से भरके—

ओं सर्वं वै पूर्णꣳ स्वाहा॥

इस मन्त्र से एक आहुति देवे। ऐसे दूसरी और तीसरी आहुति दे के, जिसको दक्षिणा देनी हो देवे, वा जिसको जिमाना हो जिमा, दक्षिणा देके सब को विदा कर स्त्रीपुरुष हुतशेष घृत, भात वा मोहनभोग को प्रथम जीमके पश्चात् रुचिपूर्वक उत्तमान्न का भोजन करें।[4]

---

१. कात्यायन श्रौत० २५।१।११॥ 'इदं वरुण ··मम' अंशरहित पाठ है।

२. कात्यायन श्रौत० २५।१।११॥ 'इदमग्न ···· मम' से रहित पाठ है।

३. यहां 'स्वाहा···इदं न मम' अंश मूल मन्त्र से बहिर्भूत है।

४. 'दक्षिणा देना, जिमाना, विदा करना और स्वयं भोजन करना' कार्य

मङ्गलकार्य

अर्थात् गर्भाधानादि संन्यास-संस्कार पर्यन्त पूर्वोक्त [कार्य] और निम्नलिखित सामवेदोक्त वामदेव्यगान अवश्य करें[1]। वे मन्त्र ये हैं—

१ २उ ३क २र १ २ ३ १र २र ३ २ ३ १ ३ २ १ २
ओं भूर्भुवः स्वः। कया नश्चित्र आ भुवदूती सदावृधः सखा।
२ ३ १ २ ३ २
कया शचिष्ठया वृता ॥१॥[2]

१ २उ ३क २र १ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ १ २
ओं भूर्भुवः स्वः। कस्त्वा सत्यो मदानां मꣳहिष्ठो मत्सदन्धसः।
३ १ २ ३ २ ३ १ २
दृढा चिदारुजे वसु ॥२॥

१ २उ ३क २र ३ २उ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
ओं भूर्भुवः स्वः। अभी षु णः सखीनामविता जरितॄणाम्।
३ १ २ ३ १ २
शतं भवास्यूतये ॥३॥

महावामदेव्यम्—[3]

३ र ४ २ ४र ५ १ र २ १र
काऽ५या। नश्चा३ यित्रा३ आभुवात्। ऊ। ती सदा-
२ १ २ र२ १ २ र २
वृधः स। खा। औ३ होहायि। कया२३ शचायि। ष्ठयौहो३।
१ २
हुंमा२। वाऽ२र्तो३ऽ५हायि॥(१)॥

१ र ४ २ ४ ५ १ २र १ २
काऽ५स्त्वा। सत्यो३मा३दानाम्। मा। हिष्ठोमात्सादन्ध।

आगे लिखे 'महावामदेव्यगान' के पश्चात् किया जाता है, ऐसा समझना चाहिए। 'पाठक्रमादर्थक्रमो बलीयान्' यह मीमांसकों का न्याय है।

१. द्रष्टव्य—अपवृक्ते कर्मणि वामदेव्यगानं शान्त्यर्थं शान्त्यर्थम्॥
गोभिल गृह्य १।९।२५॥

२. अजमेर मुद्रित संस्करणों में यहां तीनों मन्त्रों के आरम्भ में पठित 'ओं भूर्भुवः स्वः' पर ऋग्वेदानुसारी स्वरचिह्न थे। हमने उनके स्थान पर सामवेदीय मन्त्रों के समान सामवेदानुसारी स्वरचिह्न दे दिए हैं।

३. इस गान के डेढ़ मन्त्र में 'इत्रा' 'चाइ' 'हाइ' ऐसा पूर्व संस्करणों में छपा है। अगले डेढ़ मन्त्र में 'हायि' 'जरायि' ऐसा यकार सहित इकार है।

सा । औ३होहायि । इढा२३ चिदा । रुजौहो३ । हुंमा२ । वाऽ२३ओ३ऽ५हायि ॥(२)॥

आऽ५भी । षुणा३: सा३खीनाम् । आ । विता जरायि तृ । णाम् । औ२३ हो हायि । शता२३म्भवा । सियोहो३ हुंमा२ । ताऽ२ यो३ऽ५हायि ॥(३)॥

साम० उत्तरार्चिके । अध्याये १ । खं० ४ ।[1] मं० १, २, ३ ॥[2]

यह वामदेव्यगान होने के पश्चात् गृहस्थ स्त्रीपुरुष कार्यकर्त्ता सद्धर्मी लोकप्रिय परोपकारी सज्जन विद्वान वा त्यागी पक्षपातरहित संन्यासी, जो सदा विद्या की वृद्धि और सबके कल्याणार्थ वर्तनेवाले हों, उनको नमस्कार, आसन, अन्न, जल, वस्त्र, पात्र, धन आदि के दान से उत्तम प्रकार से यथासामर्थ्य सत्कार करें। पश्चात् जो कोई देखने ही के लिये आये हों, उनको भी सत्कारपूर्वक विदा कर दें।

अथवा[3] जो संस्कार-क्रिया को देखना चाहें, वे पृथक्-पृथक् मौन करके बैठे रहें, कोई बात-चीत हल्ला-गुल्ला न करने पावें। सब लोग ध्यानावस्थित प्रसन्नवदन रहें। विशेष कर्मकर्त्ता और कर्म करानेवाले शान्ति धीरज और विचारपूर्वक क्रम से कर्म करें और करावें।

यह सामान्य विधि अर्थात् सब संस्कारों में कर्तव्य है।

इति सामान्यप्रकरणम् ॥

हमने एकरूपता के लिए 'धित्रा' 'चायि' 'हायि' ऐसा पाठ कर दिया है। हस्तलिखित ग्रन्थों में ऐसे स्थानों पर तीन प्रकार का पाठ मिलता है—'इ' 'ई' 'यि'। यह भेद शाखाभेद से व्यवस्थित है।

१. द्वितीय संस्करण तथा कतिपय अन्य संस्करणों में 'खं ३' छपा है, वह अशुद्ध है। खण्ड से आगे 'त्रिक ३' पाठ भी चाहिए।

२. पूर्वत्र स्वस्तिवाचन वा शान्तिकरण में सामवेदीय मन्त्रों का पता प्रपाठकानुसार दिया है। तदनुसार यहां 'उत्तरार्चिक प्रपा० १, त्रिक १२, म० १-३ ॥' जानना चाहिए।

३. 'अथवा' पद का प्रयोजन विचारणीय है, 'अथ च' पाठ युक्त हो सकता है। अगला निर्देश सामान्य दर्शक वा कार्यकर्त्ता के लिए है।

अथ गर्भाधानविधिं वक्ष्यामः

निषेकादिश्मशानान्तो मन्त्रैर्यस्योदितो विधिः ।

मनुस्मृति-द्वितीयाध्याये, श्लोक १६ ॥

अर्थः—मनुष्यों के शरीर और आत्मा के उत्तम होने के लिये निषेक अर्थात् गर्भाधान से लेके श्मशानान्त अर्थात् अन्त्येष्टि =मृत्यु के पश्चात् मृतक शरीर का विधिपूर्वक दाह करने पर्यन्त १६ संस्कार होते हैं ।

शरीर का आरम्भ गर्भाधान और शरीर का अन्त भस्म कर देने तक सोलह प्रकार के उत्तम संस्कार करने होते हैं । उनमें से प्रथम गर्भाधान संस्कार है ।

'गर्भाधान'[2] उसको कहते हैं कि जो **"गर्भस्याऽऽधानं वीर्य-स्थापनं स्थिरीकरणं यस्मिन् येन वा कर्मणा, तद् गर्भाधानम्"** गर्भ का धारण अर्थात् वीर्य का स्थापन गर्भाशय में स्थिर करना जिससे होता है ।

जैसे बीज और क्षेत्र के उत्तम होने से अन्नादि पदार्थ भी उत्तम होते हैं, वैसे उत्तम बलवान् स्त्रीपुरुषों से [उत्पन्न] सन्तान भी उत्तम होते हैं । इससे पूर्णयुवावस्था [पर्यन्त] यथावत् ब्रह्मचर्य का पालन और विद्याभ्यास करके अर्थात् न्यून से न्यून १६ वर्ष की कन्या और २५ पच्चीस वर्ष का पुरुष अवश्य हो, और इससे अधिक वयवाले होने से अधिक उत्तमता होती है । क्योंकि विना सोलहवें वर्ष के गर्भाशय में बालक के शरीर को यथावत् बढ़ने के लिए अवकाश और गर्भ के

---

१. यहां से आगे वैदिक यन्त्रालय अजमेर मुद्रित १८ वें संस्करण से लेकर उत्तरवर्ती संस्करणों में बहुत अधिक पाठभेद मिलता है । हमने द्वितीय संस्करण के पाठ को प्रामाणिक माना है । यही पाठ साधारण पाठ-भेदों के साथ १७वें संस्करण तक छपा है । अजमेर-मुद्रित २५ वें संस्करण में पाठ ठीक करने पर भी संस्करण २ के समान यथावत् नहीं किया ।

२. गर्भाधान का ही पुत्रेष्टि नाम भी है । द्र०—**पुत्रेष्टिरीत्या ऋतुप्रदानं च कर्तव्यम् ।** ऋ० भा० भू० पृष्ठ १२०, रा० ला० क० ट्रस्ट संस्करण ।

धारण-पोषण का सामर्थ्य कभी नहीं होता। और २५ पच्चीस वर्ष के विना पुरुष का वीर्य भी उत्तम नहीं होता। इसमें यह प्रमाण है—

पञ्चविंशे ततो वर्षे पुमान् नारी तु षोडशे।
समत्वागतवीर्यौ तौ जानीयात् कुशलो भिषक् ॥१॥
सुश्रुते सूत्रस्थाने, अ० ३५[1] ॥

ऊनषोडशवर्षायाम् अप्राप्तः पञ्चविंशतिम्।
यद्याधत्ते पुमान् गर्भं कुक्षिस्थः स विपद्यते ॥२॥
जातो वा न चिरं जीवेज्जीवेद्वा दुर्बलेन्द्रियः।
तस्मादत्यन्तबालायां गर्भाधानं न कारयेत् ॥३॥
सुश्रुते शारीरस्थाने, अ० १० ॥[2]

ये सुश्रुत के श्लोक हैं। शरीर की उन्नति वा अवनति का विधि जैसा वैद्यकशास्त्र में है, वैसा अन्यत्र नहीं। जो उसका मूल विधान है,[3] [वह] आगे वेदारम्भ में लिखा जायेगा, अर्थात् किस-किस वर्ष में कौन-कौन धातु किस-किस प्रकार का कच्चा वा पक्का, वृद्धि वा क्षय को प्राप्त होता है, यह सब वैद्यकशास्त्र में विधान है। इसलिये गर्भाधानादि संस्कारों के करने में वैद्यकशास्त्र का आश्रय विशेष लेना चाहिए।

अब देखिये सुश्रुतकार परमवैद्य कि जिनका प्रमाण सब विद्वान् लोग मानते हैं, वे विवाह और गर्भाधान का समय न्यून से न्यून १६ वर्ष की कन्या और २५ पच्चीस वर्ष का पुरुष अवश्य होवे, यह लिखते हैं।

जितना सामर्थ्य २५ पच्चीसवें वर्ष में पुरुष के शरीर में होता है, उतना ही सामर्थ्य १६ सोलहवें वर्ष में कन्या के शरीर में हो जाता है। इसलिये वैद्य लोग पूर्वोक्त अवस्था में दोनों को समवीर्य अर्थात् तुल्य सामर्थ्यवाले जानें ॥१॥

सोलह वर्ष से न्यून अवस्था की स्त्री में २५ पच्चीस वर्ष से कम अवस्था का पुरुष यदि गर्भाधान करता है, तो वह गर्भ उदर में ही विगड़ जाता है ॥२॥

और जो उत्पन्न भी हो तो अधिक नहीं जीवे, अथवा कदाचित्

---

१. श्लोक १० ॥ २. श्लोक ४७-४८ ॥
३. 'है' पद हस्तलेख वा द्वि० सं० में नहीं है, तृतीय में है।

जीवे भी, तो उसके अत्यन्त दुर्बल शरीर और इन्द्रिय हों। इसलिए अत्यन्त बाला अर्थात् सोलह वर्ष की अवस्था से कम अवस्था की स्त्री में कभी गर्भाधान नहीं करना चाहिये ॥३॥

चतस्रोऽवस्थाः शरीरस्य वृद्धिर्यौवनं संपूर्णता किञ्चित्परिहाणिश्चेति । आषोडशाद् वृद्धिराचतुर्विंशतेर्यौवनमाचत्वारिंशतः संपूर्णता ततः किञ्चित्परिहाणिश्चेति ॥[1]

अर्थः—सोहलवें वर्ष से आगे मनुष्य के शरीर के सब धातुओं की वृद्धि और पच्चीसवें वर्ष से युवावस्था का आरम्भ, चालीसवें वर्ष में युवावस्था की पूर्णता अर्थात् सब धातुओं की पूर्णपुष्टि, और उससे आगे किंचित्-किंचित् धातु वीर्य की हानि होती है, अर्थात् ४०चालीसवें वर्ष सब अवयव पूर्ण हो जाते हैं। पुनः खान-पान से जो उत्पन्न वीर्य धातु होता है, वह कुछ-कुछ क्षीण होने लगता है।

इससे यह सिद्ध होता है कि यदि शीघ्र विवाह करना चाहें तो कन्या १६वर्ष की और पुरुष २५पच्चीस वर्ष का अवश्य होना चाहिये। मध्यम समय कन्या का २० वर्ष पर्यन्त और पुरुष का ४० चालीसवां वर्ष, और उत्तम समय कन्या का २४ चौबीस वर्ष और पुरुष का ४८ अड़तालीस वर्ष पर्यन्त का है।

जो अपने कुल की उत्तमता, उत्तम सन्तान, दीर्घायु, सुशील, बुद्धि बल पराक्रमयुक्त, विद्वान् और श्रीमान् करना चाहें, वे १६ सोलहवें वर्ष से पूर्व कन्या और २५ पच्चीसवें वर्ष से पूर्व पुत्र का विवाह कभी न करें। यही सब सुधार का सुधार, सब सौभाग्यों का सौभाग्य और सब उन्नतियों की उन्नति करनेवाला कर्म है कि इस

---

१. तुलना—सुश्रुत सूत्रस्थान अ० ३५, २५॥ सुश्रुत में सम्प्रति उपलब्ध पाठ इससे भिन्न है। ऋषि दयानन्द ने यही पाठ सं० वि० प्रथम संस्करण पृष्ठ १०१; द्वितीय संस्करण पृष्ठ ८३ (वेदारम्भ संस्कार में); सत्यार्थ-प्रकाश समु० ३ और पूना-प्रवचन(व्याख्यान ३ पृष्ठ२२ रा० ला० क० ट्र० सं०)में भी उद्धृत किया है। इन स्थानों में 'आपञ्चविंशते०' पाठ है। यहां भाषार्थ में 'पच्चीसवें वर्ष से' पाठ होने से प्रतीत होता है कि 'आचतुर्विंशतेः' पाठ मुद्रण-प्रमाद जन्य है। सुश्रुत का एक प्राचीन पाठ और है, जो प्राचीन ग्रन्थों में वृद्ध-सुश्रुत के नाम से उद्धृत मिलता है। यह पाठ अभी तक छपा नहीं है, उसे देखना चाहिए।

अवस्था में ब्रह्मचर्य रखके अपने सन्तानों को विद्या और सुशिक्षा ग्रहण करावें कि जिससे उत्तम सन्तान होवें ।

ऋतुदान का काल

ऋतुकालाभिगामी स्यात् स्वदारनिरतस्सदा ।
पर्ववर्जं व्रजेच्चैनां तद्व्रतो रतिकाम्यया ॥१॥

ऋतुः स्वाभाविकः स्त्रीणां रात्रयः षोडश स्मृताः ।
चतुर्भिरितरैः सार्द्धमहोभिः सद्विगर्हितैः ॥२॥

तासामाद्याश्चतस्रस्तु निन्दितैकादशी च या ।
त्रयोदशी च शेषास्तु प्रशस्ता दश रात्रयः ॥३॥

युग्मासु पुत्रा जायन्ते स्त्रियोऽयुग्मासु रात्रिषु ।
तस्माद्युग्मासु पुत्रार्थी संविशेदार्त्तवे स्त्रियम् ॥४॥

पुमान् पुंसोऽधिके शुक्रे स्त्री भवत्यधिके स्त्रियाः ।
समे पुमान् पुंस्त्रियौ वा क्षीणेऽल्पे च विपर्ययः ॥५॥
निन्द्यास्वष्टासु चान्यासु स्त्रियो रात्रिषु वर्जयन् ।
ब्रह्मचार्येव भवति यत्र तत्राश्रमे वसन् ॥६॥
मनुस्मृतौ अ० ३ ॥[1]

अर्थः—मनु आदि महर्षियों ने ऋतुदान के समय का निश्चय इस प्रकार से किया है कि सदा पुरुष ऋतुकाल में स्त्री का समागम करे, और अपनी स्त्री के विना दूसरी स्त्री का सर्वदा त्याग रक्खे । वैसे स्त्री भी अपने विवाहित पुरुष को छोड़के अन्य पुरुषों से सदैव पृथक् रहे । जो स्त्रीव्रत अर्थात् अपनी विवाहित स्त्री ही से प्रसन्न रहता है, जैसे कि पतिव्रता स्त्री अपने विवाहित पुरुष को छोड़ दूसरे पुरुष का संग कभी नहीं करती, वह पुरुष जब ऋतुदान देना हो, तब पर्व अर्थात् जो उन ऋतुदान के १६ सोलह दिनों में पौर्णमासी, अमावास्या, चतुर्दशी वा अष्टमी आवे, उसको छोड़ देवे । इनमें स्त्री-पुरुष रतिक्रिया कभी न करें ॥१॥

स्त्रियों का स्वाभाविक ऋतुकाल १६ सोलह रात्रि का है, अर्थात् रजोदर्शन दिन से लेके १६ सोहलवें दिन तक ऋतु समय है । उनमें से प्रथम की चार रात्रि अर्थात् जिस दिन रजस्वला हो उस दिन से

---

१. श्लोक ४५-५०॥

लेके चार दिन निन्दित हैं। प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ रात्रि में पुरुष स्त्री का स्पर्श और स्त्री पुरुष का सम्बन्ध कभी न करे। अर्थात् उस रजस्वला के हाथ का छुआ पानी भी न पीवे, न वह स्त्री कुछ काम करे, किन्तु एकान्त में बैठी रहे। क्योंकि इन चार रात्रियों में समागम करना व्यर्थ और महारोगकारक है। रजः अर्थात् स्त्री के शरीर से एक प्रकार का विकृत उष्ण रुधिर, जैसा कि फोड़े में से पीव वा रुधिर निकलता है, वैसा है ॥२॥

और जैसे प्रथम की चार रात्रि ऋतुदान देने में निन्दित हैं, वैसे ग्यारहवीं और तेरहवीं रात्रि भी निन्दित है, और बाकी रहीं दश रात्रि, सो ऋतुदान देने में श्रेष्ठ हैं[1] ॥३॥

जिनको पुत्र की इच्छा हो, वे छठी, आठवीं, दशवीं, बारहवीं, चौदहवीं और सोलहवीं ये छः रात्रि ऋतुदान में उत्तम जानें, परन्तु इनमें भी उत्तर-उत्तर श्रेष्ठ हैं। और जिनको कन्या की इच्छा हो, वे पांचवीं, सातवीं, नववीं और पन्द्रहवीं ये चार रात्रि उत्तम समझें*। इससे पुत्रार्थी युग्म रात्रियों में ऋतुदान देवे ॥४॥

पुरुष के अधिक वीर्य होने से पुत्र और स्त्री के आर्त्तव अधिक होने से कन्या, तुल्य होने से नपुंसक पुरुष वा बन्ध्या स्त्री, क्षीण और अल्पवीर्य से गर्भ का न रहना वा रहकर गिर जाना होता है ॥५॥

जो पूर्व निन्दित ८ आठ रात्रि कह आये हैं, उनमें जो स्त्री का संग छोड़ देता है, वह गृहाश्रम में वसता हुआ भी ब्रह्मचारी ही कहाता है ॥६॥

उपनिषदि गर्भलम्भनम् ॥

यह आश्वलायन गृह्यसूत्र[2] का वचन है ॥

जैसा उपनिषद्[3] में गर्भस्थापन विधि लिखा है, वैसा करना चाहिये। अर्थात् पूर्वोक्त समय विवाह करके जैसा कि १६ सोलहवें और २५ पचीसवें वर्ष विवाह करके ऋतुदान लिखा है, वही उपनिषद् से[4] भी विधान है।

***रात्रिगणना इसलिए की है कि दिन में ऋतुदान का निषेध है। द०स०**

१. इन दश रात्रियों में भी पूर्व कही पर्व की रात्रियां छोड़ने योग्य हैं।

२. आश्व० गृह्य १।१३।१॥ ३. बृह० उ० अ० ६, ब्रा० ४॥

४. यहां 'से' के स्थान पर 'में' पाठ उचित है, अथवा 'उपनिषद् से भी

अथ गर्भाधानꣳ स्त्रियाः पुष्पवत्याश्चतुरहादूर्ध्वꣳ स्नात्वा विरुजायास्तस्मिन्नेव दिवा आदित्यं गर्भमिति ॥

यह पारस्कर गृह्यसूत्र[1] का वचन है ॥

ऐसा ही गोभिलीय और शौनक[2] गृह्यसूत्रों में भी विधान है।

इसके अनन्तर स्त्री जब रजस्वला होकर चौथे दिन के उपरान्त पांचवें दिन स्नान कर रज-रोगरहित हो, उसी दिन (आदित्यं गर्भमिति) इत्यादि मन्त्रों से जैसा जिस रात्रि में गर्भस्थापन करने की इच्छा हो उससे पूर्व, दिन में सुगन्धादि पदार्थों सहित पूर्व सामान्यप्रकरण के लिखित प्रमाणे हवन करके निम्नलिखित मन्त्रों

विहित है' ऐसा पाठ होना चाहिए। उपनिषद् से यहां बृहदारण्यक अभिप्रेत है। बृहदारण्यक के दो पाठ हैं—काण्व और माध्यन्दिन। काण्व पाठ में अ० ६ ब्रा० ४; तथा माध्यन्दिन शत० १४।९।४ में गर्भाधान का प्रकरण है। माध्यन्दिन बृह० उप० पृथक् अभी तक नहीं छपी है, अतः हमने ब्राह्मण का ही पता दिया है।

१. यह पाठ वर्तमान में उपलब्ध छपे पारस्कर गृह्यसूत्रों में नहीं मिलता। पारस्कर गृह्य के दो पाठ हैं—लघु और वृद्ध। जिस पर कर्कादि की टीका है, वह लघु पाठ है। वृद्ध पाठ कात्यायन गृह्यसूत्र के नाम से प्रसिद्ध है (पारस्कर कात्यायन का देशीय नाम है)। इसका एक संस्करण बम्बई के पं० जेष्ठाराम मुकुन्दजी ने ५० १९३२ से पूर्व छापा था। ऋषि दयानन्द ने पारस्कर, कात्यायन वा यजुर्वेदीय गृह्य के नाम से जो पाठ उद्धृत किए हैं, वे इसी संस्करण के अनुसार हैं। संस्कारविधि के प्रथम संस्करण में इसके अनेक पाठ उद्धृत किए गये हैं। ज्येष्ठाराम द्वारा मुद्रित कात्यायन गृह्य हमें उपलब्ध नहीं हुआ। संस्कारचन्द्रिका के कर्णवेध-प्रकरण में इसका उल्लेख है। पारस्कर का एक संस्करण नड़ियाद से पत्राकार छपा है। उसमें का०गृह्य के विशिष्ट पाठ कोष्ठकान्तर्गत छापे हैं। हमने संस्कारविधि प्र० द्वि० सं० में उद्धृत सभी पाठ कार्तिक कृष्णा ८ सं० २०२२ को पूना नगर के 'इतिहास संशोधक मण्डल' के हस्तलेख संग्रह में सुरक्षित 'कात्यायन गृह्य' के हस्तलेख में देखे थे। वहां इसके तीन हस्तलेख हैं—दो अधूरे, एक मध्य में त्रुटित। भण्डारकर प्राच्य प्रतिष्ठान पूना में भी इसकी एक प्रति विद्यमान है।

२. शौनक गृह्यसूत्र अभी तक छपा नहीं है। हस्तलिखित ग्रन्थों के बृहत् सूची-पत्र निर्माता आफ्रेक्ट ने इसका निर्देश स्वसूची-ग्रन्थ में किया है।

से आहुति देनी। यहां पत्नी पति के वाम-भाग[1] में बैठे, और [2]पति वेदी से पश्चिमाभिमुख पूर्व, दक्षिण वा उत्तर दिशा में यथाभीष्ट मुख करके बैठे। और[2] ऋत्विज भी चारों दिशाओं में यथामुख बैठें—

ओम् अग्ने प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्याः पापी लक्ष्मीस्तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा॥ इदमग्नये—इदन्न मम॥ १॥

ओं वायो प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्याः पापी लक्ष्मीस्तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा॥ इदं वायवे—इदन्न मम॥ २॥

ओं चन्द्र प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्याः पापी लक्ष्मीस्तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा॥ इदं चन्द्राय—इदन्न मम॥ ३॥

ओं सूर्य प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्याः पापी लक्ष्मीस्तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा॥ इदं सूर्याय—इदन्न मम॥ ४॥

ओम् अग्निवायुचन्द्रसूर्याः प्रायश्चित्तयो यूयं देवानां प्रायश्चित्तयः स्थ ब्राह्मणो वो नाथकाम उपधावामि यास्याः पापी लक्ष्मीस्तनूस्तामस्या अपहत स्वाहा॥ इदमग्निवायुचन्द्रसूर्येभ्यः—इदन्न मम॥ ५॥

ओम् अग्ने प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मण-

---

१. यज्ञ-कर्म में पत्नी का स्थान सामान्य रूप से पुरुष के दक्षिणभाग में नियत है, परन्तु उसके अपवादरूप में गर्भाधान नामकरण और निष्क्रमण में पत्नी को वाम भाग में बिठाने का विशेष विधान है।

२. यहां प्रेसकापी तथा रफ़ कापी में यह पाठ है—'पति वेदी से पश्चिम में पूर्वाभिमुख अथवा वेदी से दक्षिण और उत्तराभिमुख बैठे तथा स्त्री भी, और' यही पाठ उचित है। यजमान के लिए, सामान्य-प्रकरण में भी दक्षिण वा पश्चिम में बैठने का ही विधान है (पृ०२६)। यहां उपरि मुद्रित पाठ निश्चय ही मुद्रणकाल में भ्रष्ट हुआ है।

स्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्याः पतिघ्नी तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा ॥ इदमग्नये—इदन्न मम ॥ ६ ॥

ओं वायो प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्याः पतिघ्नी तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा ॥ इदं वायवे—इदन्न मम ॥ ७ ॥

ओं चन्द्र प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्याः पतिघ्नी तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा ॥ इदं चन्द्राय—इदन्न मम ॥ ८ ॥

ओं सूर्य प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्याः पतिघ्नी तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा ॥ इदं सूर्याय—इदन्न मम ॥ ९ ॥

ओम् अग्निवायुचन्द्रसूर्याः प्रायश्चित्तयो यूयं देवानां प्रायश्चित्तयः स्थ ब्राह्मणो वो नाथकाम उपधावामि यास्याः पतिघ्नी तनूस्तामस्या अपहत स्वाहा ॥ इदमग्निवायुचन्द्रसूर्येभ्यः—इदन्न मम ॥ १० ॥

ओम् अग्ने प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्या अपुत्र्या तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा ॥ इदमग्नये—इदन्न मम ॥ ११ ॥

ओं वायो प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्या अपुत्र्या तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा ॥ इदं वायवे—इदन्न मम ॥१२॥

ओं चन्द्र प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्या अपुत्र्या तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा ॥ इदं चन्द्राय—इदन्न मम ॥ १३ ॥

ओं सूर्य प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा

नाथकाम उपधावामि यास्या अपुत्र्या तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा ॥ इदं सूर्याय—इदन्न मम ॥ १४ ॥

ओम् अग्निवायुचन्द्रसूर्याः प्रायश्चित्तयो यूयं देवानां प्रायश्चित्तयः स्थ ब्राह्मणो वो नाथकाम उपधावामि यास्या अपुत्र्या तनूस्तामस्या अपहत स्वाहा ॥ इदमग्निवायुचन्द्र-सूर्येभ्यः—इदन्न मम ॥ १५ ॥

ओम् अग्ने प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्या अपसव्या तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा ॥ इदमग्नये—इदन्न मम ॥ १६ ॥

ओं वायो प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्या अपसव्या तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा ॥ इदं वायवे—इदन्न मम ॥ १७ ॥

ओं चन्द्र प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्या अपसव्या तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा ॥ इदं चन्द्राय—इदन्न मम ॥ १८ ॥

ओं सूर्य प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्या अपसव्या तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा ॥ इदं सूर्याय—इदन्न मम ॥ १९ ॥

ओम् अग्निवायुचन्द्रसूर्याः प्रायश्चित्तयो यूयं देवानां प्रायश्चित्तयः स्थ ब्राह्मणो वो नाथकाम उपधावामि यास्या अपसव्या तनूस्तामस्या अपहत स्वाहा ॥ इदमग्निवायुचन्द्र-सूर्येभ्यः—इदन्न मम ॥ २० ॥[1]

---

१. द्र०—गोभिल गृह्य २।५।२-४ तथा मन्त्र ब्रा० १।४।१-५ ॥ वहां इनका निर्देशमात्र है। इनकी ऊहा करके ५ वचनों से बीस मन्त्र बनाए जाते हैं। दोनों ग्रन्थों की टीकाओं में इसका स्पष्ट निर्देश किया गया है।

इन बीस मन्त्रों से बीस आहुति देनी*। और बीस आहुति करने से यत्किंचित् घृत बचे, वह कांसे के पात्र में ढांक के रख देवें।

इसके पश्चात् भात की आहुति देने के लिये यह विधि करना, अर्थात् एक चांदी वा कांसे के पात्र में भात रखके उसमें घी दूध और शक्कर मिलाके कुछ थोड़ी देर रखके जब घृत आदि भात में एक-रस हो जायें, पश्चात् नीचे लिखे एक-एक मन्त्र से एक-एक आहुति अग्नि में देवें, और स्रुवा में का शेष [घृत] आगे धरे हुए कांसे के उदकपात्र में छोड़ता जावे—

ओम् अग्नये पवमानाय स्वाहा ॥ इदमग्नये पवमानाय—इदन्न मम ॥१॥[1]

ओम् अग्नये पावकाय स्वाहा ॥ इदमग्नये पावकाय—इदन्न मम ॥२॥[1]

ओम् अग्नये शुचये स्वाहा ॥ इदमग्नये शुचये—इदन्न मम ॥३॥[2]

ओम् अदित्यै स्वाहा ॥ इदमदित्यै—इदन्न मम ॥४॥[3]

ओं प्रजापतये स्वाहा ॥ इदं प्रजापतये—इदन्न मम ॥५॥[4]

ओं यदस्य कर्मणोऽत्यरीरिचं यद्वा न्यूनमिहाकरम्। अग्निष्टत्स्विष्टकृद्विद्यात्सर्वं स्विष्टं सुहुतं करोतु मे। अग्नये स्विष्टकृते सुहुतहुते सर्वप्रायश्चित्ताहुतीनां कामानां समर्धयित्रे सर्वान्नः कामान्त्समर्धय स्वाहा ॥ इदमग्नये स्विष्टकृते—इदन्न मम ॥६॥[5]

---

* इन २० आहुति देते समय वधू अपने दक्षिण हाथ से वर के दक्षिण स्कन्ध पर स्पर्श कर रक्खे। द० स०

१. द्र०—आप० श्रौत ५।२१।५ ॥ भाष्य भी देखें।

२. ऐ० ब्रा० ७।७।३॥

३. द्र०—यजु० २२।२०; पार० गृह्य १।२ की हरिहर टीकान्तर्गत पद्धति में उक्त चारों मन्त्र पठित हैं।

४. द्र०—पारस्कर गृह्य १।११।३॥

५. द्र०—पृष्ठ ३५, टि० २॥

इन छः मन्त्रों से उस भात की आहुति देवें।

तत्पश्चात् पूर्व सामान्यप्रकरणोक्त ३६-३७ पृष्ठलिखित आठ मन्त्रों[1] से अष्टाज्याहुति देनी। उन ८ आठ मन्त्रों से ८ आठ, तथा निम्नलिखित मन्त्रों से भी आज्याहुति देवें—

विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिंशतु ।
आ सिंञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते स्वाहा ॥१॥
गर्भं धेहि सिनीवालि गर्भं धेहि सरस्वति।
गर्भं ते अश्विनौ देवावा धत्तां पुष्करस्रजा स्वाहा ॥२॥
हिरण्ययी अरणी यं निर्मन्थतो अश्विना ।
तं ते गर्भं हवामहे दशमे मासि सूतवे स्वाहा ॥३॥
ऋ० मं० १०। सू० १८४॥[2]

रेतो मूत्रं वि जहाति योनिं प्रविशदिन्द्रियम् ।
गर्भो जरायुणावृतऽ उल्वं जहाति जन्मना।
ऋतेन सत्यमिन्द्रियं विपानꣳ शुक्रमन्धस
ऽइन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोऽमृतं मधु स्वाहा ॥४॥[3]

यत्ते सुसीमे हृदयं दिवि चन्द्रमसि श्रितम्। वेदाहं तन्मां तद्विद्यात् ॥ पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतं प्र ब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् स्वाहा ॥५॥ यजुर्वेदे ॥[4]

---

१. 'त्वं नो अग्ने०' से लेकर 'भवतन्नः' तक के आठ मन्त्रों से।

२. मन्त्र १-३ ॥ संहिता में 'स्वाहा' पद नहीं है।

३. यजु० १९।७६ ॥ संहिता में 'स्वाहा' पद नहीं है।

४. द्र०—पार० गृह्य १।११।९॥ वहां 'यत्ते सुसीमे' से लेकर 'शृणुयाम शरदः शतम्' तक पाठ है। शेष यजु० ३६।२४ में है। वहां 'स्वाहा' पद मन्त्र में नहीं है।

यथेयं पृथिवी मही भूतानां गर्भमादुधे ।
एवा ते ध्रियतां गर्भो अनु सूतुं सवितवे स्वाहा ॥६॥
यथेयं पृथिवी मही दाधारेमान् वनस्पतीन् ।
एवा ते ध्रियतां गर्भो अनु सूतुं सवितवे स्वाहा ॥७॥
यथेयं पृथिवी मही दाधार पर्वतान् गिरीन् ।
एवा ते ध्रियतां गर्भो अनु सूतुं सवितवे स्वाहा ॥८॥
यथेयं पृथिवी मही दाधार विष्ठितं जगत् ।
एवा ते ध्रियतां गर्भो अनु सूतुं सवितवे स्वाहा ॥९॥

अथर्व० कां० ६ । सू० १७ ॥[1]

इन ९ मन्त्रों से नव आज्य और मोहनभोग की आहुति देके, नीचे लिखे मन्त्रों से भी चार घृताहुति देवें—

ओं भूरग्नये स्वाहा ॥ इदमग्नये—इदन्न मम ॥ १ ॥
ओं भुवर्वायवे स्वाहा ॥ इदं वायवे—इदन्न मम ॥ २ ॥
ओं स्वरादित्याय स्वाहा ॥ इदमादित्याय—इदन्न मम ॥३॥
ओम् अग्निवाय्वादित्येभ्यः प्राणापानव्यानेभ्यः स्वाहा ॥ इदमग्निवाय्वादित्येभ्यः प्राणापानव्यानेभ्यः—इदन्न मम ॥ ४ ॥[2]

पश्चात् नीचे लिखे मन्त्रों से घृत की दो आहुति देनी—

ओम् अयास्यग्नेर्वषट्कृतं यत्कर्मणोऽत्यरीरिचं देवा गातुविदः स्वाहा ॥ इदं देवेभ्यो गातुविद्भ्यः—इदन्न मम ॥१॥[3]

ओं प्रजापतये स्वाहा ॥ इदं प्रजापतये—इदन्न मम ॥२॥[4]

इन कर्म और आहुतियों के पश्चात् पृष्ठ ३५ में लिखे प्रमाणे "ओं यदस्य कर्मणोऽत्यरीरिचं०" इस मन्त्र से एक स्विष्टकृत् आहुति

---

१. मन्त्र १-४ ॥ 'स्वाहा' पद मन्त्र से बहिर्भूत है ।
२. द्र०—पृ० ३४, टि० ६ ।
३. पार० गृह्य १।२।११॥ ४. द्र०—पार० गृह्य १।११।३॥

घृत की देवें। जो इन[1] मन्त्रों से आहुति देते समय प्रत्येक आहुति के स्रुवा में शेष रहे घृत को आगे धरे हुए कांसे के उदकपात्र में इकट्ठा करते गए हों, जब आहुति हो चुकें, तब उन आहुतियों के शेष घृत को वधू लेके स्नानघर में जाकर उस घी का पग के नख से लेके शिरपर्यन्त सब अङ्गों पर मर्दन करके स्नान करे। तत्पश्चात् शुद्ध वस्त्र से शरीर पोंछ, शुद्ध वस्त्र धारण करके कुण्ड के समीप आवे। तब दोनों वधू-वर कुण्ड की प्रदक्षिणा करके सूर्य का दर्शन करें। उस समय—

ओम् आदित्यं गर्भं पयसा समङ्धि
सहस्रस्य प्रतिमां विश्वरूपम् ।
परिवृङ्धि हरसा माभिमंस्थाः ।
शतायुषं कृणुहि चीयमानः ॥१॥[2]
सूर्यो नो दिवस्पातु वातो अन्तरिक्षात् ।
अग्निर्नः पार्थिवेभ्यः ॥२॥
जोषा सवितर्यस्य ते हरः शतं सवाँ अर्हति ।
पाहि नो दिद्युतः पतन्त्याः ॥३॥
चक्षुर्नो देवः सविता चक्षुर्न उत पर्वतः ।
चक्षुर्धाता दधातु नः ॥४॥
चक्षुर्नो धेहि चक्षुषे चक्षुर्विख्यै तनूभ्यः ।
सं चेदं वि च पश्येम ॥५॥
सुसंदृशं त्वा वयं प्रति पश्येम सूर्य ।
वि पश्येम नृचक्षसः ॥६॥[3]

१. अर्थात् पृष्ठ ४९ पर लिखे 'ओम् अग्नये पवमानाय' से लेकर गत पृष्ठ के 'ओं प्रजापतये स्वाहा' तक के मन्त्रों से। २. यजु० १३।४१॥

३. ऋ० १०।१५८।१-५॥ तृतीय मन्त्र में संस्करण २ से १७ तक 'ज्योषा' पाठ छपा है। संस्करण १८ से 'योषा' पाठ छप रहा है। ऋग्वेद का पाठ 'जोषा' है। पञ्चम मन्त्र में 'तं चेदं' अपपाठ संस्करण ७-१७ तक मिलता है।

इन मन्त्रों से परमेश्वर का उपस्थान करके वधू—

ओम् अमुक‡ गोत्रा शुभदा, अमुक§ दा[1] अहं भो भवन्तमभिवादयामि ।[2]

ऐसा वाक्य बोलके अपने पति को वन्दन अर्थात् नमस्कार करे । तत्पश्चात् स्वपति के पिता पितामहादि और जो वहां अन्य माननीय पुरुष तथा पति की माता तथा अन्य कुटुम्बी और सम्बन्धियों की वृद्ध स्त्रियां हों, उनको भी इसी प्रकार वन्दन करे ।

इस प्रमाणे वधू वर के गोत्र की हुए अर्थात् वधू पत्नीत्व और वर पतित्व को प्राप्त हुए पश्चात् दोनों पति-पत्नी शुभासन पर पूर्वाभिमुख वेदी के पश्चिम भाग में बैठके वामदेव्यगान करें ।

तत्पश्चात् यथोक्त§ भोजन दोनों जनें करें । और पुरोहितादि

‡ इस ठिकाने वर के गोत्र अथवा वर के कुल का नामोच्चारण करे ॥ द० स० § इस ठिकाने वधू अपना नाम उच्चारण करे । द० स०

§ उत्तम सन्तान करने का मुख्य हेतु यथोक्त वधू वर के आहार पर निर्भर है । इसलिये पति-पत्नी अपने शरीर आत्मा की पुष्टि के लिए बल और बुद्धि आदि की वर्द्धक सर्वौषधि का सेवन करें । सर्वौषधि ये हैं—दो खण्ड आंबाहलदी, दूसरी खाने की हलदी, चन्दन, मुरा (यह नाम दक्षिण में प्रसिद्ध है), कुष्ठ, जटामांसी, मोरवेल (यह भी नाम दक्षिण में प्रसिद्ध है), शिलाजीत, कपूर, मुस्ता, भद्रमोथ । इन सब ओषधियों का चूर्ण करके सब सम भाग लेके उदुम्बर के काष्ठपात्र में गाय के दूध के साथ मिला उनका दही जमा और उदुम्बर ही के लकड़े की मंथनी से मंथन करके उसमें से मक्खन निकाल, उसको ताय, घृत करके उसमें सुगन्धित द्रव्य केशर, कस्तूरी, जायफल, इलायची, जावित्री मिलाके अर्थात् सेर भर दूध में छटांक भर पूर्वोक्त सर्वौषधि मिला सिद्ध कर घी हुए[3] पश्चात् एक सेर में एक रत्ती कस्तूरी और एक मासा केशर और एक-एक मासा जायफलादि भी मिलाके नित्य प्रातःकाल उस घी में से ३३ पृष्ठ में लिखे प्रमाणे आघारावाज्य-

१. यहां 'दा' पाठ असम्बद्ध है । 'अमुका' अथवा 'अमुकनाम्नी' पाठ होना चाहिए । २२ वें संस्करण से 'अमुकनाम्नी' पाठ छप रहा है ।

२. गोभिल गृह्य २।४।११ में अभिवादन का निर्देश है ।

३. अर्थात् घीमात्र शेष रहे पश्चात् ।

सब मण्डली को सन्मानार्थ यथाशक्ति भोजन कराके आदर-सत्कार-पूर्वक सबको विदा करें।

इसके पश्चात् रात्रि में नियत समय पर जब दोनों का शरीर आरोग्य, अत्यन्त प्रसन्न और दोनों में अत्यन्त प्रेम बढ़ा हो, उस समय गर्भाधान क्रिया करनी। गर्भाधान क्रिया का समय प्रहर रात्रि के गये पश्चात् प्रहर रात्रि रहे तक है। जब वीर्य के गर्भाशय में जाने का समय आवे, तब दोनों स्थिर शरीर, प्रसन्नवदन, मुख के सामने मुख, नासिका के सामने नासिकादि, सब सूधा शरीर रखें, वीर्य का

भागाहुति ४ चार और पृष्ठ ५० में लिखे हुए (विष्णुर्योनिं०) इत्यादि ६ नौ[1] मन्त्रों के अन्त में स्वाहा शब्द का उच्चारण करके, जिस रात्रि में गर्भ-स्थापन क्रिया करनी हो, उसके दिन में होम करके, उसी घी को दोनों जने खीर अथवा भात के साथ मिलाके यथारुचि भोजन करें। इस प्रकार गर्भ-स्थापन करें, तो सुशील विद्वान् दीर्घायु तेजस्वी सुदृढ़ और नीरोग पुत्र उत्पन्न होवे। यदि कन्या की इच्छा हो, तो जल में चावल पका पूर्वोक्त प्रकार घृत, गूलर के एक पात्र में जमाए हुए दही के साथ भोजन करने से उत्तम गुणयुक्त कन्या भी होवे। क्योंकि—

आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः।

यह छान्दोग्य [उपनिषद्] का वचन है ।।[2]

अर्थात् शुद्ध आहार, जो कि मद्यमांसादिरहित घृत दुग्धादि चावल गेहूं आदि के करने से अन्तःकरण की शुद्धि बल पुरुषार्थ आरोग्य और बुद्धि की प्राप्ति होती है।

इसलिये पूर्ण युवावस्था में विवाह कर इस प्रकार विधि कर प्रेमपूर्वक गर्भाधान करें, तो सन्तान और कुल नित्य प्रति उत्कृष्टता को प्राप्त होते जायें। जब रजस्वला होने के समय में १२-१३ दिन शेष रहें, तब शुक्ल पक्ष में १२ दिन तक पूर्वोक्त घृत मिलाके इसी खीर का भोजन करके १२ दिन का व्रत भी करें। और मिताहारी होकर ऋतु समय में पूर्वोक्त रीति से गर्भाधान क्रिया करें, तो अत्युत्तम सन्तान होवें। जैसे सब पदार्थों को उत्कृष्ट करने की विद्या है, वैसे संतान को उत्कृष्ट करने की यही विद्या है। इस पर मनुष्य लोग बहुत ध्यान देवें। क्योंकि इसके न होने से कुल की हानि नीचता, और होने से कुल की वृद्धि और उत्तमता अवश्य होती है। द० स०

---

१. वै० सं० मुद्रित सब संस्करणों में '७ सात' अपपाठ है।
२. छा० उ० ७।२६।२।।

प्रक्षेप पुरुष करे। जब वीर्य स्त्री के शरीर में प्राप्त हो, उस समय अपना पायु मूलेन्द्रिय और योनीन्द्रिय को ऊपर संकोच और वीर्य को खैंचकर स्त्री गर्भाशय में स्थिर करे। तत्पश्चात् थोड़ा ठहरके स्नान करे। यदि शीतकाल हो, तो प्रथम केसर, कस्तूरी, जायफल, जावित्री, छोटी इलायची डाल, गर्म कर रखे हुए शीतल दूध का यथेष्ट पान करके पश्चात् पृथक्-पृथक् शयन करें। यदि स्त्रीपुरुष को ऐसा दृढ़ निश्चय हो जाये कि गर्भ स्थिर हो गया तो उसके दूसरे दिन, और जो गर्भ रहे का दृढ़ निश्चय न हो तो एक महीने के पश्चात् रजस्वला होने के समय स्त्री रजस्वला न हो तो निश्चित जानना कि गर्भ स्थित हो गया है। अर्थात् दूसरे दिन वा दूसरे महीने के आरम्भ में निम्नलिखित मन्त्रों से आहुति देवें‡—

यथा वातः पुष्करिणीं समिङ्गयति सर्वतः।
एवा ते गर्भ एजतु निरैतु दशमास्यः स्वाहा॥१॥

---

‡ यदि दो ऋतुकाल व्यर्थ जायं अर्थात् दो बार दो महीनों में गर्भाधान क्रिया निष्फल हो जाय, गर्भस्थिति न होवे, तो तीसरे महीने में ऋतुकाल समय जब आवे, तब पुष्यनक्षत्रयुक्त ऋतुकाल दिवस में प्रथम प्रातःकाल उपस्थित होवे, तब प्रथम प्रसूता गाय की दही दो मासा और यव के दाणों को सेकके पीसके दो मासा लेके इन दोनों को एकत्र करके, पत्नी के हाथ में देके उससे पति पूछे—"किं पिबसि"? इस प्रकार तीन वार पूछे। और स्त्री भी अपने पति को "पुंसवनम्" इस वाक्य को तीन वार बोलके उत्तर देवे और उसका प्राशन करे। इसी रीति से पुनः पुनः तीन वार विधि करना। तत्पश्चात् सङ्खाहूली व भटकटाई ओषधि को जल में महीन पीसके उसका रस कपड़े में छानके पति पत्नी के दाहिने नाक के छिद्र में सिंचन करे, और पति—

ओ३म् इयमोषधी त्रायमाणा सहमाना सरस्वती।
अस्या अहं बृहत्याः पुत्रः पितुरिव नाम जग्रभम्॥[1]

इन मन्त्र से जगन्नियन्ता परमात्मा की प्रार्थना करके यथोक्त ऋतुदान विधि करे, यह सूत्रकार[2] का मत है। द० स०

---

१. पार० गृह्य १।१३।१॥
२. अर्थात् पारस्कर गृह्यसूत्रकार का (१।१।३१) मत है।

यथा वातो यथा वनं यथा समुद्र एजति ।
एवा त्वं दशमास्य सहावेहि जरायुणा स्वाहा ॥२॥
दश मासाञ्छशयानः कुमारो अधि मातरि ।
निरैतु जीवो अक्षतो जीवो जीवन्त्या अधि स्वाहा ॥३॥
ऋ० मं० ५। सू० ७८। मं० ७,८,९॥[1]

एजतु दशमास्यो गर्भो जरायुणा सह ।
यथायं वायुरेजति यथा समुद्रऽ एजति ।
एवायं दशमास्योऽ अस्रज्जरायुणा सह स्वाहा ॥१॥[2]

यस्यै ते यज्ञियो गर्भो यस्यै योनिर्हिरण्ययी ।
अङ्गान्यह्रुता यस्य तं मात्रा समजीगमꣳ स्वाहा ॥२॥
यजु० अ० ८। मं० २८, २९॥

पुमाꣳसौ मित्रावरुणौ पुमाꣳसावश्विनावुभौ ।
पुमानग्निश्च वायुश्च पुमान् गर्भस्तवोदरे स्वाहा ॥१॥
पुमानग्निः पुमानिन्द्रः पुमान् देवो बृहस्पतिः ।
पुमाꣳसं पुत्रं विन्दस्व तं पुमाननु जायताꣳ स्वाहा ॥२॥
सामवेदे ॥[3]

इन मन्त्रों से आहुति देकर पूर्वलिखित सामान्यप्रकरण की शान्त्याहुति[4] देके पुनः ३७ पृष्ठ में लिखे प्रमाणे पूर्णाहुति देवें। पुनः स्त्री के भोजन-छादन का सुनियम करे। कोई मादक मद्य आदि,

---

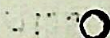
१. 'स्वाहा' पद मन्त्रों में नहीं है। २. मन्त्र में 'स्वाहा' पद नहीं है।

३. यहां सामवेद शब्द से साहचर्यलक्षणा (द्र० न्यायसूत्र वा वात्स्यायन भाष्य २।२।६१) से सामवेद का मन्त्रब्राह्मण अभिप्रेत है (ऐसा ही आगे पृष्ठ ५८ पर भी समझें)। मन्त्रब्राह्मण १।४।८,९॥ मन्त्रों में 'स्वाहा' पद नहीं है। सत्यव्रत सामश्रमी के संस्करण में ꣳकार मिलता है, अन्यत्र अनुस्वार देखा जाता है।

४. अर्थात् शान्तिकरण के मन्त्रों से।

रेचक हरीतकी आदि, क्षार अतिलवणादि, अत्यम्ल अर्थात् अधिक खटाई, रूक्ष चणे आदि, तीक्ष्ण अधिक लालमिर्चो आदि स्त्री कभी न खावे। किन्तु घृत, दुग्ध, मिष्ट, सोमलता अर्थात् गुडूच्यादि ओषधि, चावल, मिष्ट[1] दधि, गेहूं उर्द मूंग तूअर आदि अन्न, और पुष्टिकारक शाक खावे। उसमें ऋतु-ऋतु के मसाले—गर्मी में ठण्डे सफेद इलायची आदि, और सर्दी में केशर कस्तूरी आदि डालकर खाया करें। युक्ताहारविहार सदा किया करें। दूध[2] में सुंठी और ब्राह्मी ओषधि का सेवन स्त्री विशेष किया करे, जिससे सन्तान अतिबुद्धिमान् रोगरहित शुभ गुण कर्म स्वभाववाला होवे ॥

इति गर्भाधानविधिः समाप्तः ॥



---

१. द्वितीय संस्करण तथा उत्तरवर्ती संस्करणों में 'मिष्ट' के आगे अल्पविराम है, वह अयुक्त है। यहां 'मिष्ट' शब्द 'दधि' का विशेषण है, अर्थात् मीठा दही खावे, खट्टा न खावे। 'मिष्ट' के आगे विराम देने से वह स्वतन्त्र पदार्थ बन जाता है, तथा उसकी पूर्वपङ्क्ति में पठित 'मिष्ट' शब्द से पुनरुक्ति भी हो जाती है।

२. दोनों हस्तलेखों में 'दूध' है। तृतीय से लेकर सभी मुद्रित संस्करणों में 'दधि' मिलता है। संस्करण २ में 'दध' पाठ छपा है। वहां 'ऊ' की मात्रा टूट गई है। अतः यहीं 'दूध' शब्द ही चाहिए। द्रष्टव्य—पुंसवन के अन्त में (पृष्ठ ६१) 'सुंठी को दूध के साथ थोड़ी-थोड़ी खाया करें' लेख।

अथ पुंसवनम्

'पुंसवन' संस्कार का समय गर्भस्थिति-ज्ञान हुए समय से दूसरे वा तीसरे महीने में है। उसी समय पुंसवन संस्कार करना चाहिये, जिससे पुरुषत्व अर्थात् वीर्य का लाभ होवे। यावत् बालक के जन्म हुए पश्चात् दो महीने न बीत जावें, तब तक पुरुष ब्रह्मचारी रहकर स्वप्न में भी वीर्य को नष्ट न होने देवे। भोजन-छादन शयन-जागरणादि व्यवहार उसी प्रकार से करे, जिससे वीर्य स्थिर रहे, और दूसरा सन्तान भी उत्तम होवे।

अत्र प्रमाणानि

पुमाꣳसौ मित्रावरुणौ पुमाꣳसावश्विनावुभौ ।
पुमानग्निश्च वायुश्च पुमान् गर्भस्तवोदरे ॥१॥

पुमानग्निः पुमानिन्द्रः पुमान् देवो बृहस्पतिः ।
पुमाꣳसं पुत्रं विन्दस्व तं पुमाननु जायताम् ॥२॥

सामवेदे ॥[1]

शमीमश्वत्थ आरूढस्तत्र पुंसवनं कृतम् ।
तद्वै पुत्रस्य वेदनं तत् स्त्रीष्वा भरामसि ॥१॥

पुंसि वै रेतो भवति तत् स्त्रियामनु षिच्यते ।
तद्वै पुत्रस्य वेदनं तत् प्रजापतिरब्रवीत् ॥२॥

प्रजापतिरनुमतिः सिनीवाल्यचीक्लृपत् ।
स्त्रैषूयमन्यत्र दधत् पुमांसमु दधदिह ॥३॥

अथर्व० कां० ६। सू० ११॥[2]

---

१. द्र०—पृष्ठ ५६ टि० ३ का पूर्व भाग। मन्त्र ब्राह्मण १।४।८,९ सत्यव्रत सामश्रमी संस्करण; गोभिलगृह्य २।६।३, १०॥ २. मन्त्र १-३॥

इन मन्त्रों का यही अभिप्राय है कि पुरुष को वीर्यवान् होना चाहिये।

इसमें आश्वलायन गृह्यसूत्र का प्रमाण—

अथास्यै मण्डलागारच्छायायां दक्षिणस्यां नासिकायामजीतामोषधीं नस्तः करोति ॥१॥

प्रजावज्जीवपुत्राभ्यां हैके ॥२॥[1]

गर्भ के दूसरे वा तीसरे महीने में वटवृक्ष की जटा वा उस की पत्ती[2] लेके स्त्री के दक्षिण नासापुट से सुंघावे। और कुछ अन्य पुष्ट अर्थात् गुड़च जो गिलोय वा ब्राह्मी ओषधि खिलावे।

ऐसा ही पारस्कर गृह्यसूत्र का प्रमाण है—

अथ पुंसवनं पुरा स्पन्दत[3] इति मासे द्वितीये तृतीये वा ॥[4]

इसके अनन्तर 'पुंसवन' उस को कहते हैं—जो पूर्व ऋतुदान देकर गर्भस्थिति से दूसरे वा तीसरे महीने में पुंसवन संस्कार किया जाता है। इसी प्रकार गोभिलीय और शौनक गृह्यसूत्रों में भी लिखा है।

अथ क्रियारम्भः—पृष्ठ ७ से १८वें पृष्ठ के शान्तिकरण पर्यन्त कहे प्रमाणे (**विश्वानि देव०**) इत्यादि चारों वेदों के मन्त्रों से यजमान और पुरोहितादि ईश्वरोपासना करें। और जितने पुरुष वहां उपस्थित हों, वे भी परमेश्वरोपासना में चित्त लगावें। और पृष्ठ ११ में कहे प्रमाणे **स्वस्तिवाचन**, तथा पृष्ठ १५ में लिखे प्रमाणे **शान्तिकरण** करके, पृष्ठ १९ में लिखे प्रमाणे यज्ञदेश यज्ञशाला, तथा पृष्ठ १९-२० में यज्ञकुण्ड २०-२१ में यज्ञसमिधा, होम के द्रव्य और स्थालीपाक[5] आदि करके और पृष्ठ ३१–३४ में लिखे प्रमाणे (**अयन्त इध्म०**) इत्यादि, (**ओम् अदिते०**) इत्यादि ४ चार मन्त्रोक्तकर्म, और **आघारावाज्यभागाहुति**[6] ४ तथा **व्याहृति आहुति**[7] ४ और पृष्ठ ३५ में (**ओं प्रजा-**

---

१. आश्व० गृह्य १।१३।५, ६ ॥

२. 'कोंपल' हस्त० क०। 'पत्ति' शब्द से भी कोंपल ही लेना चाहिए। क्योंकि इसी संस्कार में आगे पृष्ठ ६० पर पंक्ति १५ में 'कोमल कूपल' का ही विधान है। ३. सब संस्करणों में 'स्यन्दत' यह अपपाठ है।

४. पार० गृह्य १।१४।१, २ ॥

५. सब संस्करणों में 'पाकस्थाली' अपपाठ है।

६. 'ओम् अग्नये स्वाहा' आदि। ७. 'ओं भूरग्नये स्वाहा' आदि।

पतये स्वाहा), पृष्ठ ३५ में (ओं यदस्य कर्मणो०) लिखे प्रमाणे २ दो आहुति देकर, नीचे लिखे हुए दोनों मन्त्रों से दो आहुति घृत की देवें—

ओम् आ ते गर्भो योनिमेतु पुमान् बाण इवेषुधिम् ।
आ वीरो जायतां पुत्रस्ते दशमास्यः स्वाहा ॥१॥

ओम् अग्निरैतु प्रथमो देवतानां सोऽस्यै प्रजां मुञ्चतु मृत्युपाशात् । तदयं राजा वरुणोऽनुमन्यतां यथेयं स्त्री पौत्रमघं न रोदात् स्वाहा ॥२॥[1]

इन दोनों मन्त्रों को बोलके दो आहुति किये पश्चात् एकान्त में पत्नी के हृदय पर हाथ धरके यह निम्नलिखित मन्त्र पति बोले—

ओं यत्ते सुसीमे हृदये हितवन्तः प्रजापतौ ।
मन्येऽहं मां तद्विद्वांसं माहं पौत्रमघं नियाम् ॥[2]

तत्पश्चात् पृष्ठ ३८-३९ में लिखे प्रमाणे सामवेद का महावामदेव्यगान[3] गाके, जो-जो पुरुष वा स्त्री संस्कार-समय पर आए हों उनको विदा कर दे । पुनः वट वृक्ष के कोमल कूपल और गिलोय को महीन बांट, कपड़े में छान, गर्भिणीं स्त्री के दक्षिण नासापुट में सुंघावे । तत्पश्चात्—

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेकऽआसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥१॥
य० अ० १३ । मं० ४ ॥

---

१. आश्व० गृह्य १।१३।६ ॥ वहां 'स्वाहा' पद मन्त्र में नहीं है ।

२. आश्व० गृह्य १।१३।७॥

३. यहां द्वि० संस्करण से लेकर आजतक 'सामवेद आर्चिक और महावामदेव्यगान' पाठ छपा मिलता है । परन्तु द्वि० संस्करण के अन्त में इस पाठ का संशोधन शुद्धिपत्र में जो किया है, उसकी ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया । संस्कारविधि में अनेक ऐसे अपपाठ आजतक छपते चले आ रहे हैं, जिनका संशोधन द्वि० संस्करण के अन्त में छपे संशोधनपत्र में कर दिया गया है ।

अद्भ्यः सम्भृतः पृथिव्यै रसाच्च विश्वकर्मणः समवर्त्तताग्रे ।
तस्य त्वष्टा विदधद्रूपमेति तन्मर्त्यस्य देवत्वमाजानमग्रे ॥२॥

य० अ० ३१ । मं० १७ ॥

इन दो मन्त्रों को बोलके पति अपनी गर्भिणी पत्नी के गर्भाशय पर हाथ धरके यह मन्त्र बोले—

सुपर्णोऽसि गरुत्माँस्त्रिवृत्ते शिरो गायत्रं चक्षुर्बृहद्रथन्तरे पक्षौ ।
स्तोमऽ आत्मा छन्दांस्यङ्गानि यजूंषि नाम ।
साम ते तनूर्वामदेव्यं यज्ञायज्ञियं पुच्छं धिष्ण्याः शफाः ।
सुपर्णोऽसि गरुत्मान् दिवं गच्छ स्वः पत ॥

य० अ० १२ । मं० ४ ॥

इसके पश्चात् स्त्री सुनियम युक्ताहार-विहार करे । विशेषकर गिलोय, ब्राह्मी ओषधि और सुंठी को दूध के साथ थोड़ी-थोड़ी खाया करे । और अधिक शयन और अधिक भाषण, अधिक खारा खट्टा तीखा कड़वा रेचक हरड़ें आदि न खावे, सूक्ष्म आहार करे । क्रोध द्वेष लोभादि दोषों में न फंसे । चित्त को सदा प्रसन्न रक्खे, इत्यादि शुभाचरण करे ॥

इति पुंसवनसंस्कारविधिः समाप्तः ॥

अथ सीमन्तोन्नयनम्

अब तीसरा संस्कार 'सीमन्तोन्नयन' कहते हैं, जिससे गर्भिणी स्त्री का मन सन्तुष्ट आरोग्य गर्भ स्थिर उत्कृष्ट होवे, और प्रतिदिन बढ़ता जावे। इसमें आगे प्रमाण लिखते हैं—

चतुर्थे गर्भमासे सीमन्तोन्नयनम् ॥१॥

आपूर्यमाणपक्षे यदा[1] पुंसा नक्षत्रेण चन्द्रमा युक्तः स्यात् ॥२॥

अथास्यै युग्मेन शलालुग्रप्सेन[2] त्र्येण्या च शलल्या त्रिभिश्च कुशपिञ्जूलैरूर्ध्वं सीमन्तं व्यूहति भूर्भुवःस्वरोमिति त्रिः ॥ चतुर्वा ॥

यह आश्वलायनगृह्यसूत्र ॥[3]

पुंसवनवत् प्रथमे गर्भे मासे षष्ठेऽष्टमे वा ॥

यह पारस्कर गृह्यसूत्र का प्रमाण ॥[4]

इसी प्रकार गोभिलीय और शौनक गृह्यसूत्र में भी लिखा है।

गर्भमास से चौथे महीने में शुक्लपक्ष में जिस दिन मूल आदि पुरुष नक्षत्रों से युक्त चन्द्रमा हो, उसी दिन सीमन्तोन्नयन संस्कार करें। और पुंसवन संस्कार के तुल्य[5] छठे आठवें महीने में पूर्वोक्त पक्ष नक्षत्रयुक्त चन्द्रमा के दिन सीमन्तोन्नयन संस्कार करें।

---

१. 'यदा' पद संस्करण २, ३ में नहीं है, परन्तु संस्करण ३ के शोधनपत्र में बढ़ाया है।

२. आश्व० गृह्य में 'शलाटुग्लप्सेन' पाठ है। आपस्तम्ब गृह्य (खं० १४, सू० ३ भीमसेन सं०) में 'शलालुग्लपसेन', और पारस्कर गृह्य(१।१५।४) में 'सटालुग्रप्सेन' पाठ मिलता है। टीकाकार तीनों का एक ही अर्थ करते हैं। अतः तीनों की तुलना से 'शलालुग्रप्सेन' पाठ भी ठीक है।

३. आश्व० गृह्य १।१४।१,२,४,५ ॥ ४. पार० गृह्य १।१५।२, ३ ॥

५. 'और पुंसवन संस्कार के तुल्य' पाठ पारस्कर गृह्यसूत्र का अनुवाद है। इससे पारस्कर के मत में इस संस्कार को प्रथम गर्भ में ही करने का विधान है। अगले अंश में इस संस्कार के काल का निर्देश है।

इसमें प्रथम ७-३६ पृष्ठ तक का विधि करके (अदितेऽनुमन्यस्व) इत्यादि पृष्ठ ३२ में लिखे प्रमाणे वेदी से पूर्वादि दिशाओं में जल सेचन करके —

ओं देव॑ सवितः॒ प्र सु॑व य॒ज्ञं प्र सु॑व य॒ज्ञप॑तिं॒ भगा॑य । दि॒व्यो ग॑न्ध॒र्वः के॑त॒पूः केत॑न्नः पुनातु वा॒चस्पति॒र्वाचं॑ नः स्वदतु स्वाहा॑ ।। य० अ० ११ । मं० ७ ।।[1]

इस मन्त्र से कुण्ड के चारों ओर जल-सेचन करके आघारावाज्यभागाहुति[2] ४ चार और व्याहृति आहुति[3] ४ मिलके ८ आठ आहुति पृष्ठ ३३-३४ में लिखे प्रमाणे करके—

ओं प्रजापतये त्वा जुष्टं निर्वपामि ।।[4]

अर्थात् चावल तिल मूंग इन तीनों को सम भाग लेके—

ओं प्रजापतये त्वा जुष्टं प्रोक्षामि ।।[5]

अर्थात् धोके इनकी खिचड़ी बना,[6] उसमें पुष्कल घी डालके

---

१. संहिता में 'स्वाहा' पद नहीं है । पूर्व पृष्ठ ३२ पर उद्धृत इस मन्त्र में भी 'स्वाहा' पद नहीं है । जल-प्रक्षेप में 'स्वाहा' पद की आवश्यकता भी नहीं है ।

२. 'ओम् अग्नये स्वाहा' आदि चार । ३. 'ओं भूरग्नये स्वाहा' आदि चार ।

४. पूर्व पृष्ठ २१ में पठित 'अग्नये त्वा जुष्टं निर्वपामि' मन्त्र का ऊहित पाठ ।

५. पूर्व पृष्ठ २१ में पठित 'अग्नये त्वा जुष्टं प्रोक्षामि' मन्त्र का ऊहित पाठ ।

६. यहां यह नहीं समझना चाहिए कि पूर्व आज्याहुति करके यज्ञ के बीच में ही खिचड़ी बनाने बैठें, और खिचड़ी बन जाने पर अगली आहुतियां देवें । यहां 'पाठक्रमाद् अर्थक्रमो बलीयान्' इस मीमांसा के न्याय के अनुसार यज्ञकर्म आरम्भ करने से पूर्व खिचड़ी बनाकर रखनी चाहिये । ऋषि दयानन्द ने अपना ग्रन्थ प्राचीन शैली पर ही लिखा है । अतः यहां क्रिया के पौर्वापर्य का ज्ञान प्राचीन कर्मकाण्डीय न्यायों के अनुसार समझना चाहिए । इस दृष्टि से संस्कारविधि में प्रयुक्त 'करके' प्रयोग सर्वत्र अव्यवहित पूर्वकालता का बोधक है, यह नहीं समझना चाहिए । प्राचीन सूत्रग्रन्थों में पाठक्रमाद् अर्थक्रमो बलीयान्' नियम से 'क्त्वा' प्रत्यय-बोधित पौर्वकालिकता की बाधा होती है । तदनुसार सामान्यप्रकरण में स्विष्टकृदाहुति से पूर्व 'करके' पद का

निम्नलिखित मन्त्रों से ८ आठ आहुति देवें—

ओं धाता ददातु दाशुषे प्राचीं जीवातुमक्षिताम् ।
वयं देवस्य धीमहि सुमतिं वाजिनीवतः स्वाहा ॥
इदं धात्रे—इदन्न मम ॥१॥

ओं धाता प्रजानामुत राय ईशे धातेदं विश्वं भुवनं जजान ।
धाता कृष्टीरनिमिषाभि चष्टे धात्र इद्धव्यं घृतवज्जुहोत स्वाहा ॥
इदं धात्रे—इदन्न मम ॥२॥[1]

ओं राकामहं सुहवां सुष्टुती हुवे शृणोतु नः सुभगा बोधतु त्मना ।
सीव्यत्वपः सूच्याच्छिद्यमानया ददातु वीरं शतदायमुक्थ्यं
स्वाहा ॥ इदं राकायै—इदन्न मम ॥३॥

यास्ते राके सुमतयः सुपेशसो याभिर्ददासि दाशुषे वसूनि ।
ताभिर्नो अद्य सुमना उपागहि सहस्रपोषं सुभगे रराणा स्वाहा ॥
इदं राकायै—इदन्नं मम ॥४॥ ऋ० मं० २ । सू० ३२ । मं० ४,५॥[2]

नेजमेष परा पत सुपुत्रः पुनरा पत ।
अस्यै मे पुत्रकामायै गर्भमा धेहि यः पुमान्त्स्वाहा ॥५॥

यथेयं पृथिवी मह्युत्ताना गर्भमा दधे ।
एवं तं गर्भमा धेहि दशमे मासि सूतवे स्वाहा ॥६॥

प्रयोग होने पर भी वह व्याहृत्याहुति से उत्तर ही कर्त्तव्य नहीं है, अपितु अर्थक्रमानुसार प्रत्येक कर्म के प्रधान होम के पश्चात् की जानी चाहिए ।

१. निर्देश आश्व० गृह्य १।१४।३ ॥ आश्व० श्रौत ६।१४।१६ ॥ मन्त्रपाठ ऋ० खिल सू० संख्या ३, मन्त्र ७, ८ । 'स्वाहा......इदन्न मम' पद रहित । सातवलेकर सं० ॥

२. 'स्वाहा......इदन्न मम' पद रहित पाठ ॥

विष्णोः श्रेष्ठेन रूपेणास्यां नार्यां गवीन्याम् ।
पुमांसं पुत्राना धेहि दशमे मासि सूतवे स्वाहा ॥७॥[1]

इन ७ सात मन्त्रों से खिचड़ी[2] की ७ सात आहुति देके, पुनः (प्रजापते न त्वं०) पृष्ठ ३६ में लिखित इसके एक, सब मिलाके ८ आठ आहुति देवें। और पृष्ठ ३५ में लिखे प्रमाणे (ओं प्रजापतये०) मन्त्र से एक भात की, और पृष्ठ ३५ में लिखे प्रमाणे (ओं यदस्य कर्मणो०) मन्त्र से एक खिचड़ी की आहुति देवें। तत्पश्चात् (ओं त्वन्नो अग्ने०) पृष्ठ ३६-३७ में लिखे प्रमाणे ८ आठ घृत की आहुति और (ओं भूरग्नये०) पृष्ठ ३४ में लिखे प्रमाणे ४ चार व्याहृति मन्त्रों से चार आज्याहुति देकर पति और पत्नी एकान्त में जाके उत्तमासन पर बैठ पति पत्नी के पश्चात्=पृष्ठ की ओर बैठ—

ओं सुमित्रिया नऽ आपऽ ओषधयः सन्तु ।
दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु योऽस्मान्द्वेष्टि यञ्च वयं द्विष्मः ॥१॥
यजुः अ० ६ । मं० २२ ॥

मूर्द्धानं दिवोऽ अरतिं पृथिव्या वैश्वानरमृतऽ आ जातमग्निम् ।
कविꣳ सम्राजमतिथिं जनानामासन्ना पात्रं जनयन्त देवाः ॥२॥
य० अ० ७ । मं० २४ ॥

ओम् अयमूर्ज्जावतो वृक्ष ऊर्ज्जीव फलिनी भव ।
पर्णं वनस्पतेऽनु त्वाऽनु त्वा सूयताꣳ रयिः ॥३॥

ओं येनादितेः सीमानं नयति प्रजापतिर्महते सौभगाय ।
तेनाहमस्यै सीमानं नयामि प्रजामस्यै जरदष्टिं कृणोमि ॥४॥[3]

ओं राकामहꣳ सुहवाꣳ सुष्टुती हुवे शृणोतु नः सुभगा

---

१. निर्देश आश्व० गृह्य १।१४।३ ॥ स्वाहा पद रहित मन्त्रपाठ। ऋ० खिल सूक्त संख्या ३४। मं० १-३। सात० सं०।

२. यह लवणरहित होनी चाहिए।

३. मन्त्र ब्राह्मण १।५।१, २॥ सापश्रमी संस्करण। पूर्व मन्त्र में गुणविष्णु का पाठ 'वनस्पते नुत्वा नुत्वा' है।

बोधतु त्मना । सीव्यत्वपः सूच्याच्छिद्यमानया ददातु वीरᳫं शतदायमुक्थ्यम् ॥५॥

ओं यास्ते राके सुमतयः सुपेशसो याभिर्ददासि दाशुषे वसूनि । ताभिर्नो अद्य सुमना उपागहि सहस्रपोषᳫं सुभगे रराणा ॥६॥

किं पश्यसि प्रजां पशून्त्सौभाग्यं मह्यं दीर्घायुष्ट्वं पत्युः ॥७॥[1]

---

१. ये मन्त्र मन्त्रब्रा० १।५।३–५ से उद्धृत हैं। प्रतीत होता है कि हस्तलेख में लिखते समय पाठ आगे-पीछे हो गया। अतः संस्करण २-१७ तक पाठ निम्न प्रकार अस्त-व्यस्त छपा मिलता है—

ओं राकामहᳫं सुहवाᳫं सुष्टुती हुवे शृणोतु नः सुभगा बोधतु ।
उपागहि सहस्रपोषᳫं सुभगे रराणा ॥५॥

ओं किं परमना सीव्यत्वपः सूच्या च्छिद्यमानया ददातु वीरᳫं शतदायमुक्थ्यम् ॥६॥

ओं यास्ते राके सुमतयः सुपेशसो याभिर्ददासि दाशुषे वसूनि ।
ताभिर्नो अद्य सुमनाश्यसि प्रजां पशून्त्सौभाग्यं मह्यं दीर्घायुष्ट्वं पत्युः ॥७॥

(ऐसा ही अपपाठ संस्कारविधि के प्रथम संस्करण पृष्ठ २६ मन्त्र संख्या ३-५ में भी छपा है। सम्भवतः इसी कारण द्वि०सं० में भी अपपाठ हुआ है।)

यहां मन्त्र ५ में 'बोधतु' के आगे मन्त्र ६ के उत्तरार्द्ध का 'उपागहि… रराणा' भाग और मन्त्र ७ के आरम्भ का 'किं प' भाग अस्थान में जुड़ गया है। 'किं प' भाग का मं० ७ के 'श्यसि' से सम्बन्ध स्पष्ट है—'किं पश्यसि'। मन्त्र ५, ६ ऋग्वेद २।३२।४, ५ में भी आते हैं। उसके अनुसार उतने भाग पर स्वर चिह्न सं० २ से ही मिलते हैं, शेष भाग स्वररहित छपा है। संस्करण १० में ऋग्वेद का पता तो दे दिया है, परन्तु पाठ संस्करण १७ तक अशुद्ध ही छपता रहा। संस्करण २१ में मन्त्र ५, ६ का पाठ ऋग्वेद के समान करके 'किं पश्यसि' मन्त्र को यहां से हटाकर आगे अन्त्यभाग में 'प्रजां पश्यामि' के स्थान पर जोड़कर 'प्रजां पशून् सौभाग्यं मह्यं दीर्घायुष्ट्वं पत्युः पश्यामि' ऐसा बना दिया है।

वस्तुतः ऋषि दयानन्द ने ये मन्त्र मन्त्रब्राह्मण से ही उद्धृत किये थे, क्योंकि इनमें सत्यव्रत सामश्रमी संस्करण के अनुसार ᳫंकार मिलता है। ऋग्वेद में ᳫंकार नहीं होता। यद्यपि मन्त्र ५ के अन्त में 'शतदायमुक्थ्यम्' पाठ है, तथापि

इन मन्त्रों को पढ़के पति अपने हाथ से स्वपत्नी के केशों में सुगन्ध तेल डाल, कंघे से सुधार, हाथ में उदुम्बर अथवा अर्जुन वृक्ष की शलाका वा कुशा की मृदु छीपी वा शाही पशु के कांटे से अपनी पत्नी के केशों को स्वच्छ कर, पट्टी निकाल और पीछे की ओर जूड़ा सुन्दर बांधकर यज्ञशाला में आवें। उस समय वीणा आदि बाजे बजवावें। तत्पश्चात् पृष्ठ ३८-३९ में लिखे प्रमाणे सामवेद का[1] गान करें। पश्चात्—

ओं सोम एव नो राजेमा मानुषीः प्रजाः।
अविमुक्तचक्र आसीरंस्तीरे तुभ्यम् असौ* ॥[2]

आरम्भ में इस मन्त्र का गान करके, पश्चात् अन्य मन्त्रों का गान करें।

तत्पश्चात् पूर्व आहुतियों के देने से बची हुई खिचड़ी में पुष्कल घृत डालके गर्भिणी स्त्री अपना प्रतिबिम्ब उस घी में देखे। उस समय पति स्त्री से पूछे—"**किं पश्यसि**"। स्त्री उत्तर देवे—"**प्रजां पश्यामि**"।

तत्पश्चात् एकान्त में वृद्ध कुलीन सौभाग्यवती पुत्रवती गर्भिणी अपने कुल की और ब्राह्मणों की स्त्रियां बैठें, प्रसन्नवदन और प्रसन्नता की बातें करें। और वह गर्भिणी स्त्री उस खिचड़ी को खावे, और वे वृद्ध समीप बैठी हुईं उत्तम स्त्री लोग ऐसा आशीर्वाद देवें—

ओं वीरसूस्त्वं भव, जीवसूस्त्वं भव, जीवपत्नी त्वं भव ॥[3]

ऐसे शुभ माङ्गलिक वचन बोलें। तत्पश्चात् संस्कार में आये हुए मनुष्यों का यथायोग्य सत्कार करके स्त्री स्त्रियों और पुरुष पुरुषों को विदा करें॥

इति सीमन्तोन्नयनसंस्कारविधिः समाप्तः॥



यहां मन्त्रब्राह्मण का 'शतदायुमुख्यम्' पाठ ही होना चाहिए, क्योंकि आगे पीछे मन्त्रब्राह्मण के ही पाठ हैं। मन्त्र ५-६ में स्वरचिह्न संस्करण २ में ऋग्वेद के अनुसार दे दिये हैं (सं० १ में स्वरचिह्न नहीं हैं)। २१वें संस्करण में ऋग्वेदीय पाठ छापा है, वह ठीक नहीं।

१. अर्थात् महावामदेव्य साम का।

२. पार० गृह्य १।१५।८॥

३. द्र०—गोभिल गृह्य २।७।१२॥

*यहां किसी नदी का नाम उच्चारण करे। द० स०

अथ जातकर्म-संस्कारविधिः

इसका समय और प्रमाण और कर्मविधि इस प्रकार करें—

सोष्यन्तीमद्भिरभ्युक्षति ॥ इत्यादि पारस्कर गृह्यसूत्र[1] का प्रमाण है ॥

इसी प्रकार आश्वलायन गोभिलीय और शौनक गृह्यसूत्रों में भी लिखा है।

जब प्रसव होने का समय आवे, तब निम्नलिखित मन्त्र से गर्भिणी स्त्री के शरीर पर जल से मार्जन करे—

ओम् एज॑तु दश॑मास्यो॒ गर्भो॑ ज॒रायु॑णा स॒ह ।
यथा॒यं वा॒युरेज॑ति॒ यथा॑ समु॒द्र एज॑ति ।
ए॒वायं दश॑मास्यो॒ अस्र॑ज्ज॒रायु॑णा स॒ह ॥

यजु॰ अ॰ ८। मं २८ ॥

इससे मार्जन करने के पश्चात्—

ओम् अवैतु पृश्निशेवल॑ शुने जराय्वत्तवे ।
नैव मांसेन पीवरीं न कस्मिंश्चनायतनमव जरायु पद्यताम् ॥[2]

इस मन्त्र का जप करके पुनः मार्जन करे ।

कुमारं जातं पुराऽन्यैरालम्भात् सर्पिर्मधुनी हिरण्यनिकाषं हिरण्येन प्राशयेत् ॥[3]

जब पुत्र का जन्म होवे, तब प्रथम दायी आदि स्त्री लोग बालक के शरीर का जरायु पृथक् कर मुख, नासिका, कान, आंख आदि में से मल को शीघ्र दूर कर कोमल वस्त्र से पोंछ, शुद्ध कर, पिता के गोद में बालक को देवें। पिता जहां वायु और शीत का प्रवेश न हो, वहां बैठके एक बीता भर नाड़ी को छोड़, ऊपर सूत से बांधके, उस बन्धन के ऊपर से नाड़ीछेदन करके किञ्चित् उष्ण जल से

---

१. पार॰ गृह्य १।१६।१ ॥   २. पार॰ गृह्य १।१६।२ ॥
३. आश्व॰ गृह्य १।१५।१ ॥

बालक को स्नान करा, शुद्ध वस्त्र से पोंछ, नवीन शुद्ध वस्त्र पहिना जो प्रसूता-घर के बाहर पूर्वोक्त प्रकार कुण्ड कर रखा हो, अथवा तांबे के कुण्ड में समिधा पूर्वलिखित प्रमाणे चयन कर पूर्वोक्त सामान्यविध्युक्त पृष्ठ ३०-३१ में कहे प्रमाणे अग्न्याधान समिदाधान करके, अग्नि को प्रदीप्त करके, सुगन्धित घृतादि वेदी के पास रखके, हाथ पग धोके, एक पीठासन अर्थात् शुभासन पुरोहित* के लिए कुण्ड के दक्षिण भाग में रक्खे, उस पर उत्तराभिमुख बैठे। और यजमान अर्थात् बालक का पिता हाथ पग धोके वेदी के पश्चिम भाग में आसन बिछा, उस पर उपवस्त्र ओढ़के पूर्वाभिमुख बैठे। तथा सब सामग्री अपने और पुरोहित के पास रखके पुरोहित पद के स्वीकार के लिए बोले—

ओम् आ वसोः सदने सीद ॥

तत्पश्चात् पुरोहित—

ओं सीदामि ॥

बोलके आसन पर बैठके पृष्ठ ३१ में लिखे प्रमाणे "अयं त इध्म०" ४ चार[1] मन्त्रों से वेदी में चन्दन की समिदाधान करे। और प्रदीप्त समिधा पर पूर्वोक्त सिद्ध किये घी की पृष्ठ ३३-३४ में लिखे प्रमाणे आघारावाज्यभागाहुति[2] ४ चार, और व्याहृति आहुति[3] ४ चार दोनों मिलके ८ आठ आज्याहुति देनी। तत्पश्चात्—

ओं या तिरश्ची निपद्यते अहं विधरणी इति। तां त्वा घृतस्य धारया यजे सꣳराधनीमहम्। सꣳराधिन्यै देव्यै देष्ट्र्यै स्वाहा ॥ इदं संराधिन्यै—इदन्न मम ॥१॥

ओं विपश्चित् पुच्छमभरत् तद्धाता पुनराहरत्।

---

*धर्मात्मा शास्त्रोक्त विधि को पूर्णरीति से जाननेहारा विद्वान् सद्धर्मी कुलीन निर्व्यसनी सुशील वेदप्रिय पूजनीय सर्वोपकारी गृहस्थ की पुरोहित संज्ञा है ॥ द० स०

१. यहां ७वें संस्करण तक '३' छपा है 'चार' चाहिये। द्र०—वेदारम्भ के प्रारम्भ में प्रथम पृष्ठ। २. 'ओम् अग्नये स्वाहा' आदि चार मन्त्रों से।

३. 'ओं भूरग्नये स्वाहा' आदि चार मन्त्रों से।

परेहि त्वं त्रिपश्चित् पुमानयं जनिष्यतेऽसौ नाम स्वाहा ॥
इदं धात्रे—इदन्न मम ॥२॥[1]

इन दोनों मन्त्रों से २ दो आज्याहुति करके, पृष्ठ ३८–३९ में लिखे प्रमाणे **वामदेव्यगान** करके, ७—१० पृष्ठ में लिखे प्रमाणे ईश्वरोपासना[2] करें।

तत्पश्चात् घी और मधु दोनों बरोबर[3] मिलाके, जो प्रथम सोने की शलाका कर रखी हो, उससे बालक की जीभ पर "ओ३म्" यह अक्षर लिखके, उसके दक्षिण कान में "वेदोऽसीति"—'तेरा गुप्त नाम वेद है' ऐसा सुनाके, पूर्व मिलाये हुए घी और मधु को उस सोने की शलाका से बालक को नीचे लिखे मन्त्र से थोड़ा-थोड़ा चटावे—

ओं प्र ते ददामि मधुनो घृतस्य वेदं सवित्रा प्रसूतं मघोनाम्।
आयुष्मान् गुप्तो देवताभिः शतं जीव शरदो लोके अस्मिन् ॥१॥[4]

[5]ओं भूस्त्वयि दधामि ॥२॥
ओं भुवस्त्वयि दधामि ॥३॥
ओं स्वस्त्वयि दधामि ॥४॥
ओं भूर्भुवःस्वस्सर्वं त्वयि दधामि ॥५॥[6]

---

१. मन्त्रब्रा० १।५।६, ७॥ 'स्वाहा······ इदन्न मम' मन्त्र में नहीं है॥

२. 'विश्वानि देव०' आदि ८ मन्त्रों से।

३. वै० य० मुद्रित संस्करणों में 'बरावर' अशुद्ध पाठ है। 'बरोबर' यह गुजराती भाषा का शब्द है। इसका अर्थ होता है—यथायोग्य=उचित। मधु और घृत की बरावर मात्रा होने पर वह विष हो जाता है। ऐसा आयुर्वेद-शास्त्रज्ञों का मत है। यथोचित मात्रा १ तोला मधु और $\frac{1}{2}$ तोला घृत होना चाहिये।

४. आश्व० गृह्य १।१५।१॥

५. इस मन्त्र से पूर्व चतुर्थ संस्करण से 'मेधां ते मित्रावरुणौ' (मन्त्रब्रा० १।५।९) इत्यादि मन्त्र अधिक छप रहा है। संस्कारविधि की रफ कापी में यह मन्त्र लिखकर काटा हुआ है, तथा प्रेस कापी में नहीं है। द्वितीय और तृतीय संस्करण में भी नहीं है। परन्तु तृतीय संस्करण में छठे मन्त्र के पश्चात् 'छ' के स्थान में 'सात' पाठ छपा है (मन्त्र ६ ही छपे हैं)। सम्भवतः इसी से भ्रान्त होकर चतुर्थ संस्करण में उक्त मन्त्र बढ़ाया गया है।

६. पार० गृह्य १।१६।४॥

ओं सद॑स॒स्पति॒मद्भु॑तं प्रि॒यमिन्द्र॑स्य॒ काम्य॑म् ।
स॒निं मे॒धाम॑यासिष॒ᳪ स्वाहा॑ ॥६॥[1]

इन प्रत्येक मन्त्रों से ६ छः बार[2] घृत मधु प्राशन कराके, तत्पश्चात् चावल और जव को शुद्ध कर पानी से पीस, वस्त्र से छान, एक पात्र में रखके हाथ के अंगूठा और अनामिका से थोड़ा सा लेके—

ओम् इदमाज्यमिदमन्नमिदमायुरिदममृतम् ॥[3]

इस मन्त्र को बोलके बालक के मुख में एक बिन्दु छोड़ देवे। यह एक गोभिलीय गृह्यसूत्र का मत है, सब का नहीं।

पश्चात् बालक का पिता बालक के दक्षिण कान में मुख लगा के निम्नलिखित मन्त्र बोले—

ओं मेधां ते देवः सविता मेधां देवी सरस्वती ।
मेधां ते अश्विनौ देवावाधत्तां पुष्करस्रजौ ॥१॥[4]

ओम् अग्निरायुष्मान्त्स वनस्पतिभिरायुष्माँस्तेन त्वाऽऽयुषाऽऽयुष्मन्तं करोमि ॥२॥

ओं सोम आयुष्मान्त्स ओषधीभिरायुष्मांस्तेन०*॥३॥

ओं ब्रह्माऽऽयुष्मत् तद् ब्राह्मणैरायुष्मत् तेन० ॥४॥

ओं देवा आयुष्मन्तस्तेऽमृतेनायुष्मन्तस्तेन० ॥५॥

ओम् ऋषय आयुष्मन्तस्ते व्रतैरायुष्मन्तस्तेन० ॥६॥

---

*यहां पूर्व मन्त्र का शेषभाग (त्वा) इत्यादि मन्त्रों के पश्चात् बोले ॥ द. स.

१. यजु० ३२।१३ ॥ यजुर्वेद में ही 'स्वाहा' पदयुक्त पाठ है। ऋग्वेद १।१८।६; सामवेद पू० २ (२)। ४।७ में 'स्वाहा' पाठ नहीं है। अतः १०वें संस्करण से जो ऋग्वेद का पता छपता है, वह अशुद्ध है।

२. अर्थात् एक एक से एक एक बार करके छ बार।

३. तु०—मन्त्रब्रा० १।५।८; गोभिल गृह्य २।७।१८॥ दोनों ग्रन्थों में 'इयमाज्ञेदमन्न०' पाठ है।

४. आश्व० गृह्य १।१५।२॥

ओं पितर आयुष्मन्तस्ते स्वधाभिरायुष्मन्तस्तेन० ॥७॥
ओं यज्ञ आयुष्मान्त्स दक्षिणाभिरायुष्मांस्तेन० ॥८॥
ओं समुद्र आयुष्मान्त्स स्रवन्तीभिरायुष्मांस्तेन त्वायुषाऽऽयुष्मन्तं करोमि ॥९॥[1]

इन नव मन्त्रों का जप करे। इसी प्रकार बायें कान पर मुख धर ये ही नव मन्त्र पुनः जपे।

इसके पीछे बालक के कन्धों पर कोमल स्पर्श से हाथ धर, अर्थात् बालक के स्कन्धों पर हाथ का बोझा न पड़े, धरके निम्नलिखित मन्त्र बोले—

ओम् इन्द्र श्रेष्ठानि द्रविणानि धेहि चित्तिं दक्षस्य सुभगत्वमस्मे।
पोषं रयीणामरिष्टिं तनूनां स्वाद्मानं वाचः सुदिनत्वमह्नाम् ॥१॥
अस्मे प्र यन्धि मघवन्नृजीषिन्निन्द्र रायो विश्ववारस्य भूरेः।
अस्मे शतं शरदो जीवसे धा अस्मे वीराञ्छश्वत इन्द्र शिप्रिन् ॥२॥[2]

ओम् अश्मा भव परशुर्भव हिरण्यमस्तृतं भव।
वेदो वै पुत्र नामासि स जीव शरदः शतम् ॥३॥[4]

इन तीन मन्त्रों को बोले। तत्पश्चात्—

त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम्।
यद्देवेषु त्र्यायुषं तन्नोऽ अस्तु त्र्यायुषम् ॥१॥[5]

इस मन्त्र का तीन बार जप करे।

तत्पश्चात् बालक के स्कन्धों पर से हाथ उठा ले। और जिस जगह पर बालक का जन्म हुआ हो वहां जाके—

ओं वेद ते भूमि हृदयं दिवि चन्द्रमसि श्रितम्।
वेदाहं तन्मा तद्विद्यात् पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतम् ॥१॥[6]

---

१. पारस्कर गृह्य १।१६।६॥ २. ऋ० २।२१।६॥
३. ऋ० ३।३६।१०॥ ४. आश्व० गृह्य १।१५।३॥
५. यजु० ३।६२॥ ६. पार० गृह्य १।१६।१७॥

इस मन्त्र का जप करे। तथा—

यत्ते सुसीमे हृदयँ हितमन्तः प्रजापतौ।
वेदाहं मन्ये तद् ब्रह्म माहं पौत्रमघं निगाम् ॥२॥

यत् पृथिव्या अनामृतं दिवि चन्द्रमसि श्रितम्।
वेदामृतस्येह नाम माहं पौत्रमघँ रिषम् ॥३॥

इन्द्राग्नी शर्म यच्छतं प्रजायै मे[1] प्रजापती।
यथायं न प्रमीयते पुत्रो जनित्र्या अधि ॥४॥

यदद्श्चन्द्रमसि कृष्णं पृथिव्या हृदयꣳ श्रितम्।
तदहं विद्वांꣳस्तत् पश्यन् माहं पौत्रमघꣳ रुदम् ॥५॥[2]

इन मन्त्रों को पढ़ता हुआ सुगन्धित जल से प्रसूता के शरीर का मार्जन करे।

कोऽसि कतमोऽस्येषोऽस्यमृतोऽसि।
आहस्पत्यं मासं प्रविशासौ§ ॥६॥

स त्वाह्ने परिददात्वहस्त्वा रात्र्यै परिददातु रात्रिस्त्वाहोरात्राभ्यां परिददात्वहोरात्रौ त्वार्द्धमासेभ्यः परिदत्तामर्द्धमासास्त्वा मासेभ्यः परिददतु मासास्त्वर्तुभ्यः परिददत्वृतवस्त्वा संवत्सराय परिददतु संवत्सरस्त्वायुषे जरायै परिददात्वसौ§ ॥७॥[3]

इन मन्त्रों को पढ़के बालक को आशीर्वाद देवे। पुनः—

अङ्गादङ्गात् सꣳस्रवसि हृदयादधिजायसे।
प्राणं ते प्राणेन सन्दधामि जीव मे यावदायुषम् ॥८॥[4]

---

१. 'प्रजायै मे' पद लेखक-प्रमाद से त्रुटित हैं। हमने मन्त्र-पाठानुसार ये पद बढ़ाए हैं। पृष्ठ ८३ पर भी यही त्रुटि है। द्र०—टिप्पणी १।

२. मन्त्र ब्रा० १।५।१०-१३॥　३. मन्त्र ब्रा० १।५।१४, १५॥

४. मन्त्र ब्रा० १।५।१६॥　§ यहां 'असौ' के स्थान में 'हे बालक' अथवा 'हे बालिके' ऐसा पढ़ें, इसी प्रकार आगे भी।

अङ्गादङ्गात् संभवसि हृदयादधिजायसे ।
वेदो वै पुत्र नामासि स जीव शरदः शतम् ॥९॥
अश्मा भव परशुर्भव हिरण्यमस्तृतं भव ।
आत्माऽसि पुत्र मा मृथाः स जीवः शरदः शतम् ॥१०॥
पशूनां त्वा हिङ्कारेणाभिजिघ्राम्यसौ ॥११॥[1]

इन मन्त्रों को पढ़के पुत्र के शिर का आघ्राण करे अर्थात् सूंघे। इसी प्रकार जब-जब परदेश से आवे वा जावे, तब-तब भी इस क्रिया को करे, जिससे पुत्र और पिता-माता में अति प्रेम बढ़े।

ओम् इडासि मैत्रावरुणी वीरे वीरमजीजनथाः ।
सा त्वं वीरवती भव याऽस्मान् वीरवतोऽकरत् ॥[2]

इस मन्त्र से ईश्वर की प्रार्थना करके, प्रसूता स्त्री को प्रसन्न करके, पश्चात् स्त्री के दोनों स्तन किञ्चित् उष्ण सुगन्धित जल से प्रक्षालन कर पोंछके—

ओम् इमꣳ स्तनमूर्जस्वन्तं धयापां प्रपीनमग्ने सरिरस्य मध्ये ।
उत्सं जुषस्व मधुमन्तमर्वन्त्समुद्रियꣳ सदनमा विशस्व ॥[3]

इस मन्त्र को पढ़के दक्षिण स्तन प्रथम बालक के मुख में देवे। इसके पश्चात्—

ओं यस्ते स्तनः शशयो यो मयोभूर्यो रत्नधा वसुविद्यः सुदत्रः ।
येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि सरस्वति तमिह धातवे कः ॥[4]

इस मन्त्र को पढ़के वाम स्तन बालक के मुख में देवे। तत्पश्चात्—

---

१. मन्त्र ब्रा० १।५।१७-१९॥ २. पार० गृह्य १।१६।१९॥

३. यजु० १७।८७॥ द्वितीय तथा कुछ संस्करणों में 'शरीरस्य मध्ये' अपपाठ छपा हुआ मिलता है। मन्त्रपाठ पर स्वरचिह्न भी नहीं थे।

४. शत० ब्रा० १४।९।४।२८॥ १०वें संस्करण में पता ऋ० १।१६४।४९ छपा है, परन्तु पाठ यही है। शताब्दी-संस्करण में ऋग्वेदानुसारी पाठ बना

ओम् आपो देवेषु जाग्रथ यथा देवेषु जाग्रथ ।
एवमस्याꣳ सूतिकायाꣳ सपुत्रिकायां जाग्रथ ॥[1]

इस मन्त्र से प्रसूता स्त्री के शिर की ओर एक कलश जल से पूर्ण भरके दश रात्रि तक वहीं धर रक्खे ।

तथा प्रसूता स्त्री प्रसूत-स्थान में दश दिन तक रहे । वहां नित्य सायं और प्रातःकाल सन्धिवेला में निम्नलिखित दो मन्त्रों से भात और सरसों[2] मिलाके दश दिन तक बराबर आहुतियां देवे—

ओं शण्डामर्का उपवीरः शौण्डिकेय उलूखलः । मलिम्लुचो द्रोणासश्च्यवनो नश्यतादितः स्वाहा ॥ इदं शण्डामर्काभ्यामुपवीराय शौण्डिकेयायोलूखलाय मलिम्लुचाय द्रोणेभ्यश्च्यवनाय—इदन्न मम ॥१॥

ओम् आलिखन्ननिमिषः किंवदन्त उपश्रुतिर्हर्यक्षः कुम्भीशत्रुः पात्रपाणिर्नृमणिर्हन्त्रीमुखः सर्षपारुणश्च्यवनो नश्यतादितः स्वाहा ॥ इदमालिखतेऽनिमिषाय किंवदद्भ्य उपश्रुतये हर्यक्षाय कुम्भीशत्रवे पात्रपाणये नृमणये हन्त्रीमुखाय सर्षपारुणाय च्यवनाय—इदन्न मम ॥२॥[3]

इन मन्त्रों से १० दिन तक होम करके पश्चात् अच्छे-अच्छे विद्वान् धार्मिक वैदिक मतवाले बाहर खड़े रहकर और बालक का पिता भीतर रहकर आशीर्वादरूपी नीचे लिखे मन्त्रों का पाठ आनन्दित होके करें—

दिया गया है । तब से ऋग्वेदीय पाठ ही छप रहा है । २५ वें संस्करण में पाठ शतपथानुसारी छाप कर स्वर ऋग्वेदानुसारी [उदात्त अनुदात्त स्वरित तीनों] दिये हैं । शतपथ में केवल उदात्तस्वर का ही संकेत होता है । अतः शतपथ के पाठ पर ऋग्वेदीय स्वर-संकेत देना अशुद्ध है । पारस्कर में संकेतित पाठ स्वशाखीय शतपथानुसारी है ! पाठ की साधारण अशुद्धि हमने ठीक कर दी है ।

१. पार० गृह्य १।१६।२२॥ २. यहां पीली सरसों अभिप्रेत है ।

३. पार० गृह्य १।१६।२६॥ वहां 'इदं...इदन्न मम' भाग नहीं है ।

मा नो हासिषुर्ऋषयो दैव्या ये तनूपा ये नस्तन्वस्तनूजाः ।
अमर्त्या मर्त्याँ अभि नः सचध्वमायुर्धत्त प्रतरं जीवसे नः ॥१॥

अथर्व० कां० ६ । अनु० ४ । सू० ४१ ॥[1]

इमं जीवेभ्यः परिधिं दधामि मैषां नु गादपरो अर्थमेतम् ।
शतं जीवन्तः शरदः पुरूचीस्तिरो मृत्युं दधतां पर्वतेन ॥२॥

अथर्व० कां० १२ । अ० २ । मं० २३ ॥[2]

विवस्वान्नो अभयं कृणोतु यः सुत्रामा जीरदानुः सुदानुः ।
इहेमे वीरा बहवो भवन्तु गोमदश्ववन्मय्यस्तु पुष्टम् ॥३॥

अथर्व० कां० १८ । अनु० ३ । मं० ६१ ॥[3]

इति जातकर्मसंस्कारविधिः समाप्तः ॥



---

१. सरल और पूरा पता अथर्व ६।४१।३॥
२. सरल और पूरा पता अथर्व १२।२।२३॥
३. सरल और पूरा पता अथर्व १८।३।६१॥

अथ नामकरणसंस्कारविधिं वक्ष्यामः

अत्र प्रमाणम्—नाम चास्मै दद्युः ॥१॥

घोषवदाद्यन्तरन्तःस्थमभिनिष्ठानान्तं द्व्यक्षरम् ॥२॥

चतुरक्षरं वा ॥३॥

द्व्यक्षरं प्रतिष्ठाकामश्चतुरक्षरं ब्रह्मवर्चसकामः ॥४॥

युग्मानि त्वेव पुंसाम् ॥५॥ अयुजानि स्त्रीणाम् ॥६॥

अभिवादनीयं च समीक्षेत तन्मातापितरौ विदध्यातामोपनयनात् ॥७॥ इत्याश्वलायनगृह्यसूत्रेषु ॥[1]

दशम्यामुत्थाप्य[2] पिता नाम करोति—द्व्यक्षरं चतुरक्षरं वा घोषवदाद्यन्तरन्तःस्थं दीर्घाभिनिष्ठानान्तं कृतं कुर्यान्न तद्धितम्, अयुजाक्षरमाकारान्तं स्त्रियै[3]। शर्म ब्राह्मणस्य वर्म क्षत्रियस्य गुप्तेति वैश्यस्य ॥[4]

इसी प्रकार गोभिलीय और शौनक गृह्यसूत्र में भी लिखा है ॥

नामकरण—अर्थात् जन्मे हुए बालक का सुन्दर नाम धरे।

नामकरण का काल—जिस दिन जन्म हो उस दिन से लेके १० दिन छोड़ ११ ग्यारहवें वा १०१ एकसौ एकवें अथवा दूसरे वर्ष के आरम्भ में जिस दिन जन्म हुआ हो, नाम धरे।

जिस दिन नाम धरना हो, उस दिन अति प्रसन्नता से इष्ट मित्र हितैषी लोगों को बुला, यथावत् सत्कार कर, क्रिया का आरम्भ यजमान बालक का पिता और ऋत्विज करें।

---

१. आश्व० गृह्य १।१५।४-१०॥

२. पार० गृह्य में 'मुत्थाप्य ब्राह्मणान् भोजयित्वा पिता' पाठ है।

३. पार० गृह्य में 'स्त्रियै तद्धितम्' पाठ है। द्र०—पृष्ठ ८१ पं० १४।

४. पार० गृह्य १।१७।१-४॥

पुनः पृष्ठ ७-३२ में लिखे प्रमाणे सब मनुष्य ईश्वरोपासना, स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण और सामान्य प्रकरणस्थ संपूर्ण विधि[1] करके आघारावाज्यभागाहुति[2] ४ चार, और व्याहृति आहुति[3] ४ चार, और पृष्ठ ३६-३७ में लिखे प्रमाणे (त्वन्नो अग्ने०) इत्यादि ८ आठ मन्त्रों से ८ आठ आहुति, अर्थात् सब मिला के १६ घृताहुति करें।

तत्पश्चात् बालक को शुद्ध [जल से][4] स्नान करा, शुद्ध वस्त्र पहिनाके उसकी माता कुण्ड के समीप बालक के पिता के पीछे से आ दक्षिण भाग में होकर, बालक का मस्तक उत्तर दिशा में रखके, बालक के पिता के हाथ में देवे। और स्त्री पुनः उसी प्रकार पति के पीछे होकर उत्तर भाग में पूर्वाभिमुख बैठे। तत्पश्चात् पिता उस बालक को उत्तर में शिर और दक्षिण में पग करके अपनी पत्नी को देवे। पश्चात् जो उसी संस्कार के लिए कर्त्तव्य हो, उस प्रथम प्रधान होम को करे। पूर्वोक्त प्रकार घृत और सब साकल्य सिद्ध कर रक्खे। उसमें से प्रथम घी का चमचा भरके—

ओं प्रजापतये स्वाहा ॥[5]

इस मन्त्र से एक आहुति देकर, पीछे जिस तिथि जिस नक्षत्र में बालक का जन्म हुआ हो, उस तिथि और उस नक्षत्र का नाम लेके, उस तिथि और उस नक्षत्र के देवता के नाम से ४ चार आहुति देनी। अर्थात् एक तिथि, दूसरी तिथि के देवता, तीसरी नक्षत्र, और चौथी नक्षत्र के देवता के नाम से। अर्थात् तिथि नक्षत्र और उनके देवताओं के नाम के अन्त में चतुर्थी विभक्ति का रूप और स्वाहान्त बोलके ४ चार घी की आहुति देवे। जैसे किसी का जन्म प्रतिपदा और अश्विनी नक्षत्र में हुआ हो, तो—

---

१. अर्थात् जलसेचन पर्यन्त। अगले कर्म का निर्देश आगे किया है।

२. 'ओम् अग्नये स्वाहा' आदि ४ मन्त्रों से।

३. 'ओं भूरग्नये स्वाहा' आदि ४ मन्त्रों से।

४. इस परिवर्धन के विना अर्थ स्पष्ट नहीं होता। द्र०—पृष्ठ ८२ पं० १५।

५. इस आहुति का संकेत गोभिल गृह्य २।८।१२ में है।

ओं प्रतिपदे स्वाहा । ओं ब्रह्मणे स्वाहा ।
ओम् अश्विन्यै स्वाहा । ओम् अश्विभ्यां स्वाहा ॥*[1]

तत्पश्चात् पृष्ठ ३५ में लिखी हुई स्विष्टकृत्-मन्त्र[2] से एक आहुति, और पृष्ठ में ३४ लिखे प्रमाणे ४ चार व्याहृति[3] आहुति दोनों मिलके ५ पांच आहुति देके, तत्पश्चात् माता बालक को लेके शुभ आसन पर बैठे । और पिता बालक के नासिका द्वार से बाहर निकलते हुए वायु का स्पर्श करके—

---

*तिथिदेवताः[4]— १-ब्रह्मन् । २-त्वष्टृ । ३-विष्णु । ४-यम । ५-सोम । ६-कुमार । ७-मुनि । ८-वसु । ९-शिव[5] । १०-धर्म । ११-रुद्र । १२-वायु । १३-काम । १४-अनन्त[5] । १५-विश्वेदेव । ३०-पितर ॥ द० स०

नक्षत्रदेवताः[4]—अश्विनी—अश्वी । भरणी—यम । कृत्तिका—अग्नि । रोहिणी—प्रजापति । मृगशीर्ष—सोम । आर्द्रा—रुद्र । पुनर्वसु—अदिति । पुष्य—बृहस्पति । आश्लेषा —सर्प । मघा—पितृ । पूर्वाफल्गुनी—भग । उत्तराफल्गुनी—अर्यमन् । हस्त—सवितृ । चित्रा—त्वष्टृ । स्वाति—वायु । विशाखा—इन्द्राग्नी । अनुराधा—मित्र । ज्येष्ठा—इन्द्र । मूल—निर्ऋति । पूर्वाषाढा—अप् । उत्तराषाढा—विश्वेदेव । श्रवण—विष्णु । धनिष्ठा—वसु । शतभिषज्—वरुण । पूर्वाभाद्रपदा—अजैकपाद्§ । उत्तराभाद्रपदा—अहिर्बुध्न्य । रेवती—पूषन् ॥ द० स०

---

१. यह पाठ निदर्शनार्थ है । तिथि नक्षत्र और उनके देवता के लिए आहुति देने का विधान गोभिल गृह्य २।८।१२ में है । अनेक व्यक्ति तिथि नक्षत्र आहुतियों का सम्बन्ध फलित ज्योतिष के साथ समझते हैं, यह भ्रम है । गृह्य-सूत्रान्त वैदिक वाङ्मय (परिशिष्टों को छोड़कर) में फलित ज्योतिष का नाम-मात्र भी संकेत उपलब्ध नहीं होता । इनमें तिथि आहुति का सम्बन्ध जन्मकाल के स्मरण रखने के साथ है, और नक्षत्राहुति का सम्बन्ध नाक्षत्रिक नाम के साथ है । प्राचीन काल में नाक्षत्रिक नाम रखने की परिपाटी थी । इसका निर्देश अष्टाध्यायी अ० ४।३।३४—३७ में भी मिलता है ।

२. 'ओं यदस्य कर्मणोऽत्यरीरिचं०' मन्त्र से ।

३. 'ओं भूरग्नये स्वाहा' आदि ४ मन्त्रों से ।

४. तिथि-देवता और नक्षत्र-देवता के लिए गोभिल गृह्य २।८।१२ का भट्ट नारायण का भाष्य देखना चाहिए । § 'अजपाद्' अपपाठ है ।

५. गोभिल गृह्यसूत्र के भट्ट नारायण के भाष्य (२।८।१२) में 'शिव' के स्थान में 'पिशाच' और 'अनन्त' के स्थान में 'यक्ष' का निर्देश है ।



कोऽसि कतमोऽसि कस्यासि को नामासि ।
यस्य ते नामामन्महि यं त्वा सोमेनातीतृपाम ।
भूर्भुवः स्वः सुप्रजाः प्रजाभिः स्याᳬ सुवीरो वीरैः सुपोषः पोषैः ॥ यजुः अ० ७ । मं० २९ ॥

ओं कोऽसि कतमोऽस्येषोऽस्यमृतोऽसि ।
आहस्पत्यं मासं प्रविशासौ ॥[1]

जो यह "असौ" पद है, इसके पीछे[2] बालक का ठहराया हुआ नाम, अर्थात् जो पुत्र हो तो नीचे लिखे प्रमाणे दो अक्षर का वा चार अक्षर का, घोषसंज्ञक और अन्तःस्थ वर्ण अर्थात् पांचों वर्गों के दो-दो अक्षर[3] छोड़के तीसरा, चौथा, पांचवां और य र ल व ये चार वर्ण नाम में अवश्य आवें* । जैसे—देव अथवा जयदेव । ब्राह्मण हो तो देवशर्मा, क्षत्रिय हो तो देववर्मा, वैश्य हो तो देवगुप्त, और शूद्र हो तो देवदास इत्यादि । और जो स्त्री हो तो एक तीन वा पांच अक्षर का नाम रक्खे—श्री, ह्री, यशोदा, सुखदा, सौभाग्यप्रदा इत्यादि । नामों को प्रसिद्ध बोलके, पुनः "असौ" पद के स्थान में बालक का [संबोधनान्त] नाम धरके पुनः "ओं कोऽसि०" ऊपर लिखित मन्त्र बोलना ।

ओं स त्वाह्ने परिददात्वहस्त्वा रात्र्यै परिददातु रात्रिस्त्वाहोरात्राभ्यां परिददात्वहोरात्रौ त्वार्द्धमासेभ्यः परिदत्तामर्द्ध-

---

*ग, घ, ङ, ज, झ, ञ, ड, ढ, ण, द, ध, न, ब, भ, म ये स्पर्श और य, र, ल, व ये चार अन्तःस्थ और ह एक ऊष्मा, इतने अक्षर नाम में होने चाहियें, और स्वरों में से कोई भी स्वर हो । जैसे—भद्रः, भद्रसेनः, देवदत्तः, भवः, भवनाथः, नागदेवः, रुद्रदत्तः, हरिदेवः इत्यादि । पुरुषों का समाक्षर नाम रखना चाहिए, तथा स्त्रियों का विषमाक्षर नाम रक्खे । अन्त्य में दीर्घ

---

१. मन्त्र ब्रा० १।१५।१४॥ २. यहां 'इस के पीछे' की जगह 'इसके स्थान में' पाठ चाहिए । और यदि उत्तर पाठ "पुनः 'असौ' पद" के अनुसार दो बार मन्त्र बोलना हो, तो मुद्रित पाठ युक्त है ।

३. अर्थात् वर्गों के आरम्भ के दो-दो अक्षर ।

मासास्त्वा मासेभ्यः परिददतु मासास्त्वर्त्तुभ्यः परिददत्वृतवस्त्वा संवत्सराय परिददतु संवत्सरस्त्वायुषे जरायै परिददातु, असौ[1] ॥

इन मन्त्रों से बालक को जैसा जातकर्म में लिख आये हैं, वैसे आशीर्वाद देवें।

इस प्रमाणे बालक का नाम रखके संस्कार में आए हुए मनुष्यों को वह नाम सुनाके पृष्ठ ३८-३९ में लिखे प्रमाणे **महावामदेव्य गान** करे। तत्पश्चात् कार्यार्थ आए हुए मनुष्यों को आदर सत्कार करके विदा करे। और सब लोग जाते समय पृष्ठ ७—१० में लिखे प्रमाणे परमेश्वर की स्तुतिप्रार्थनोपासना[2] करके बालक को आशीर्वाद देवें कि—

"हे बालक ! त्वमायुष्मान् वर्चस्वी तेजस्वी श्रीमान् भूयाः।"

हे बालक ! [तू] आयुष्मान् विद्यावान् धर्मात्मा यशस्वी पुरुषार्थी प्रतापी परोपकारी श्रीमान् हो ॥

इति नामकरणसंस्कारविधिः समाप्तः ॥



स्वर और तद्धितान्त[3] भी होवे। जैसे—श्रीः, ह्रीः, यशोदा, सुखदा, गान्धारी,[3] सौभाग्यवती, कल्याणक्रोडा इत्यादि। परन्तु स्त्रियों के जिस प्रकार के नाम कभी न रक्खे, उसमें प्रमाण—

"नर्क्षवृक्षनदीनाम्नीं नान्त्यपर्वतनामिकाम्।
न पक्ष्यहिप्रेष्यनाम्नीं न च भीषणनामिकाम्" ॥ मनुस्मृतौ[4]

(ऋक्ष) रोहिणी, रेवती इत्यादि (वृक्ष) चम्पा, तुलसी इत्यादि (नदी) गङ्गा, यमुना, सरस्वती इत्यादि (अन्त्य) चांडाली इत्यादि (पर्वत) विन्ध्याचला, हिमालया इत्यादि (पक्षी) कोकिला, हंसा इत्यादि (अहि) सर्पिणी, नागी इत्यादि (प्रेष्य) दासी, किंकरी इत्यादि (भयंकर) भीमा, भयंकरी, चण्डिका इत्यादि नाम निषिद्ध हैं। द० स०

---

१. 'असौ' के स्थान में सम्बोधनान्त नाम बोले।
२. 'ओं विश्वानि देव०' आदि आठ मन्त्रों से।
३. 'स्त्रियै तद्धितम्' (द्र०—पृ० ७७ टि० २)। ४. मनु० ३।९॥

अथ निष्क्रमणसंस्कारविधिं वक्ष्यामः

'**निष्क्रमण**' संस्कार उसको कहते हैं कि जो बालक को घर से जहां का वायु स्थान शुद्ध हो, वहां भ्रमण कराना होता है। उसका समय जब अच्छा देखें, तभी बालक को बाहर घुमावें। अथवा चौथे मास में तो अवश्य भ्रमण करावें। इसमें प्रमाण—

चतुर्थे मासि निष्क्रमणिका सूर्यमुदीक्षयति—तच्चक्षुरिति ॥

यह आश्वलायन गृह्यसूत्र का वचन है ॥[1]

जननाद्यस्तृतीयो ज्यौत्स्नस्तस्य तृतीयायाम् ॥[2]

यह पारस्कर गृह्यसूत्र[2] में भी है ॥[3]

अर्थः—निष्क्रमण संस्कार के काल के दो भेद हैं—एक बालक के जन्म के पश्चात् तीसरे शुक्लपक्ष की तृतीया, और दूसरा चौथे महीने में जिस तिथि में बालक का जन्म हुआ हो, उस तिथि में यह संस्कार करे।

---

१. यह पार० गृह्य १।१७।५-६ का वचन है॥ आश्वलायन गृह्य में निष्क्रमण-संस्कार का विधान नहीं है। किसी अर्वाचीन भट्ट कुमारिल स्वामी ने 'आश्वलायन गृह्य-कारिका' लिखी है। उसमें निष्क्रमण-संस्कार का उल्लेख कारिका संख्या १३७-१४० तक जयन्त के मत से किया है।

२. यह गोभिल गृह्य २।८।१ का वचन है ॥

३. यहां आकर ग्रन्थों के नाम-निर्देश में लिपिकर प्रमाद कारण प्रतीत होता है। संस्कारविधि के प्रथम संस्करण में निम्न शुद्ध पाठ उपलब्ध होता है—

षष्ठ निष्क्रमण संस्कार होना चाहिये। इसमें आश्वलायन गृह्यसूत्र में कुछ विशेष नहीं। इसमें पारस्कर गृह्यसूत्र का ऐसा मत है कि—

चतुर्थेमासि निष्क्रमणिका सूर्यमुदीक्षयति तच्चक्षुरिति………।

तथा गोभिल गृह्यसूत्र का भी ऐसा मत है कि—कुमारस्य मासि मासि………।

प्रथम संस्करण में गोभिल गृह्यसूत्र का क्रियापरक भाग उद्धृत किया है। वर्तमान संस्करण (द्वि सं०) में निष्क्रमण का कालविधायक वचन उद्धृत किया है। इतना ही भेद है।

उस संस्कार के दिन प्रातःकाल सूर्योदय के पश्चात् बालक को शुद्ध जल से स्नान करा, शुद्ध सुन्दर वस्त्र पहिनावे। पश्चात् बालक को यज्ञशाला में बालक की माता ले आके पति के दक्षिण पार्श्व में होकर, पति के सामने आकर, बालक का मस्तक उत्तर और छाती ऊपर अर्थात् चित्ता रखके पति के हाथ में देवे। पुनः पति के पीछे की ओर घूमके बांयें पार्श्व में पश्चिमाभिमुख[1] खड़ी रहे—

ओं यत्ते सुसीमे हृदयꣳ हितमन्तः प्रजापतौ।
वेदाहं मन्ये तद् ब्रह्म माहं पौत्रमघं निगाम्॥१॥
ओं यत् पृथिव्या अनामृतं दिवि चन्द्रमसि श्रितम्।
वेदामृतस्याहं नाम माहं पौत्रमघꣳ रिषम्॥२॥
ओम् इन्द्राग्नी शर्म यच्छतं प्रजायै[2] मे प्रजापती।
यथायं न प्रमीयेत पुत्रो जनित्र्या अधि॥३॥[3]

इन तीन मन्त्रों से परमेश्वर की आराधना करके पृष्ठ ७—३६ में लिखे प्रमाणे परमेश्वरोपासना, स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण आदि और सामान्यप्रकरणोक्त समस्त[4] विधि कर, और पुत्र को देखके इन निम्नलिखित तीन मन्त्रों से पुत्र के शिर को स्पर्श करे—

ओम् अङ्गादङ्गात् सम्भवसि हृदयादधिजायसे।
आत्मा वै पुत्र नामासि स जीव शरदः शतम्॥१॥
ओं प्रजापतेष्ट्वा हिङ्कारेणावजिघ्रामि।
सहस्रायुषाऽसौ[5] जीव शरदः शतम्॥२॥

---

१. यहां संस्करण १७ तक यही पाठ है। अगले संस्करणों में 'पूर्वाभिमुख' पाठ मिलता है हमें भी यही पाठ उचित प्रतीत होता है। देखो—नामकरण संस्कार (पृष्ठ ७८)। यहां 'खड़ी रहे' के स्थान में 'बैठे' होना चाहिये। नामकरण (पृष्ठ ७८ पं० ७—११) में भी ऐसी ही विधि है।

२. यहां 'प्रजायै मे' पाठ त्रुटित है। मन्त्रपाठानुसार बढ़ाया गया है। यही पाठशुद्धि जातकर्म-संस्कार पृ० ७३ में भी द्रष्टव्य है।

३. मन्त्र ब्रा० १।५।१०-१२॥ ४. समस्तविधि से तात्पर्य अग्न्याधान से लेकर आघारावाज्यभागाहुति तथा व्याहृति आहुति पर्यन्त है।

५. 'असौ' पद के स्थान में संबोधनान्त नाम बोले।

गवां त्वा हिङ्कारेणावजिघ्रामि ।
सहस्रायुषाऽसौ§ जीव शरदः शतम् ॥३॥[1]

तथा निम्नलिखित मन्त्र बालक के दक्षिण कान में जपे—

अस्मे प्रयन्धि मघवन्नृजीषिन्निन्द्र रायो विश्ववारस्य भूरेः ।
अस्मे शतꣳ शरदो जीवसे धा अस्मे वीराञ्छश्वत इन्द्र शिप्रिन् ॥१॥
इन्द्र श्रेष्ठानि द्रविणानि धेहि चित्तिं दक्षस्य सुभगत्वमस्मे ।
पोषं रयीणामरिष्टिं तनूनां स्वाद्मानं वाचः सुदिनत्वमह्नाम् ॥२॥[2]

इस मन्त्र को वाम कान में जपके पत्नी की गोद में उत्तर दिशा में शिर और दक्षिण दिशा में पग करके बालक को देवे । और मौन करके स्त्री[3] के शिर का स्पर्श करे। तत्पश्चात् आनन्दपूर्वक उठके बालक को सूर्य का दर्शन करावे । और निम्नलिखित मन्त्र वहां बोले—

ओं तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् । पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतं प्र ब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् ॥[4]

इस मन्त्र को बोलके थोड़ा सा शुद्ध वायु में भ्रमण कराके यज्ञशाला में ला[वे] । सब लोग—

त्वं जीव शरदः शतं वर्धमानः ॥

इस वचन को बोलके आशीर्वाद देवें ।

---

§'असौ' पद के स्थान में संबोधनान्त नाम बोले ।

१. पार० गृह्य १।१८।२-४॥ यहां टीका भी देखें ।

२. पार० गृह्य १।१८।४-५॥ स्वर ऋ० २।२१।६ के अनुसार हैं ।

३. 'स्त्री' से तात्पर्य कन्या का है, कन्या के शिर का स्पर्श ही करे । कर्ण में जप न करे, ऐसा पारस्कर गृह्य के टीकाकारों का मत है ।

४. यजुर्वेद ३६।२४॥ प्रारम्भिक संस्करणों में स्वर-निर्देश नहीं है, हमने कर दिया है ।

तत्पश्चात् बालक के माता और पिता संस्कार में आये हुए स्त्रियों और पुरुषों का यथायोग्य सत्कार करके विदा करें।

तत्पश्चात् जब रात्रि में चन्द्रमा प्रकाशमान हो, तब बालक की माता लड़के को शुद्ध वस्त्र पहिना दाहिनी ओर से आगे आके पिता के हाथ में बालक को उत्तर की ओर शिर और दक्षिण की ओर पग करके देवे। और बालक की माता दाहिनी ओर से लौट कर बाईं ओर आ, [जल की] अञ्जलि भरके चन्द्रमा के सम्मुख खड़ी रहके—

ओं यददश्चन्द्रमसि कृष्णं पृथिव्या हृदयꣳ श्रितम्।
तदहं विद्वांꣳस्तत् पश्यन् माहं पौत्रमघꣳ रुदम्॥[1]

इस मन्त्र से परमात्मा की स्तुति करके जल को पृथ्वी पर छोड़ देवें[2]। तत्पश्चात् बालक की माता पुनः पति के पृष्ठ की ओर से पति के दाहिने पार्श्व से सम्मुख आके, पति से पुत्र को लेके पुनः पति के पीछे होकर बाईं ओर [आ], बालक का उत्तर की ओर शिर दक्षिण की ओर पग रखके खड़ी रहै। और बालक का पिता जल की अञ्जलि भर (**ओं यददश्च०**) इसी मन्त्र से परमेश्वर की प्रार्थना करके जल को पृथ्वी पर छोड़के दोनों प्रसन्न होकर घर में आवें॥

इति निष्क्रमणसंस्कारविधिः समाप्तः॥



---

१. मन्त्रब्रा० १।५।१३।

२. इस विधि का सम्बन्ध पृथिवी की जलमयी अवस्था में चन्द्रमा का पृथिवी से पृथक् होने के साथ है। अर्थात् जैसे पृथिवी रूपी माता से उत्पन्न चन्द्र अपनी माता पृथिवी के साथ सदा रहता है, उसी प्रकार हमारे पुत्र का हमारे साथ वियोग न होवे। यही भाव इस कर्म में विनियुक्त मन्त्र का है।

अथान्नप्राशनविधिं वक्ष्यामः

'अन्नप्राशन' संस्कार तभी करे, जब बालक की शक्ति अन्न पचाने योग्य होवे। इसमें आश्वलायन गृह्यसूत्र का प्रमाण—

षष्ठे मास्यन्नप्राशनम् ॥ १ ॥ घृतौदनं तेजस्कामः ॥ २ ॥ दधिमधुघृतमिश्रितमन्नं प्राशयेत् ॥ ३ ॥[1]

इसी प्रकार पारस्करगृह्यसूत्रादि में भी है ॥

छठे महीने बालक को अन्नप्राशन करावे। जिस को तेजस्वी बालक करना हो, वह घृतयुक्त भात अथवा दही सहत और घृत तीनों भात के साथ मिलाके निम्नलिखित विधि से अन्नप्राशन करावे। अर्थात् पूर्वोक्त पृष्ठ ७—३९ में कहे हुए संपूर्ण विधि[2] को करके जिस दिन बालक का जन्म हुआ हो, उसी दिन यह संस्कार करे। और निम्न लिखे प्रमाणे भात सिद्ध करे—

ओं प्राणाय त्वा जुष्टं प्रोक्षामि ॥१॥

ओम् अपानाय त्वा०[3] **॥२॥**

ओं चक्षुषे त्वा० ॥३॥

ओं श्रोत्राय त्वा० ॥४॥

ओम् अग्नये स्विष्टकृते त्वा० ॥५॥

इन पांच मन्त्रों का यही अभिप्राय है कि चावलों को धो शुद्ध करके अच्छे प्रकार बनाना, और पकते हुए भात में यथायोग्य घृत भी डाल देना।

जब [चावल] अच्छे प्रकार पक जावें, तब उतार थोड़े ठण्डे हुए पश्चात् होमस्थाली में—

ओं प्राणाय त्वा जुष्टं निर्वपामि ॥१॥

---

१. आश्व० गृह्य १।१६।१,४,५॥

२. यहां सम्पूर्ण विधि से तात्पर्य स्तुतिप्रार्थनोपासना-स्वस्तिवाचन-शान्तिकरण पर्यन्त है। अग्न्याधानादि का आगे उल्लेख किया है।

३. इसके आगे 'जुष्टं प्रोक्षामि' अंश सब मन्त्रों में पढ़ना चाहिए।

ओम् अपानाय त्वा०[1] ॥२॥
ओं चक्षुषे त्वा० ॥३॥
ओं श्रोत्राय त्वा० ॥४॥
ओम् अग्नये स्विष्टकृते त्वा० ॥५॥

इन पांच मन्त्रों से कार्यकर्त्ता यजमान और पुरोहित तथा ऋत्विजों को पात्र में पृथक्-पृथक् देके पृष्ठ ३०-३४ में लिखे प्रमाणे अग्न्याधान, समिदाधानादि करके प्रथम आघारावाज्यभागाहुति[2] ४ चार, और व्याहृति आहुति[3] ४ चार मिलके ८ घृत की आहुति देके, पुनः उस पकाये हुए भात की आहुति नीचे लिखे हुए मन्त्रों से देवे—

देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति ।
सा नो मन्द्रेषमूर्जं दुहाना धेनुर्वागस्मानुप सुष्टुतैतु स्वाहा ॥
इदं वाचे---इदन्न मम ॥१॥[4]
वाजो नोऽअद्य प्र सुवाति दानं वाजो देवाँऽ ऋतुभिः कल्पयाति ।
वाजो हि मा सर्ववीरं जजान विश्वाऽआशा वाजपतिर्जयेयꣳस्वाहा ॥
इदं वाचे[5] वाजाय—इदन्न मम ॥२॥[6]

---

१. इसके आगे 'जुष्टं निर्वपामि' अंश सब मन्त्रों में पढ़ना चाहिए ।

२. 'ओम् अग्नये स्वाहा' आदि ४ मन्त्रों से ।

३. 'ओं भूरग्नये स्वाहा' आदि ४ मन्त्रों से ।

४. ऋ० ८।१००।११॥ 'स्वाहा···इदन्न मम' मन्त्र से बहिर्भूत पाठ है ।

५. पारस्कर के हरिहरादि टीकाकारों ने 'देवीं वाचं०' से प्रथम आहुति और पुनः 'देवीं वाचं०' के साथ 'वाजो नो०' मन्त्र बोलकर दो मन्त्रों से दूसरी आहुति का विधान किया है । अत एव उन्होंने द्वितीय मन्त्र में 'इदं वाचे वाजाय' त्याग का विधान किया है । यहां दूसरी आहुति 'वाजो नो०' मन्त्र से ही दर्शाई है । अतः यहां केवल 'इदं वाजाय' ही त्याग होना चाहिए । अथवा 'इदं वाचे वाजाय' त्याग-विधान सामर्थ्य से द्वितीय आहुति में 'देवीं वाचं०' मन्त्र भी पुनः बोलना चाहिए ।

६. यजु० १८।३३॥ 'स्वाहा ··इदन्न मम' मन्त्र में नहीं है । स्वर चिह्न भी हमने दिए हैं ।

इन दो मन्त्रों से दो आहुति देवें। तत्पश्चात् उसी भात में और घृत डालके—

ओं प्राणेनान्नमशीय स्वाहा ॥ इदं प्राणाय—इदन्न मम ॥१॥

ओमपानेन गन्धानशीय स्वाहा ॥ इदमपानाय—इदन्न मम ॥२॥

ओं चक्षुषा रूपाण्यशीय स्वाहा ॥ इदं चक्षुषे—इदन्न मम ॥३॥

ओं श्रोत्रेण यशोऽशीय स्वाहा ॥ इदं श्रोत्राय—इदन्न मम ॥४॥[1]

इन मन्त्रों से चार आहुति देके, (**ओं यदस्य कर्मणो०**) पृष्ठ ३५ में लिखे प्रमाणे स्विष्टकृत् आहुति एक देवे। तत्पश्चात् पृष्ठ ३५-३६ में लिखे प्रमाणे **व्याहृति आहुति**[2] ४ चार, और पृष्ठ ३६-३७ में लिखे प्रमाणे (**ओं त्वन्नो०**) इत्यादि से ८ आठ आज्याहुति मिलके १२ बारह आहुति देवे।

उसके पीछे आहुति से बचे हुए भात में दही मधु और उसमें घी यथायोग्य किञ्चित्-किञ्चित् मिलाके, और सुगन्धियुक्त और भी चावल बनाये हुए थोड़े से मिलाके बालक के रुचि प्रमाणे—

ओम् अन्नपतेऽन्नस्य नो देह्यनमीवस्य शुष्मिणः।
प्रप्र दातारं तारिषऽऊर्जं नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे ॥[3]

इस मन्त्र को पढ़के थोड़ा-थोड़ा पूर्वोक्त भात बालक के मुख में देवे। यथारुचि खिला, बालक का मुख धो, और अपने हाथ धोके पृष्ठ ३८-३९ में लिखे प्रमाणे **महावामदेव्यगान** करके, जो बालक के माता-पिता और अन्य वृद्ध स्त्री-पुरुष आये हों, वे परमात्मा की प्रार्थना करके—

त्वमन्नपतिरन्नादो वर्धमानो भूयाः।

इस वाक्य से बालक को आशीर्वाद देके, पश्चात् संस्कार में आये हुए पुरुषों का सत्कार बालक का पिता और स्त्रियों का सत्कार बालक की माता करके सबको प्रसन्नतापूर्वक विदा करें॥

इत्यन्नप्राशनसंस्कारविधिः समाप्तः॥

---

१. द्र०—पार० गृह्य १।१९।४॥

२. 'ओं भूरग्नये स्वाहा' आदि ४ मन्त्रों से।

३. यजु० ११।८३॥ स्वरचिह्न हमने दिये हैं। संस्कार-विधि के सभी संस्करणों में 'ऊज' अपपाठ छपा है।

अथ चूडाकर्मसंस्कारविधिं वक्ष्यामः

यह आठवां संस्कार 'चूडाकर्म' है, जिसको केशछेदन-संस्कार भी कहते हैं। इसमें आश्वलायन गृह्यसूत्र का मत ऐसा है—

तृतीये वर्षे चौलम् ॥१॥

उत्तरतोऽग्नेर्व्रीहियवमाषतिलानां शरावाणि निदधाति ॥२॥[1]

इसी प्रकार पारस्कर गृह्यसूत्रादि में भी है—

सांवत्सरिकस्य चूडाकरणम् ॥[2]

इसी प्रकार गोभिलीय गृह्यसूत्र का भी मत है ॥

यह चूडाकर्म अर्थात् मुण्डन बालक के जन्म के तीसरे वर्ष वा एक वर्ष में करना। उत्तरायणकाल शुक्लपक्ष में जिस दिन आनन्द-मङ्गल हो, उस दिन यह संस्कार करें।

विधिः—आरम्भ में पृष्ठ ७-३६ में लिखित विधि करके चार शरावे ले। एक में चावल, दूसरे में यव, तीसरे में उर्द और चौथे शरावे में तिल भरके वेदी के उत्तर में धर देवे[3]। धरके[4] पृष्ठ ३२ में लिखे प्रमाणे '**ओम् अदितेऽनुमन्यस्व०**' इत्यादि तीन मन्त्रों से कुण्ड के तीन बाजू और पृष्ठ ३२ में लिखे प्रमाणे "**ओं देव सवितः प्रसुव०**" इस मन्त्र से कुण्ड के चारों ओर जल छिटकाके, पूर्व पृष्ठ ३०-३१ में लिखित **अग्न्याधान समिदाधान** कर अग्नि को प्रदीप्त करके, जो समिधा प्रदीप्त हुई हो उस पर लक्ष देकर पृष्ठ ३३-३४ में **आघारावाज्यभागाहुति**[5] ४ चार, और **व्याहृति आहुति**[6] ४ चार, और पृष्ठ ३६-३७ में लिखे प्रमाणे ८ आठ **आज्याहुति**,[7] सब मिलके १६ सोलह आहुति देके, पृष्ठ ३५-३६ में लिखे प्रमाणे "**ओं भूर्भुवः स्वः। अग्न**

---

१. आश्व० गृह्य १।१७।१,२। २. पार० गृह्य २।१।१ ॥

३. व्रीहियवैस्तिलमाषैरिति पृथक् पात्राणि पूरयित्वा पुरस्तादुपनिदध्युः। गोभिल गृह्य २।८।६॥ ४. यहां से लेकर 'जल छिटकाके' तक का पाठ उससे अगली पंक्ति में स्थित 'समिदाधान कर' के पश्चात् होना चाहिए।

५. 'ओम् अग्नये स्वाहा' आदि ४ मन्त्रों से।

६. 'ओं भूरग्नये स्वाहा' आदि ४ मन्त्रों से।

७. 'ओं त्वन्नो अग्ने' आदि ८ मन्त्रों से।

आयूंषि०" इत्यादि मन्त्रों से ४ चार आज्याहुति प्रधान होम की देके, पश्चात् पृष्ठ ३४ में लिखे प्रमाणे व्याहृति आहुति[1] ४ चार, और पृष्ठ ३५ में लिखे प्रमाणे स्विष्टकृदग्नि[2] मन्त्र से एक आहुति मिलके ५ पांच घृत की आहुति देवे।

इतनी क्रिया करके कर्मकर्त्ता परमात्मा का ध्यान करके, नाई की ओर प्रथम देख के—

ओम् आयमंगन्त्सविता क्षुरेणोष्णेनं वाय उदुकेनेहि

आदित्या रुद्रा वसंव उन्दन्तु सचेतसः सोमस्य राज्ञो वपत प्रचेतसः॥

अथर्व० कां० ६। सू० ६८॥[3]

इस मन्त्र का जप करके, पिता बालक के पृष्ठ भाग में बैठके, किञ्चित् उष्ण और किञ्चित् ठण्ढा जल दोनों पात्रों में लेके—

ओम् उष्णेन वाय उदकेनैधि॥[4]

इस मन्त्र को बोलके दोनों पात्र का जल एक पात्र में मिला देवे। पश्चात् थोड़ा जल, थोड़ा माखन अथवा दही की मलाई लेके—

ओम् अदितिः श्मश्रु वपत्वाप उन्दन्तु वर्चसा।

चिकित्सतु प्रजापतिर्दीर्घायुत्वाय चक्षसे॥१॥

अथर्व० कां० ६। सू० ६८॥[5]

ओं सवित्रा प्रसूता दैव्या आप उन्दन्तु ते तनूं दीर्घायुत्वाय वर्चसे॥२॥[6]

इन मन्त्रों को बोलके, बालक के शिर के बालों में तीन बार हाथ फेरके केशों को भिगोवे। तत्पश्चात् कङ्घा लेके केशों को सुधारके इकट्ठा करे, अर्थात् बिखरे न रहें। तत्पश्चात्—

---

१. 'ओं भूरग्नये स्वाहा' आदि ४ मन्त्रों से।

२. अर्थात् 'ओं यदस्य कर्मणो०' मन्त्र से।

३. मन्त्र १॥

४. आश्व० गृह्य १।१७।६॥ तु०—पार० गृह्य २।१।६; गोभिल गृह्य २।६।११॥

५. मन्त्र २॥

६. पार० गृह्य २।१।६॥

ओम् ओषधे त्रायस्वैनम् ॥[1]

इस मन्त्र को बोलके, तीन दर्भ लेके, दाहिनी बाजू के केशों के समूह को हाथ से दबाके—

ओं विष्णोर्दꣳष्ट्रोऽसि ॥[2]

इस मन्त्र से छुरे की ओर देखके—

ओं शि॒वो नामा॑सि॒ स्वधि॑तिस्ते पि॒ता नम॑स्ते अस्तु॒ मा मा॑ हिꣳसीः ॥[3]

इस मन्त्र को बोलके छुरे को दाहिने हाथ में लेवे। तत्पश्चात्—

ओं स्वधिते मैनꣳ हिꣳसीः ॥१॥[4]

ओं निव॑र्त्तया॒म्यायु॑षे॒ऽन्नाद्या॑य प्र॒जन॑नाय रा॒यस्पोषा॑य सुप्र॒जा॒स्त्वाय॒ सु॒वीर्या॑य ॥२॥[5]

इन दो मन्त्रों को बोलके उस छुरे और उन कुशाओं को केशों के समीप लेजाके—

ओं येनाव॑पत् सवि॒ता क्षु॒रेण॒ सोम॑स्य॒ राज्ञो॒ वरु॑णस्य वि॒द्वान् ।
तेन॑ ब्रह्माणो वपते॒दम॒स्य गोमा॒नश्व॑वा॒नयम॑स्तु प्र॒जावा॑न् ॥
अथर्व० कां० ६। सू० ६८ ॥[6]

---

१. मन्त्र ब्रा० १।६।५॥ हस्तलेख तथा द्वि० संस्करण में 'त्रायस्वैनम्०' ऐसा पाठ है। अर्थात् मन्त्र के अन्त में बिन्दु का निर्देश है। उसे पाठ-पूर्ति का चिह्न मानकर तृ० संस्करण में 'मैनꣳ हिꣳसीः' पाठ बढ़ाया है, जो १७ वें संस्करण तक छपता रहा। वस्तुतः यह भूल है। ऐसा मन्त्र पाठ कहीं उपलब्ध नहीं।

२. मन्त्र ब्रा० १।६।४॥

३. यजु० ३।६३। हस्तलेख से लेकर कुछ संस्करणों तक अस्तु पद नहीं है। मूल मन्त्र में होने से हमने सम्मिलित किया है। स्वरचिह्न भी हमने दिए हैं।

४. मन्त्र ब्रा० १।६।४; यजु० ४।१॥

५. यजु० ३।६३॥ स्वरचिह्न हमने ऊपर लगाए हैं।

६. मन्त्र ३॥

हे ब्राह्मणाः येन क्षुरेण सविता प्रसविता पिता आदित्यो वा राज्ञः सोमस्य वरुणस्य च ... अवपत् ... अनुमुण्डयत् ...

इस मन्त्र को बोलके कुशासहित उन केशों को काटे*।[1] और वे काटे हुए केश और दर्भ शमीवृक्ष के पत्रसहित, अर्थात् यहां शमीवृक्ष के पत्र भी प्रथम से रखने चाहियें, उन सबको लड़के का पिता और लड़के की मां एक शरावे में रक्खें। और कोई केश छेदन करते समय उड़ा हो, उसको गोबर से उठाके शरावा में अथवा उसके पास रक्खें। तत्पश्चात् इसी प्रकार—

ओं येन धाता बृहस्पतेरग्नेरिन्द्रस्य चायुषेऽवपत्।
तेन त आयुषे वपामि सुश्लोक्याय स्वस्तये॥[2]

इस मन्त्र से दूसरी बार केश का समूह दूसरी ओर का काटके उसी प्रकार शरावा में रक्खे। तत्पश्चात्—

ओं येन भूयश्च रात्र्यां ज्योक् च पश्याति सूर्य्यम्।
तेन त आयुषे वपामि सुश्लोक्याय स्वस्तये॥[3]

इस मन्त्र से तीसरी बार उसी प्रकार केशसमूह को काटके उपरि उक्त ३ तीन मन्त्रों—अर्थात् **"ओं येनावपत्०", "ओं येन धाता०", "ओं येन भूयश्च०"**, और—

---

*केशछेदन की रीति ऐसी है कि दर्भ और केश दोनों युक्ति से पकड़ कर अर्थात् दोनों ओर से पकड़के बीच में से केशों को छुरे से काटे। यदि छुरे के बदले कैंची से काटे तो भी ठीक है॥ द० स०

---

१. केश काटने की रीति इस प्रकार समझनी चाहिए—क्रमशः दक्षिण, उत्तर, पीछे और आगे के केश काटने हैं। उनमें प्रत्येक ओर के केश चार-चार बार काटने हैं। प्रथम बार में 'येनावपद्' मन्त्र से, दूसरी बार 'येन धाता' से, तीसरी बार 'येन भूयश्च' से, चौथी बार 'येनावपत्, येन धाता, येन भूयश्च के साथ 'येन पूषा' मन्त्र से, अर्थात् चार मन्त्रों से। इस प्रकार एक दक्षिण ओर की विधि पूरी हुई। इसी प्रकार उत्तर और पीछे के बाल चार-चार बार करके काटना चाहिए। आगे के बाल काटते समय चौथी बार में चौथा मन्त्र 'येन पूषा' के स्थान पर 'येन भूरिश्च०' होगा। यह प्रक्रिया ध्यान में रखने से कोई कठिनाई न होगी।

२. आश्व० गृह्य १।१७।१२॥

३. आश्व० गृह्य १।१७।१२॥ संस्करण २ में तथा कुछ अन्य संस्करणों में 'रात्र्यं' अपपाठ है।

ओं येन पूषा बृहस्पतेर्वायोरिन्द्रस्य चावपत् ।
तेन ते वपामि ब्रह्मणा जीवातवे जीवनाय दीर्घायुष्ट्वाय वर्चसे ।।[1]

इस एक, इन ४ चार मन्त्रों को बोलके चौथी बार इसी प्रकार केशों के समूहों को काटे। अर्थात् प्रथम दक्षिण बाजू के केश काटने का विधि पूर्ण हुए पश्चात् बायीं ओर के केश काटने का विधि करे। तत्पश्चात् उसके पीछे आगे के केश काटे।

परन्तु चौथी बार काटने में "येन पूषा०" इस मन्त्र के बदले—

ओं येन भूरिश्चरादिवं ज्योक् च पश्चाद्धि सूर्यम् ।
तेन ते वपामि ब्रह्मणा जीवातवे जीवनाय सुश्लोक्याय स्वस्तये।।[2]

यह मन्त्र बोल चौथी बार [केश] छेदन करे। तत्पश्चात्—

ओं त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम् ।
यद्देवेषु त्र्यायुषं तन्नोऽ अस्तु त्र्यायुषम् ।।[3]

इस एक मन्त्र को बोलके शिर के पीछे के केश एक बार काटके इसी (ओं त्र्यायुषं०) मन्त्र को बोलते जाना और ओंधे हाथ के पृष्ठ से बालक के शिर पर हाथ फेरके मन्त्र पूरा हुए पश्चात् छुरा नाई के हाथ में देके—

ओं यत् क्षुरेण मर्चयता सुपेशसा वप्ता वपसि केशान् ।
शुन्धि शिरो मास्यायुः प्रमोषीः ।।[4]

इस मन्त्र को बोल के नापित से पथरी पर छुरे की धार तेज कराके, नापित से बालक का पिता कहे कि—इस शीतोष्ण जल से बालक का शिर अच्छे प्रकार कोमल हाथ से भिगो, सावधानी और कोमल हाथ से क्षौर कर, कहीं छुरा न लगने पावे। इतना कहके

---

१. मन्त्र ब्रा० १।६।७।। संस्करण २ तथा कुछ अन्य संस्करणों में 'वर्चसे' पाठ नहीं है, हमने मन्त्रानुसार बढ़ाया है।

२. पार० गृह्य २।१।१६।।

३. यजु० ३।६२।। स्वरचिह्न हमने लगाए हैं।

४. आश्व० गृह्य १।१७।१५।।

कुण्ड से उत्तर दिशा में नापित को ले जा, उसके सम्मुख बालक को पूर्वाभिमुख बैठाके, जितने केश रखने हों, उतने ही केश रक्खे। परन्तु पांचों ओर थोड़ा-थोड़ा केश रखावे, अथवा किसी एक ओर रक्खे। अथवा एक बार सब कटवा देवे, पश्चात् दूसरी बार के केश रखने अच्छे होते हैं।

जब क्षौर हो चुके, तब कुण्ड के पास पड़ा वा धरा हुआ देने के योग्य पदार्थ वा शरावा आदि, कि जिनमें प्रथम अन्न भरा था, नापित को देवे। और मुण्डन किये हुए सब केश दर्भ शमीपत्र और गोबर नाई को देवे। यथायोग्य उसको धन वा वस्त्र भी देवे। और नाई केश, दर्भ, शमीपत्र और गोबर को जङ्गल में ले जा, गढा खोदके उसमें सब डाल ऊपर से मिट्टी से दबा देवे। अथवा गोशाला, नदी वा तालाव के किनारे पर उसी प्रकार केशादि को गाड़ देवे, ऐसा नापित से कह दे। अथवा किसी को साथ भेज देवे, वह उससे उक्त प्रकार करा लेवे।

क्षौर हुए पश्चात् मक्खन अथवा दही की मलाई हाथ में लगा, बालक के शिर पर लगाके स्नान करा, उत्तम वस्त्र पहिनाके, बालक को पिता अपने पास ले शुभासन पर पूर्वाभिमुख बैठके, पृष्ठ ३८-३९ में लिखे प्रमाणे सामवेद का **महावामदेव्यगान** करके, बालक की माता स्त्रियों और बालक का पिता पुरुषों का यथायोग्य सत्कार करके विदा करें। और जाते समय सब लोग तथा बालक के माता-पिता परमेश्वर का ध्यान करके—

ओं त्वं जीव शरदः शतं वर्धमानः ॥[1]

इस मन्त्र को बोल बालक को आशीर्वाद देके अपने-अपने घर को पधारें। और बालक के माता-पिता प्रसन्न होकर बालक को प्रसन्न रखें॥

इति चूडाकर्मसंस्कारविधिः समाप्तः॥



१. अर्थात्—हे बालक! तू बढ़ता हुआ सौ वर्ष पर्यन्त जीवित रह।

अथ कर्णवेधसंस्कारविधिं वक्ष्यामः

अत्र प्रमाणम्—कर्णवेधो वर्षे तृतीये पञ्चमे वा ॥

यह आश्वलायन गृह्यसूत्र का वचन है ॥[1]

बालक के कर्ण वा नासिका के वेध का समय जन्म से तीसरे वा पांचवें वर्ष का उचित है।

जो दिन कर्ण वा नासिका के वेध का ठहराया हो, उसी दिन बालक को प्रातःकाल शुद्ध जल से स्नान और वस्त्रालङ्कार धारण कराके, बालक की माता यज्ञशाला में लावे। पृष्ठ ७—३९ तक लिखा हुआ सब विधि करे। और उस बालक के आगे कुछ खाने का पदार्थ वा खिलौना धरके—

ओं भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाᳬसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः ॥[2]

---

१. यह वचन कात्यायान गृह्यसूत्र का है। द्रष्टव्य—द्वितीय काण्ड के आरम्भ में चूडाकर्म के पश्चात्—

कात्यायन का उक्त पाठ गदाधर ने पार० गृह्य १।१७ के पदार्थ-क्रम में इस प्रकार उद्धृत किया है—"अथ कर्णवेधः। तत्र याज्ञिकाः पठन्ति—अथ कर्णवेधो वर्षे तृतीये पञ्चमे वा। पुष्येन्दुचित्राहरिरेवतीषु पूर्वाह्णे कुमारस्य मधुरं दत्वा प्रत्यङ्मुखायोपविष्टाय दक्षिणं कर्णमभिमन्त्रयते—भद्रं कर्णेभिरिति, सव्यं वक्ष्यन्तीवेदेति चाथ भिन्द्यात्। ततो ब्राह्मणभोजनम्। इति"। गुजराती प्रेस बम्बई संस्करण, सन् १९१७, पृष्ठ १७४ ॥

१८ वें संस्करण में मूल पाठ बदल कर "यह कात्यायन गृह्यसूत्र [१-२] का वचन है" ऐसा बना दिया है। उसके बाद से यही पाठ छप रहा है। हमने उक्त पाठ कात्यायन गृह्यसूत्र के 'इतिहास संशोधन मण्डल-पूना' के हस्तलेख में स्वयं देखा है।

२. यजु० २५।२१॥ स्वरचिह्न हमने दिये हैं। संस्करण १० में इस मन्त्र के याजुष पाठ पर ही ऋग्वेद का पता "ऋ० म० १। सूक्त ८९" दे दिया

इस मन्त्र को पढ़के चरक सुश्रुत वैद्यक-ग्रन्थों के जाननेवाले सद्वैद्य के हाथ से कर्ण वा नासिका वेध करावें, कि जो नाड़ी आदि को बचाके वेध कर सके। पूर्वोक्त मन्त्र से दक्षिण कान, और—

ओं वक्ष्यन्तीवेदा गनीगन्ति कर्णं प्रियꣳ सखायं परिषस्वजाना।
योषेव शिङ्क्ते वितताधि धन्वञ्ज्या इयꣳ समने पारयन्ती॥[1]

इस मन्त्र को पढ़के दूसरे वाम कर्ण का वेध करे।

तत्पश्चात् वही वैद्य उन छिद्रों में शलाका रक्खे, कि जिससे छिद्र पूर न जावें। और ऐसी ओषधि उस पर लगावे, जिससे कान पके नहीं, और शीघ्र अच्छे हो जावें॥

इति कर्णवेधसंस्कारविधिः समाप्तः॥



है। अगले संस्करणों में ऋग्वेद में ꣳकार न होने से उसे हटा 'वां' ऐसा अनुस्वार वाला पाठ बना दिया, और मन्त्र संख्या ८ भी बढ़ा दी। शेष पाठ याजुष ही रहा। यजुर्वेद में 'व्यशेमहि' पाठ है, और ऋग्वेद में 'व्यशेम', इस बात पर ध्यान नहीं दिया। यह एक उदाहरण है वै० यं० मुद्रित संस्कारविधि के संशोधकों का।

१. यजु० २९।४०॥ स्वरचिह्न हमने दिए हैं। दशम संस्करण में इस मन्त्र के याजुषपाठ (ꣳकार) को रखते हुए 'ऋ० म० ६। सूक्त ७५' पता छापा है। अगले संस्करणों में ꣳ के स्थान में अनुस्वार कर दिया है, और मन्त्र संख्या ३ देकर ऋग्वेद का पता पूरा कर दिया है। यहां भी मूल याजुष पाठ की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया।

अथोपनयन*संस्कारविधिं वक्ष्यामः

अत्र प्रमाणानि—

अष्टमे वर्षे ब्राह्मणमुपनयेत् ॥१॥ गर्भाष्टमे वा ॥ २ ॥
एकादशे क्षत्रियम् ॥ ३ ॥ द्वादशे वैश्यम् ॥ ४ ॥
आषोडशाद् ब्राह्मणस्यानतीतः कालः ॥५॥

आद्वाविंशात् क्षत्रियस्य, आचतुर्विंशाद् वैश्यस्य, अत ऊर्ध्वं पतितसावित्रीका भवन्ति ॥६॥

यह आश्वलायन गृह्यसूत्र का प्रमाण है।[1]

इसी प्रकार पारस्करादि गृह्यसूत्रों का भी प्रमाण है।

अर्थ—जिस दिन जन्म हुआ हो, अथवा जिस दिन गर्भ रहा हो, उसके ८ आठवें वर्ष में ब्राह्मण के, जन्म वा गर्भ से ११ ग्यारहवें वर्ष में क्षत्रिय के, और जन्म वा गर्भ से १२ बारहवें वर्ष में वैश्य के बालक का यज्ञोपवीत करें। तथा ब्राह्मण के १६ सोलह, क्षत्रिय के २२ बाईस, और वैश्य के बालक का २४ चौबीस से पूर्व-पूर्व यज्ञोपवीत [होना][2] चाहिए। यदि पूर्वोक्त काल में इनका यज्ञोपवीत न हो, तो वे पतित माने जावें।

श्लोकः—ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे।
राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे ॥[3]

यह मनुस्मृति का वचन है कि जिसको शीघ्र विद्या बल और व्यवहार करने की इच्छा हो, और बालक भी पढ़ने में समर्थ हुए हों, तो ब्राह्मण के लड़के का जन्म वा गर्भ से पांचवें, क्षत्रिय के लड़के का जन्म वा गर्भ से छठे, और वैश्य के लड़के का जन्म वा गर्भ से आठवें वर्ष में यज्ञोपवीत करे।

---

*उप नाम समीप नयन अर्थात् प्राप्त करना या होना ॥ द० स०

१. आश्व० गृह्य १।१९।१–६॥

२. 'होना' पद हमने कोष्ठक में बढ़ाया है। ३. मनु० २।३७॥

परन्तु यह बात तब सम्भव है कि जब बालक की माता और पिता का विवाह पूर्ण ब्रह्मचर्य के पश्चात् हुआ होवे। उन्हीं के ऐसे उत्तम बालक, श्रेष्ठ बुद्धि और शीघ्र समर्थं 'बढ़नेवाले होते हैं। जब बालक का शरीर और बुद्धि वैसी हो कि अब यह पढ़ने के योग्य हुआ, तभी यज्ञोपवीत करा देवें।

यज्ञोपवीत का समय—उत्तरायण सूर्य, और—

वसन्ते ब्राह्मणमुपनयेत्। ग्रीष्मे राजन्यम्। शरदि वैश्यम्। सर्वकालमेके ।।[1] यह शतपथ ब्राह्मण का वचन है ।।[2]

अर्थः—ब्राह्मण का वसन्त, क्षत्रिय का ग्रीष्म, और वैश्य का शरद् ऋतु में यज्ञोपवीत करें। अथवा सब ऋतुओं में उपनयन हो सकता है, और इसका प्रातःकाल ही समय है।

पयोव्रतो ब्राह्मणो यवागूव्रतो राजन्य आमिक्षाव्रतो वैश्यः ।।[3]

यह शतपथ ब्राह्मण का वचन है ।।[3]

जिस दिन बालक का यज्ञोपवीत करना हो, उससे तीन दिन अथवा एक दिन पूर्व तीन वा एक व्रत बालक को कराना चाहिए। उन व्रतों में ब्राह्मण का लड़का एक वार वा अनेक वार दुग्धपान, क्षत्रिय का लड़का (यवागू) अर्थात् यव को मोटा दलके गुड़ के साथ पतली[4], जैसी कि कढ़ी होती है, वैसी बनाकर पिलावें। और

---

१. यहां 'पढ़नेवाले' पाठ होना चाहिए।

२. यह वचन शतपथ में नहीं मिलता है। श० २।१।३।५ में इससे मिलता-जुलता पाठ है। परन्तु वह अग्न्याधान प्रकरण का है, उपनयन का नहीं। गदाधर ने पार० गृह्य १।२ की व्याख्या में 'श्रुतिः—वसन्ते ब्राह्मणमुपनयीत, ग्रीष्मे राजन्यम्, शरदि वैश्यम्' ऐसा पाठ उद्धृत किया है। बोधायन गृह्यसूत्र में 'वसन्ते ब्राह्मणमुपनयीत, ग्रीष्मे राजन्यम्, शरदि वैश्यं, वर्षासु रथकारम् इति। सर्वान् एव वा वसन्ते' (२।५।६) यह पाठ उद्धृत है।

३. तुलना करो—पयो ब्राह्मणस्य व्रतं, यवागू राजन्यस्य, आमिक्षा वैश्यस्य ।। तै० आ० २।८।। यह सोमयाग में विहित है। व्रतत्व सामान्य से सर्वत्र व्यवहार्य है। शतपथ में यह वचन नहीं मिलता।

४. पतले पके हुए चावल को यवागू कहते हैं, ऐसा कर्काचार्य का कथन है।

आमिक्षा, अर्थात् जिसको श्रीखण्ड वा सिखण्ड कहते हैं, वैसी जो दही चौगुना, दूध एक गुना तथा यथायोग्य खांड केसर डालके कपड़े में छानकर बनाया जाता है[1], उसको वैश्य का लड़का पीके व्रत करे। अर्थात् जब-जब लड़कों को भूख लगे तब-तब तीनों वर्णों के लड़के इन तीनों पदार्थों ही का सेवन करें, अन्य पदार्थ कुछ न खावें-पीवें।

विधिः—अब जिस दिन उपनयन करना हो, उसके पूर्व दिन में सब सामग्री इकट्ठी कर याथातथ्य शोधन आदि कर लेवे। और उस दिन पृष्ठ ७-२९ वें तक सब कुण्ड के समीप सामग्री धर, प्रातःकाल बालक का क्षौर करा, शुद्ध जल से स्नान करावे उत्तम वस्त्र पहिना, यज्ञमण्डप में पिता वा आचार्य बालक को मिष्ठान्नादि का भोजन कराके, वेदी के पश्चिम भाग में सुन्दर आसन पर पूर्वाभिमुख बैठावे। और बालक का पिता और पृष्ठ २८-२९ में लिखे प्रमाणे ऋत्विज् लोग भी पूर्वोक्त प्रकार अपने-अपने आसन पर बैठ, यथावत् आचमनादि क्रिया करें।

पश्चात् कार्यकर्त्ता बालक के मुख से—

ब्रह्मचर्यमागाम्, ब्रह्मचार्यसानि।[2]

ये वचन बुलवाके आचार्य*—

ओं येनेन्द्राय बृहस्पतिर्वासः पर्यदधादमृतम्।
तेन त्वा परिदधाम्यायुषे दीर्घायुत्वाय बलाय वर्चसे॥[3]

इस मन्त्र को बोलके बालक को सुन्दर वस्त्र और उपवस्त्र

---

* 'आचार्य' उसको कहते हैं कि जो साङ्गोपाङ्ग वेदों के शब्द अर्थ सम्बन्ध और क्रिया का जाननेहारा, छल कपट रहित, अतिप्रेम से सब को विद्या का दाता, परोपकारी, तन मन और धन से सबको सुख बढ़ाने में तत्पर, महाशय, पक्षपात किसी का न करे, और सत्योपदेष्टा, सब का हितैषी, धर्मात्मा, जितेन्द्रिय होवे॥ द० स०

---

१. तप्ते पयसि दध्यानयति साऽऽमिक्षा (ब्राह्मण-वचन)। उबलते दूध में दही डालने पर जो घना भाग इकट्ठा हो जाता है, वह आमिक्षा कहाती है। यह श्रौतपदार्थवेदी कहते हैं।

२. पार० गृह्य २।२।६॥

३. पार० गृह्य २।२।७॥

पहिनावे। तत्पश्चात् बालक आचार्य के सम्मुख बैठे, और यज्ञोपवीत हाथ में लेके—

ओं यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात् ।
आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः ॥१॥
यज्ञोपवीतमसि यज्ञस्य त्वा यज्ञोपवीतेनोपनह्यामि ॥२॥[1]

इन मन्त्रों को बोल के आचार्य बायें स्कन्धे के ऊपर कण्ठ के पास से शिर बीच में निकाल दाहिने हाथ के नीचे बगल में निकाल कटि तक धारण करावे। तत्पश्चात् बालक को अपने दाहिने ओर साथ बैठाके **ईश्वर की स्तुतिप्रार्थनोपासना, स्वस्तिवाचन और शान्तिकरण** का पाठ करके **समिदाधान, अग्न्याधान** कर (**ओम् अदितेऽनुमन्यस्व०**) इत्यादि पूर्वोक्त चार मन्त्रों से पूर्वोक्त रीति से कुण्ड के चारों ओर जल छिटका, पश्चात् आज्याहुति करने का आरम्भ करना।

वेदी में प्रदीप्त हुई समिधा को लक्ष में धर, चमसा में आज्यस्थाली से घी ले, **आघारावाज्यभागाहुति**[2] ४ चार, और **व्याहृति आहुति**[3] ४, तथा पृष्ठ ३७-३८ में **आज्याहुति**[4] ८ आठ, तीनों मिलके १६ सोलह घृत की आहुति देके, पश्चात् बालक के हाथ से प्रधान होम, जो विशेष शाकल्य बनाया हो, उसकी आहुतियां निम्नलिखित मन्त्रों से दिलानी—**ओं भूर्भुवः स्वः। अग्न आयूंषि०** पृष्ठ ३५-३६ में लिखे प्रमाणे ४ चार आज्याहुति देवें। तत्पश्चात्—

ओम् अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तत्ते प्रब्रवीमि तच्छकेयम्। तेनर्ध्यासमिदमहमनृतात् सत्यमुपैमि स्वाहा॥ इदमग्नये—इदन्न मम॥१॥

---

१. पार० गृह्य २।२।११॥ में क्वाचित्क पाठ है। टीकाकारों ने इसे शाखान्तरीय मन्त्र माना है।

२. 'ओम् अग्नये स्वाहा' आदि ४ मन्त्रों से।

३. 'ओं भूरग्नये स्वाहा' आदि ४ मन्त्रों से।

४. 'ओं त्वन्नो अग्ने' आदि ८ मन्त्रों से।

ओं वायो व्रतपते०* स्वाहा॥ इदं वायवे—इदन्न मम ॥२॥

ओं सूर्य व्रतपते० स्वाहा ॥ इदं सूर्याय—इदन्न मम॥३॥

ओं चन्द्र व्रतपते० स्वाहा ॥ इदं चन्द्राय—इदन्न मम ॥४॥

ओं व्रतानां व्रतपते० स्वाहा ॥ इदमिन्द्राय व्रतपतये—इदन्न मम ॥५॥[1]

इन ५ पांच मन्त्रों से ५ पांच आज्याहुति दिलानी। उसके पीछे पृष्ठ ३४ में लिखे प्रमाणे व्याहृति आहुति[2] ४ चार, और पृष्ठ ३५ में लिखे प्रमाणे स्विष्टकृत्[3] आहुति एक, और पृष्ठ ३५ में लिखे प्रमाणे प्राजापत्याहुति[4] एक, ये सब मिलके ६ छः घृत की आहुति देनी। सब मिलके १५ पन्द्रह आहुति बालक के हाथ से दिलानी। उसके पश्चात् आचार्य यज्ञकुण्ड के उत्तर की ओर पूर्वाभिमुख बैठे, और बालक आचार्य के सम्मुख पश्चिम में मुख करके बैठे। तत्पश्चात् आचार्य बालक की ओर देखके—

ओम् आगन्त्रा समगन्महि प्र सुमर्त्यं युयोतन।
अरिष्टाः संचरेमहि स्वस्ति चरतादयम् ॥१॥[5]

इस मन्त्र का जप करे।

माणवकवाक्यम्—"ओं ब्रह्मचर्यमागामुप मा नयस्व"।[6]

आचार्योक्तिः—"को‡ नामासि ?"[7]

बालकोक्तिः—"एतन्नामास्मि"§।[8]

तत्पश्चात्—

*इसके आगे 'व्रतं चरिष्यामि' इत्यादि सम्पूर्ण मन्त्र बोलना चाहिए॥ द० स०

‡तेरा नाम क्या है, ऐसा पूछना। द०स०॥ §मेरा यह नाम है। द०स०

१. मन्त्र ब्रा० १।६।९-१३॥ 'इद···मम' अंश मन्त्र में पठित नहीं है।

२. 'ओं भूरग्नये स्वाहा' आदि ४ मन्त्रों से।

३. 'ओं यदस्य कर्मणो'० मन्त्र से। ४. 'ओं प्रजापतये स्वाहा' मन्त्र से।

५. मन्त्र ब्रा० १।६।१४॥ ६. मन्त्र ब्रा० १।६।१६॥

७. मन्त्र ब्रा० १।६।१७॥ ८. तुलना—मन्त्र ब्रा० १।६।१८॥

आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता नऽ ऊर्जे दधातन ।
महे रणाय चक्षसे ॥१॥
यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः ।
उशतीरिव मातरः ॥२॥
तस्माऽ अरं गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ ।
आपो जनयथा च नः ॥३॥[1]

इन तीन मन्त्रों को पढ़के बटुक की दक्षिण हस्ताञ्जलि शुद्धोदक से भरनी।

तत्पश्चात् आचार्य अपनी हस्ताञ्जलि भरके—

ओं तत्सवितुर्वृणीमहे वयं देवस्य भोजनम् ।
श्रेष्ठं सर्वधातमं तुरं भगस्य धीमहि ॥[2]

इस मन्त्र को पढ़के आचार्य अपनी अञ्जलि का जल बालक की अञ्जलि में छोड़के, बालक की हस्ताञ्जलि अङ्गुष्ठसहित पकड़के—

ओं देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां हस्तं गृह्णाम्यसौ§ ॥[3]

इस मन्त्र को पढ़के बालक की हस्ताञ्जलि का जल नीचे पात्र में छुड़ा देना। इसी प्रकार दूसरी वार, अर्थात् प्रथम आचार्य अपनी अञ्जलि भर, बालक की अञ्जलि में अपनी अञ्जलि का जल भरके, अङ्गुष्ठसहित हाथ पकड़के—

ओं सविता ते हस्तमग्रभीत्, असौ ॥[4]

---

§ 'असौ' इस पद के स्थान में बालक का सम्बोधनान्त नामोच्चारण सर्वत्र करना चाहिए॥ द० स०

---

१. यजु० ३६।१४-१६॥ स्वरचिह्न हमने लगाए हैं।
२. ऋक् ५।८२।१॥ स्वरचिह्न हमने लगाए हैं।
३. आश्व० गृह्य १।२०।४॥ ४. आश्व० गृह्य १।२०।४॥

इस मन्त्र से पात्र में छुड़वा दे। पुनः इसी प्रकार तीसरी वार आचार्य अपने हाथ में जल भर, पुनः बालक की अञ्जलि में भर, अङ्गुष्ठसहित हाथ पकड़के—

ओम् अग्निराचार्यस्तव, असौ ॥[1]

तीसरी वार बालक की अञ्जलि का जल छुड़वाके, बाहर निकल सूर्य के सामने खड़े रह देखके आचार्य—

ओं देव सवितरेष ते ब्रह्मचारी तं गोपाय स मामृत ॥[2]

इस एक, और पृष्ठ ८४ में लिखे प्रमाणे (तच्चक्षुर्देवहितम्०) इस दूसरे मन्त्र को पढ़के बालक को सूर्यावलोकन करा, बालक सहित आचार्य सभामण्डप में आ, यज्ञकुण्ड की उत्तरबाजू की ओर बैठके—

ओं युवा सुवासाः परिवीत आगात् स उ श्रेयान् भवति जायमानः ॥[3] [इस तथा--]

ओं सूर्यस्यावृतमन्वावर्त्तस्व, असौ§ ॥[4]

इस मन्त्र को पढ़े। और बालक आचार्य की प्रदक्षिणा करके आचार्य के सम्मुख बैठे। पश्चात् आचार्य बालक के दक्षिण स्कन्धे पर अपने दक्षिण हाथ से स्पर्श, और पश्चात् अपने हाथ को वस्त्र से आच्छादित करके—

ओं प्राणानां ग्रन्थिरसि मा विस्रसोऽन्तक इदं ते परिददामि, अमुम् ॥१॥[5]

इस मन्त्र को बोलने के पश्चात्—

---

§ 'असौ' और 'अमुम्' इन दोनों पदों के स्थान में सर्वत्र बालक का नामोच्चारण करना चाहिए ॥ द० स०

विशेष—'असौ' के स्थान पर संबोधनान्त और 'अमुम्' के स्थान पर द्वितीयान्त नाम का उच्चारण करना चाहिए।

---

१. आश्व० गृह्य १।२०।५॥ २. आश्व० गृह्य १।२०।६॥
३. ऋ० ३।८।४॥ स्वरचिह्न हमने लगाए हैं।
४. मन्त्र ब्रा० १।६।२०॥ ५. मन्त्र ब्रा० १।६।२१॥

ओम् अहुर इदं ते परिददामि, असुम् ॥२॥[1]

इस मन्त्र से उदर पर। और—

ओं कृशन इदं ते परिददामि, असुम् ॥३॥[2]

इस मन्त्र से हृदय।

ओं प्रजापतये त्वा परिददामि, असौ ॥४॥[3]

इस मन्त्र को बोलके दक्षिण स्कन्ध। और—

ओं देवाय त्वा सवित्रे परिददामि, असौ ॥५॥[4]

इस मन्त्र को बोलके वाम हाथ से बायें स्कन्धा पर स्पर्श करके, बालक के हृदय पर हाथ धरके—

ओं तं धीरा॑सः क॒वय॒ उन्न॑यन्ति स्वा॒ध्यो॒३॒ मन॑सा दे॒व॒यन्तः॑ ॥६॥[5]

इस मन्त्र को बोलके आचार्य सम्मुख रहकर बालक के दक्षिण हृदय पर अपना हाथ रखके—

ओं मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तमनुचित्तं ते अस्तु। मम वाचमेकमना जुषस्व बृहस्पतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम् ॥[6]

आचार्य इस प्रतिज्ञामन्त्र को बोले।

अर्थात्—'हे शिष्य बालक! तेरे हृदय को मैं अपने आधीन करता हूं। तेरा चित्त मेरे चित्त के अनुकूल सदा रहे। और तू मेरी वाणी को एकाग्रमन हो प्रीति से सुनकर उसके अर्थ का सेवन किया कर। और आज से तेरी प्रतिज्ञा के अनुकूल बृहस्पति परमात्मा तुझको मुझ से युक्त करे'। यह प्रतिज्ञा करावे।

इसी प्रकार शिष्य भी आचार्य से प्रतिज्ञा करावे कि—'हे आचार्य! आपके हृदय को मैं अपनी उत्तम शिक्षा और विद्या की उन्नति में

---

१. मन्त्र ब्रा० १।६।२२॥

२. मन्त्र ब्रा० १।६।२३॥

३. मन्त्र ब्रा० १।६।२४॥

४. मन्त्र ब्रा० १।६।२५॥

५. ऋक् ३।८।४॥

६. पार० गृह्य २।२।१६॥ आगे वेदारम्भ (पृष्ठ १११) में आश्वलायनीय पाठ उद्धृत किया है।

धारण करता हूं। मेरे चित्त के अनुकूल आपका चित्त सदा रहे। आप मेरी वाणी को एकाग्र होके सुनिए। और परमात्मा मेरे लिए आपको सदा नियुक्त रक्खे'। इस प्रकार दोनों प्रतिज्ञा करके—

आचार्योक्तिः— को नामाऽसि ?[1] तेरा नाम क्या है ?

बालकोक्तिः—[असौ] अहम्भोः ।[2] मेरा अमुक नाम है। ऐसा उत्तर देवे।

आचार्यः—कस्य ब्रह्मचार्यसि ?[3] तू किसका ब्रह्मचारी है ?

बालकः—भवतः ।[4] आपका।

आचार्य बालक की रक्षा के लिये—

इन्द्रस्य ब्रह्मचार्यस्यग्निराचार्यस्तवाहमाचार्यस्तव असौ§।[5]

इस मन्त्र को बोले। तत्पश्चात्—

ओं कस्य ब्रह्मचार्यसि प्राणस्य ब्रह्मचार्यसि कस्त्वा कमुपनयते काय त्वा परिददामि ॥१॥[6]

ओं प्रजापतये त्वा परिददामि। देवाय त्वा सवित्रे परिददामि। अद्भ्यस्त्वौषधीभ्यः परिददामि। द्यावापृथिवीभ्यां त्वा परिददामि। विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः परिददामि। सर्वेभ्यस्त्वा भूतेभ्यः परिददाम्यरिष्ट्यै ॥२॥[7]

इन मन्त्रों को बोल बालक को शिक्षा करे कि—'तू प्राण आदि की विद्या के लिए यत्नवान् हो'।

---

§ 'असौ' इस पद के स्थान में सर्वत्र बालक का नामोच्चारण करना चाहिए ॥ द० स०

---

१. पार० गृह्य २।२।१७॥ २. पार० गृह्य २।२।१८॥
३. पार० गृह्य २।२।१९॥ ४. पार० गृह्य २।२।२०॥
५. पार० गृह्य २।२।२१॥ ६. आश्व० गृह्य १।२०।७॥
७. पार० गृह्य २।२।२१॥

यह उपनयन संस्कार पूरे हुए पश्चात् यदि उसी दिन वेदारम्भ करने का विचार पिता और आचार्य का हो, तो उसी दिन करना। और जो दूसरे दिन का विचार हो तो पृष्ठ ३८-३९ में लिखे प्रमाणे महावामदेव्यगान करके संस्कार में आई हुई स्त्रियों का बालक की माता, और पुरुषों का बालक का पिता सत्कार करके विदा करे। और माता-पिता आचार्य सम्बन्धी इष्ट मित्र सब मिलके—

ओं त्वं जीव शरदः शतं वर्द्धमानः, आयुष्मान्
तेजस्वी वर्चस्वी भूयाः ॥[1]

इस प्रकार आशीर्वाद देके अपने-अपने घर को सिधारें।

इत्युपनयनसंस्कारविधिः समाप्तः ॥



---

१. हे बालक ! तू वृद्धि को प्राप्त होता हुआ सौ वर्ष तक जी, और आयुष्मान् तेजस्वी तथा वर्चस्वी हो।

अथ वेदारम्भसंस्कारविधिर्विधीयते

'वेदारम्भ' उसको कहते हैं—'जो गायत्री मन्त्र से लेके साङ्गोपाङ्ग* चारों वेदों के अध्ययन करने के लिए नियम धारण करना'।

समय—जो दिन उपनयन संस्कार का है, वही वेदारम्भ का है। यदि उस दिवस में न हो सके, अथवा करने की इच्छा न हो, तो दूसरे दिन करे। यदि दूसरा दिन भी अनुकूल न हो, तो एक वर्ष के भीतर किसी दिन करे।

विधि—जो वेदारम्भ का दिन ठहराया हो, उस दिन प्रातःकाल शुद्धोदक से स्नान कराके, शुद्ध वस्त्र पहिना, पश्चात् कार्यकर्त्ता अर्थात् पिता, यदि पिता न हो तो आचार्य बालक को लेके उत्तमासन पर वेदी के पश्चिम [में] पूर्वाभिमुख बैठें।

तत्पश्चात् पृष्ठ ७—१८ तक §**ईश्वरस्तुति-प्रार्थनोपासना, स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण** करके, पृष्ठ ३० में (**भूर्भुवः स्वः०**) इस मन्त्र से अग्न्याधान, [1]पृष्ठ ३० में (**उद्बुध्यस्वाग्ने०**) इस मन्त्र से अग्नि को प्रदीप्त करके, प्रदीप्त समिधा पर पृष्ठ ३१ में (**ओं अयन्त इध्म०**) इत्यादि ४ चार मन्त्रों से समिदाधान, पृष्ठ ३२ में (**ओम् अदितेऽनुमन्यस्व०**) इत्यादि ३ तीन मन्त्रों से कुण्ड के तीनों ओर, और (**ओं देव सवितः०**) इस मन्त्र से कुण्ड के चारों ओर जल छिटकाके[1]

---

*(अङ्ग) शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष। (उपाङ्ग) पूर्वमीमांसा, वैशेषिक, न्याय, योग, साङ्ख्य और वेदान्त। (उपवेद) आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद और अर्थवेद अर्थात् शिल्पशास्त्र। (ब्राह्मण) ऐतरेय, शतपथ, साम और गोपथ। (वेद) ऋक्, यजुः, साम और अथर्व, इन सब को क्रम से पढ़े॥ द० स०

§जो उपनयन किये पश्चात् उसी दिन वेदारम्भ करे, उसको पुनः वेदारम्भ के आदि में ईश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासना [स्वस्तिवाचन] और शान्तिकरण करना आवश्यक नहीं॥ द० स०

---

१. वै० य० संस्करणों में 'पृष्ठ ३० में............समिधा पर' यह पाठ भूल से इसी पृष्ठ में 'कुण्ड के......छिटकाके' पाठ के पश्चात् छप रहा है।

पृष्ठ ३३-३४ में आघारावाज्यभागाहुति[1] ४ चार, व्याहृति आहुति[2] ४ चार, और पृष्ठ ३६-३७ में आज्याहुति[3] ८ आठ मिलके १६ सोलह आज्याहुति देने के पश्चात् प्रधान‡ होमाहुति दिलाके, पश्चात् पृष्ठ ३४-३५ में व्याहृति आहुति[4] ४ चार, और स्विष्टकृत् आहुति[5] १ एक, तथा पृष्ठ ३५ में प्राजापत्याहुति[6] १ एक मिलकर छः आज्याहुति बालक के हाथ से दिलानी। तत्पश्चात्—

ओम् अग्ने सुश्रवः सुश्रवसं मा कुरु।
ओं यथा त्वमग्ने सुश्रवः सुश्रवा असि।
ओम् एवं माꣳ सुश्रवः सौश्रवसं कुरु।
ओं यथा त्वमग्ने देवानां यज्ञस्य निधिपा असि।
ओम् एवमहं मनुष्याणां वेदस्य निधिपो भूयासम् ॥[7]

इस मन्त्र से वेदी के अग्नि को इकट्ठा करना।

तत्पश्चात् बालक कुण्ड की प्रदक्षिणा करके, पृष्ठ ३२ में लिखे प्रमाणे "अदितेऽनुमन्यस्व०" इत्यादि ४ मन्त्रों से कुण्ड के सब ओर जलसिंचन करके, बालक कुण्ड के दक्षिण की ओर उत्तराभिमुख खड़ा रहकर, घृत में भिजोके एक समिधा हाथ में ले—

ओम् अग्नये समिधमाहार्षं बृहते जातवेदसे। यथा त्वमग्ने समिधा समिध्यसऽएवमहमायुषा मेधया वर्चसा प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन समिन्धे जीवपुत्रो ममाचार्यो मेधाव्यहमसान्यनिराकरिष्णुर्यशस्वी तेजस्वी ब्रह्मवर्चस्यन्नादो भूयासꣳ स्वाहा ॥[8]

[इस मन्त्र से] समिधा वेदिस्थ अग्नि के मध्य में छोड़ देना। इसी प्रकार दूसरी और तीसरी समिधा छोड़े।

‡प्रधान होम उसको कहते हैं, जो संस्कार में मुख्य करके किया जाता है॥ द.स.

१. 'अग्नये स्वाहा' आदि ४ मन्त्रों से। २. 'भूरग्नये स्वाहा' आदि ४ मन्त्रों से।
३. 'त्वं नो अग्ने' आदि ८ मन्त्रों से। ४. 'भूरग्नये स्वाहा' आदि ४ मन्त्रों से।
५. 'यदस्य कर्मणो०' मन्त्र से। ६. 'प्रजापतये स्वाहा' मन्त्र से।
७. पार० गृह्य २।४।२॥ अग्ने सुश्रवस् इत्यादिभिः पञ्चभिर्मन्त्रैरिति जयरामः।
८. पार० गृह्य २।४।३॥

पुनः पृष्ठ १०८ में लिखे प्रमाणे **"ओम् अग्ने सुश्रवः सुश्रवसं०"** इस मन्त्र से वेदीस्थ अग्नि को इकट्ठा करके पृष्ठ ३२ में लिखे प्रमाणे **'ओम् अदितेऽनुमन्यस्व०'** इत्यादि ४ चार मन्त्रों से कुण्ड के सब ओर जलसेचन करके बालक वेदी के पश्चिम में पूर्वाभिमुख बैठके, वेदी के अग्नि पर दोनों हाथों को थोड़ा सा तपाके, हाथ में जल लगा—

ओं तनूपा अग्नेऽसि तन्वं मे पाहि ॥१॥
ओम् आयुर्दा अग्नेऽस्यायुर्मे देहि ॥२॥
ओं वर्चोदा अग्नेऽसि वर्चो मे देहि ॥३॥
ओम् अग्ने यन्मे तन्वाऽ ऊनं तन्म आपृण ॥४॥
ओं मेधां मे देवः सविता आदधातु ॥५॥
ओं मेधां मे देवी सरस्वती आदधातु ॥६॥
ओं मेधामश्विनौ देवावाधत्तां पुष्करस्रजौ ॥७॥[1]

इन सात मन्त्रों से सात वार किञ्चित् हथेली उष्ण कर, जल स्पर्श करके मुख स्पर्श करना। तत्पश्चात् बालक—

ओं वाक् च म आप्यायताम् ॥ इस मन्त्र से मुख।
ओं प्राणश्च म आप्यायताम् ॥ इस मन्त्र से नासिका द्वार।
ओं चक्षुश्च म आप्यायताम् ॥ इस मन्त्र से दोनों नेत्र।
ओं श्रोत्रञ्च म आप्यायताम् ॥ इस मन्त्र से दोनों कान।
ओं यशो बलञ्च म आप्यायताम् ॥[2] इस मन्त्र से दोनों बाहुओं को स्पर्श करे।

ओं मयि मेधां मयि प्रजां मय्यग्निस्तेजो दधातु।
मयि मेधां मयि प्रजां मयीन्द्र इन्द्रियं दधातु।
मयि मेधां मयि प्रजां मयि सूर्यो भ्राजो दधातु।
यत्ते अग्ने तेजस्तेनाहं तेजस्वी भूयासम्।

---

१. पार० गृह्य २।४।७,८॥

२. पार० गृह्य २।४।८ के अन्त में कोष्ठक में पठित। सूत्रान्तरकृत्पाठ इति टीकाकाराः॥

यत्ते अग्ने वर्चस्तेनाहं वर्चस्वी भूयासम् ।
यत्ते अग्ने हरस्तेनाहं हरस्वी भूयासम् ॥[1]

इन मन्त्रों से बालक परमेश्वर का उपस्थान करके कुण्ड की उत्तर बाजू की ओर जाके, जानू को भूमि में टेकके पूर्वाभिमुख बैठे, और आचार्य बालक के सम्मुख पश्चिमाभिमुख बैठे ।

बालकोक्तिः—अधीहि भूः सावित्रीम् भो अनुब्रूहि ॥[2]

अर्थात् आचार्य से बालक कहे कि—'हे आचार्य ! प्रथम एक ओंकार, पश्चात् तीन महाव्याहृति, तत्पश्चात् सावित्री ये त्रिक अर्थात् तीनों मिलके परमात्मा के वाचक मन्त्र को मुझे उपदेश कीजिए' ।

तत्पश्चात् आचार्य एक वस्त्र अपने और बालक के कन्धे पर रखके अपने हाथ से बालक के दोनों हाथों की अंगुलियों को पकड़के नीचे लिखे प्रमाणे बालक को तीन वार करके गायत्री मन्त्रोपदेश करे ।

प्रथम वार—

ओं भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यम् ।

इतना टुकड़ा एक-एक पद का शुद्ध उच्चारण बालक से कराके, दूसरी वार—

ओं भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि ।

एक-एक पद से यथावत् धीरे-धीरे उच्चारण करवाके, तीसरी वार—

ओं भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि ।
धियो यो नः प्रचोदयात् ॥[3]

धीरे-धीरे इस मन्त्र को बुलवाके, संक्षेप से इसका अर्थ भी नीचे लिखे प्रमाणे आचार्य सुनावे—

---

१. आश्व० गृह्य १।२१।४॥ २. आश्व० गृह्य १।२१।४॥

३. यजु० ३६।३॥ तीनों पाठों पर स्वर-चिह्न हमने दिये हैं । व्याहृति से उत्तर का विराम भी हटाया है । यजु० ३६।३ में विराम नहीं है ।

अर्थः—(ओ३म्) यह मुख्य परमेश्वर का नाम है, जिस नाम के साथ अन्य सब नाम लग जाते हैं। (भूः) जो प्राण का भी प्राण, (भुवः) सब दुःखों से छुड़ानेहारा, (स्वः) स्वयं सुखस्वरूप और अपने उपासकों को सब सुख की प्राप्ति करानेहारा है, उस (सवितुः) सब जगत् की उत्पत्ति करनेवाले, सूर्यादि प्रकाशकों के भी प्रकाशक, समग्र ऐश्वर्य के दाता, (देवस्य) कामना करने योग्य, सर्वत्र विजय करानेहारे परमात्मा का जो (वरेण्यम्) अतिश्रेष्ठ ग्रहण और ध्यान करने योग्य (भर्गः) सब क्लेशों को भस्म करनेहारा, पवित्र शुद्ध स्वरूप है, (तत्) उसको हम लोग (धीमहि) धारण करें। (यः) यह जो परमात्मा (नः) हमारी (धियः) बुद्धियों को उत्तम गुण कर्म स्वभावों में (प्रचोदयात्) प्रेरणा करे। इसी प्रयोजन के लिए इस जगदीश्वर की स्तुति-प्रार्थनोपासना करना। और इससे भिन्न किसी को उपास्य इष्टदेव उसके तुल्य वा उससे अधिक नहीं मानना चाहिए।

इस प्रकार अर्थ सुनाये पश्चात्—

ओं मम व्रते हृदयं ते दधामि मम चित्तमनुचित्तं ते अस्तु।
मम वाचमेकव्रतो जुषस्व बृहस्पतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम्॥[1]

इस मन्त्र से बालक और आचार्य पूर्ववत् दृढ़ प्रतिज्ञा करके—

ओम् इयं दुरुक्तं परिबाधमाना वर्णं पवित्रं पुनती म आगात्।
प्राणापानाभ्यां बलमादधाना स्वसा देवी सुभगा मेखलेयम्॥[2]

इस मन्त्र से आचार्य सुन्दर चिकनी प्रथम बनाके रक्खी हुई मेखला* को बालक के कटि में बांधके—

ओं युवा सुवासाः परिवीत आगात् स उ श्रेयान् भवति जायमानः।
तं धीरासः कवय उन्नयन्ति स्वाध्यो३ मनसा देवयन्तः॥[3]

इस मन्त्र को बोलके दो शुद्ध कोपीन, दो अंगोछे, और एक

---

*ब्राह्मण को मुञ्ज वा दर्भ की, क्षत्रिय को धनुषसंज्ञक तृण वा वल्कल की, और वैश्य को ऊन वा शण की मेखला होनी चाहिये॥[4] द० स०

---

१. आश्व० गृह्य १।२१।७॥ पार० गृह्य २।२।१६ में 'व्रते ते हृदयं दधामि' तथा 'वाचमेकमना जुषस्व' पाठ है। २. पार० गृह्य २।२।८॥
३. ऋ० ३।८।४॥ स्वरचिह्न हमने दिये है। ४. द्र०—मनु० २।४२,४३॥

उत्तरीय, और दो कटिवस्त्र ब्रह्मचारी को आचार्य देवे। और उनमें से एक कोपीन, एक कटिवस्त्र, और एक उपन्ना बालक को आचार्य धारण करावे। तत्पश्चात् आचार्य दण्ड‡ हाथ में लेके सामने खड़ा रहे। और बालक भी आचार्य के सामने हाथ जोड़—

ओं यो मे दण्डः परापतद्वैहायसोऽधिभूम्याम्।
तमहं पुनरादद आयुषे ब्रह्मणे ब्रह्मवर्चसाय॥[1]

इस मन्त्र को बोलके बालक आचार्य के हाथ से दण्ड ले लेवे। तत्पश्चात् पिता ब्रह्मचारी को ब्रह्मचर्याश्रम का साधारण उपदेश करे—

[ब्रह्मचारी के कर्त्तव्य]

ब्रह्मचार्यसि असौ§ ॥१॥ अपोऽशान ॥२॥ कर्म कुरु ॥३॥ दिवा मा स्वाप्सीः ॥४॥ आचार्याधीनो वेदमधीष्व ॥५॥[2] द्वादश वर्षाणि प्रतिवेदं ब्रह्मचर्यं गृहाण वा ब्रह्मचर्यं चर ॥६॥[3] आचार्याधीनो भवान्यत्राधर्माचरणात् ॥७॥ क्रोधानृते वर्जय ॥८॥ मैथुनं वर्जय ॥९॥ उपरि शय्यां वर्जय ॥१०॥ कौशीलवगन्धाञ्जनानि वर्जय ॥११॥[4]

---

‡ब्राह्मण के बालक को खड़ा रखके भूमि से ललाट के केशों तक पलाश वा विल्व वृक्ष का, क्षत्रिय को वट वा खदिर का ललाटभ्रू तक, वैश्य को पीलू अथवा गूलर वृक्ष का नासिका के अग्रभाग तक दण्ड प्रमाण, और वे दण्ड चिकने सूधे हों। अग्नि में जले, टेढ़े, कीड़ों के खाये हुए न हों[5]। और एक-एक मृगचर्म उनके बैठने के लिये, एक-एक जलपात्र, एक-एक उपपात्र, और एक-एक आचमनीय सब ब्रह्मचारियों को देना चाहिये॥ द० स०

§असौ इस पद के स्थान में ब्रह्मचारी का नाम सर्वत्र उच्चारण करें॥ द० स०

---

१. पार० गृह्य २।२।१२॥

२. आश्व० गृह्य १।२२।२॥ प्रथम सूत्र में 'असौ' पद नहीं है।

३. द्र०—आश्व० गृह्य १।२२।३,४, तथा पार० गृह्य २।५।१३-१५ का सम्मिलित रूप।

४. गोभिल गृह्य ३।१।१३-१७ तक। अन्त्य ८ सूत्रों में 'वर्जय' पद नहीं है, वहां उसका अनुषङ्ग जानना चाहिए। ५. द्र०—मनु० २।४५-४७॥

अत्यन्तं स्नानं भोजनं निद्रां जागरणं निन्दां लोभमोहभयशोकान् वर्जय ॥१२॥[1] प्रतिदिनं रात्रेः पश्चिमे यामे चोत्थायावश्यकं कृत्वा दन्तधावनस्नानसन्ध्योपासनेश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासनायोगाभ्यासान्नित्यमाचर ॥१३॥[2] क्षुरकृत्यं वर्जय ॥१४॥[3] मांसरूक्षाहारं मद्यादिपानं च वर्जय ॥१५॥ गवाश्वहस्त्युष्ट्रादियानं वर्जय ॥१६॥ अन्तग्रामनिवासोपानच्छत्रधारणं वर्जय ॥१७॥[4] अकामतः स्वयमिन्द्रियस्पर्शेन वीर्यस्खलनं विहाय वीर्यं शरीरे संरक्ष्योर्ध्वरेताः सततं भव ॥१८॥ तैलाभ्यङ्गमर्दनात्यम्लातितिक्तकषायक्षाररेचनद्रव्याणि मा सेवस्व ॥ १९ ॥ नित्यं युक्ताहार-विहारवान् विद्योपार्जने च यत्नवान् भव ॥२०॥ सुशीलो मितभाषी सभ्यो भव ॥ २१ ॥[5] मेखलादण्डधारणभैक्ष्यचर्यसमिदाधानोदकस्पर्शनाचार्यप्रियाचरणप्रातःसायमभिवादनविद्यासंचयजितेन्द्रियत्वादीन्येते ते नित्यधर्माः ॥२२॥[6]

अर्थः – तू आज से ब्रह्मचारी है ॥१॥ नित्य सन्ध्योपासन भोजन के पूर्व शुद्ध जल का आचमन किया कर ॥२॥ दुष्ट कर्मों को छोड़ धर्म किया कर ॥३॥ दिन में शयन कभी मत कर ॥४॥ आचार्य के आधीन रहके नित्य साङ्गोपाङ्ग वेद पढ़ने में पुरुषार्थ किया कर ॥५॥ एक-एक साङ्गोपाङ्ग वेद के लिए बारह-बारह वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य अर्थात् ४८ वर्ष तक, वा जब तक साङ्गोपाङ्ग चारों वेद पूरे होवें, तब तक अखण्डित ब्रह्मचर्य कर ॥६॥ आचार्य के आधीन धर्माचरण में रहा कर। परन्तु यदि आचार्य अधर्माचरण वा अधर्म करने का उपदेश करे, उसको तू कभी मत मान, और उसका आचरण मत कर ॥७॥ क्रोध और मिथ्याभाषण करना छोड़ दे ॥८॥ आठ*

---

*स्त्री का ध्यान, कथा, स्पर्श, क्रीड़ा, दर्शन, आलिङ्गन, एकान्तवास और समागम, यह आठ प्रकार का मैथुन कहाता है। जो इनको छोड़ देता है, वही ब्रह्मचारी होता है ॥ द० स०

---

१. गोभिल गृह्य (३।१।१८) में 'स्नानं' इतना ही पाठ हैं।
२. ग्रन्थकार का स्ववचन।
३. द्र०—गोभिल गृह्य ३।१।२०॥ 'वर्जय' का अनुषङ्ग जानना चाहिए।
४. तुलना—गोभिल गृह्य ३।१।२१-२४॥
५. सूत्र १९, २०, २१ ग्रन्थकार के वचन हैं।
६. तुलना करो—गोभिल गृह्य ३।१।२५॥

प्रकार के मैथुन को छोड़ देना ॥९॥ भूमि में शयन करना, पलङ्ग आदि पर कभी न सोना ॥१०॥ कौशीलव अर्थात् गाना, बजाना, तथा नृत्य आदि निन्दित कर्म, गन्ध और अञ्जन का सेवन मत कर ॥११॥ अति स्नान, अति भोजन, अधिक निद्रा, अधिक जागरण, निन्दा, लोभ, मोह, भय, शोक का ग्रहण कभी मत कर ॥१२॥ रात्रि के चौथे पहर में जाग, आवश्यक शौचादि, दन्तधावन, स्नान, सन्ध्योपासन, ईश्वर की स्तुति प्रार्थना और उपासना, योगाभ्यास का आचरण नित्य किया कर ॥१३॥ क्षौर मत करा ॥१४॥ मांस, रूखा शुष्क अन्न मत खावे और मद्यादि मत पीवे ॥१५॥ बैल घोड़ा हाथी ऊंट आदि की सवारी मत कर ॥१६॥ गांव में निवास, जूता और छत्र का धारण मत कर ॥१७॥ लघुशङ्का के विना उपस्थ इन्द्रिय के स्पर्श से वीर्यस्खलन कभी न करके, वीर्य को शरीर में रखके निरन्तर ऊर्ध्वरेता अर्थात् नीचे वीर्य को मत गिरने दे, इस प्रकार यत्न से वर्ता कर ॥१८॥ तैलादि से अङ्गमर्दन, उबटना, अतिखट्टा इमली आदि, अतितीखा लालमिर्ची आदि, कसेला हरड़े आदि, क्षार अधिक लवण आदि, और रेचक जमालगोटा आदि द्रव्यों का सेवन मत कर ॥१९॥ नित्य युक्ति से आहार-विहार करके विद्या ग्रहण में यत्नशील हो ॥२०॥ सुशील, थोड़ा बोलनेवाला, सभा में बैठनेयोग्य गुण ग्रहण कर ॥२१॥ मेखला और दण्ड का धारण, भिक्षाचरण अग्निहोत्र, स्नान, सन्ध्योपासन, आचार्य का प्रियाचरण; प्रातःसायं आचार्य को नमस्कार करना ये तेरे नित्य करने के कर्म, और जो निषेध किये वे नित्य न करने के [कर्म] हैं ॥२२॥

जब यह उपदेश पिता कर चुके, तब बालक पिता को नमस्कार कर, हाथ जोड़के कहे कि—'जैसा आपने उपदेश किया वैसा ही करूंगा।'

तत्पश्चात् ब्रह्मचारी यज्ञकुण्ड की प्रदक्षिणा करके, कुण्ड के पश्चिम भाग में खड़ा रहके, माता-पिता भाई-बहिन मामा मौसी चाचा आदि से लेके जो भिक्षा देने में नकार न करें, उनसे भिक्षा*

*ब्राह्मण का बालक यदि पुरुष से भिक्षा मांगे तो "भवान् भिक्षां ददातु", और जो स्त्री से मांगे तो "भवती भिक्षां ददातु", और क्षत्रिय का बालक 'भिक्षां भवान् ददातु' और स्त्री से "भिक्षां भवती ददातु", वैश्य का बालक "भिक्षां ददातु भवान्" और "भिक्षां ददातु भवती" ऐसा वाक्य बोले ॥ द० स०

मांगे। और जितनी भिक्षा मिले, उसे आचार्य के आगे धर देनी। तत्पश्चात् आचार्य उसमें से कुछ थोड़ा सा अन्न लेके वह सब भिक्षा बालक को दे देवे। और वह बालक उस भिक्षा को अपने भोजन के लिए रख छोड़े।

तत्पश्चात् बालक को शुभासन पर बैठाके पृष्ठ ३८–३९ में लिखे प्रमाणे **वामदेव्यगान** को करना। तत्पश्चात् बालक पूर्व रक्खी हुई भिक्षा का भोजन करे। पश्चात् सायंकाल तक विश्राम और गृहाश्रम संस्कार में लिखा सन्ध्योपासन आचार्य बालक के हाथ से करावे।

और पश्चात् ब्रह्मचारी सहित आचार्य कुण्ड के पश्चिम भाग में आसन पर पूर्वाभिमुख बैठे। और स्थालीपाक अर्थात् पृष्ठ २०-२१ में लिखे प्रमाणे भात बना, उसमें घी डाल पात्र में रख पृष्ठ ३१-३४ में लिखे प्रमाणे **समिदाधान** कर, पुनः समिधा प्रदीप्त कर **आघारावाज्यभागाहुति**[1] ४ चार, और **व्याहृति आहुति**[2] ४ चार, दोनों मिलके ८ आठ आज्याहुति देनी।

तत्पश्चात् ब्रह्मचारी खड़ा होके पृष्ठ १०८ में "**ओम् अग्ने सुश्रवः०**" इस मन्त्र से ३ तीन समिधा की आहुति देवे। तत्पश्चात् बालक बैठके यज्ञ कुण्ड के अग्नि से अपना हाथ तपा पृष्ठ २९-३० में पूर्ववत्[3] मुख का स्पर्श करके अङ्गस्पर्श करना।

तत्पश्चात् पृष्ठ २०-२१ में लिखे प्रमाणे बनाए हुये भात को बालक आचार्य को होम और भोजन के लिये देवे। पुनः आचार्य उस भात में से आहुति के अनुमान भात को स्थाली में लेके, उसमें घी मिला—

ओं सद॑स॒स्पति॒मद्भु॑तं प्रि॒यमिन्द्र॑स्य॒ काम्य॑म्। स॒निं मे॒धाम॑यासिष॒ꣳ स्वाहा॑ ॥ इदं सदसस्पतये—इदन्न मम ॥१॥[4]

---

१. 'अग्नये स्वाहा' आदि ४ मन्त्रों से।

२. 'भूरग्नये स्वाहा' आदि ४ मन्त्रों से।

३. इस पृष्ठ में अङ्ग-स्पर्श के मन्त्र हैं। हमारा विचार है कि यहां पृष्ठ १०९ के 'तनूपा' आदि मन्त्रों से मुखस्पर्श और अङ्गस्पर्श होना चाहिए, वहां भी मुखस्पर्श और अङ्गस्पर्श का विधान है।

४. यजु० ३२।१३॥ 'इदं......मम' पद मन्त्र से बहिर्भूत हैं। स्वरचिह्न हमने लगाए हैं।

तत्स॑वि॒तुर्वरे॑ण्य॒ं भर्गो॑ दे॒वस्य॑ धीमहि । धियो॒ यो नः॑ प्रचो॒दया॑त् [स्वाहा] ।। इदं सवित्रे—इदन्न मम ।।२।।[1]

ओम् ऋषिभ्यः स्वाहा ।। इदम् ऋषिभ्यः—इदन्न मम ।।३।।[2]

इन ३ तीन मन्त्रों से तीन, और पृष्ठ ३५ में लिखे प्रमाणे (ओं यदस्य कर्मणो०) इस मन्त्र से चौथी आहुति देवे । तत्पश्चात् पृष्ठ ३४ में लिखे प्रमाणे व्याहृति आहुति[3] ४ चार, और पृष्ठ ३६–३७ में (ओं त्वन्नो०) इन ८ आठ मन्त्रों से आज्याहुति ८ आठ मिलके १२ बारह आज्याहुति देके ब्रह्मचारी शुभासन पर पूर्वाभिमुख बैठके पृष्ठ ३८-३९ में लिखे प्रमाणे **वामदेव्यगान** आचार्य के साथ करके—

अमुकगोत्रोत्पन्नोऽहं भो भवन्तमभिवादये ।।

ऐसा वाक्य बोलके आचार्य का वन्दन करे । और आचार्य्य—

आयुष्मान् विद्यावान् भव सौम्य ।।

ऐसा आशीर्वाद देके, पश्चात् होम से बचे हुये हविष्य अन्न और दूसरे भी सुन्दर मिष्टान्न का भोजन आचार्य के साथ अर्थात् पृथक्-पृथक् बैठके करें ।

तत्पश्चात् हस्त मुख प्रक्षालन करके, संस्कार में निमन्त्रण से जो आये हों उनको यथायोग्य भोजन करा, तत्पश्चात् स्त्रियों को स्त्री और पुरुषों को पुरुष प्रीतिपूर्वक विदा करें । और सब जने बालक को निम्नलिखित—

हे बालक ! त्वमीश्वरकृपया विद्वान् शरीरात्मबलयुक्तः कुशली वीर्यवान् अरोगः सर्वा विद्या अधीत्याऽस्मान् दिदृक्षुः सन्नागम्याः ।।

ऐसा आशीर्वाद देके अपने-अपने घर को चले जायें ।

---

१. यजु० ३।३५।। 'स्वाहा' तथा 'इदं…मम' पद मन्त्र से बहिर्भूत हैं । इस मन्त्र से आहुति का विधान होने से 'स्वाहा' पद आवश्यक है । मूल पाठ में नहीं था, स्वरचिह्न हमने लगाए हैं ।

२. देखो—तीनों आहुतियों के लिए आश्व० गृह्य १।२२।११,१२,१४।।

३. 'भूरग्नये स्वाहा' आदि ४ मन्त्रों से ।

तत्पश्चात् ब्रह्मचारी ३ तीन दिन तक भूमि में शयन, प्रातः-सायं पृष्ठ १०८ में लिखे प्रमाणे (**अग्ने सुश्रवः०**) इस मन्त्र से समिधा होम, और पृष्ठ २९-३० में[1] लिखे प्रमाणे मुख आदि अङ्गस्पर्श आचार्य करावे। तथा ३ तीन दिन तक (सदसस्पति०) इत्यादि पृष्ठ ११५-११६ में लिखे प्रमाणे ४ चार[2] स्थालीपाक की आहुति पूर्वोक्त रीति से ब्रह्मचारी के हाथ से करवावे। और ३ तीन दिन तक क्षार लवण रहित पदार्थ का भोजन ब्रह्मचारी किया करे।

तत्पश्चात् पाठशाला में जाके गुरु के समीप विद्याभ्यास करने के समय की प्रतिज्ञा करे, तथा आचार्य भी करे—

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।
तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः॥१॥
इयं समित्पृथिवी द्यौर्द्वितीयोतान्तरिक्षं समिधा पृणाति।
ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकाँस्तपसा पिपर्ति॥२॥
ब्रह्मचार्येति समिधा समिद्धः कार्ष्णं वसानो दीक्षितो दीर्घश्मश्रुः।
स सद्य एति पूर्वस्मादुत्तरं समुद्रं लोकान्त्संगृभ्य मुहुराचरिक्रत्॥३॥
ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते॥४॥
ब्रह्मचर्येण कन्या३ युवानं विन्दते पतिम्॥५॥
ब्रह्मचारी ब्रह्म भ्राजद्बिभर्ति तस्मिन् देवा अधि विश्वे समोताः।
प्राणापानौ जनयन्नाद् व्यानं वाचं मनो हृदयं ब्रह्म मेधाम्॥६॥

अथर्व० का० ११। सू० ५॥[3]

संक्षेप से भाषार्थ—आचार्य ब्रह्मचारी को प्रतिज्ञापूर्वक समीप रखके ३ तीन रात्रि पर्यन्त गृहाश्रम के प्रकरण में लिखे सन्ध्योपासनादि सत्पुरुषों के आचार की शिक्षा कर, उसके आत्मा के भीतर

---

१. द्र०—पृष्ठ ११५ टि० ३।

२. सदसस्पति०, तत्सवितु०, ऋषिभ्यः०, यदस्य० से।

३. मन्त्र ३, ४, ६, १७, १८, २४॥

गर्भरूप विद्या स्थापन करने के लिये उसको धारण कर, और उसको पूर्ण विद्वान् कर देता [है]। और जब वह पूर्ण ब्रह्मचर्य और विद्या को पूर्ण करके घर को आता है, तब उसको देखने के लिये सब विद्वान् लोग सम्मुख जाकर बड़ा मान्य करते हैं ॥१॥

जो यह ब्रह्मचारी वेदारम्भ के समय तीन समिधा अग्नि में होम कर, ब्रह्मचर्य के व्रत का नियमपूर्वक सेवन करके, विद्या पूर्ण करने को दृढ़ोत्साही होता है, वह जानो पृथिवी सूर्य और अन्तरिक्ष के सदृश सब का पालन करता है। क्योंकि वह समिदाधान मेखलादि चिह्नों का धारण और परिश्रम से विद्या पूर्ण करके, इस ब्रह्मचर्यानुष्ठानरूप तप से सब लोगों को सद्गुण और आनन्द से तृप्त कर देता है ॥२॥

जब विद्या से प्रकाशित और मृगचर्मादि धारण कर दीक्षित होके (दीर्घश्मश्रुः) ४० चालीस वर्ष तक डाढ़ी मूंछ आदि पञ्च केशों का धारण करनेवाला ब्रह्मचारी होता है, वह पूर्व समुद्ररूप ब्रह्मचर्यानुष्ठान को पूर्ण करके गुरुकुल से उत्तर समुद्र अर्थात् गृहाश्रम को शीघ्र प्राप्त होता है। वह सब लोगों का संग्रह करके वारं-वार पुरुषार्थ और जगत् को सत्योपदेश से आनन्दित कर देता है ॥३॥

वही राजा उत्तम होता है, जो पूर्ण ब्रह्मचर्यरूप तपश्चरण से पूर्ण विद्वान् सुशिक्षित सुशील जितेन्द्रिय होकर राज्य का विविध प्रकार से पालन करता है। और वही विद्वान् ब्रह्मचारी की इच्छा करता, और आचार्य हो सकता है, जो यथावत् ब्रह्मचर्य से सम्पूर्ण विद्याओं को पढ़ता है ॥४॥

जैसे लड़के पूर्ण ब्रह्मचर्य और पूर्ण विद्या पढ़ पूर्ण ज्ञान होके अपने सदृश कन्या से विवाह करें, वैसे कन्या भी अखण्ड ब्रह्मचर्य से पूर्ण विद्या पढ़ पूर्ण युवति हो, अपने तुल्य पूर्ण युवावस्थावाले पति को प्राप्त होवे ॥५॥

जब ब्रह्मचारी ब्रह्म अर्थात् साङ्गोपाङ्ग चारों वेदों को शब्द अर्थ और सम्बन्ध के ज्ञानपूर्वक धारण करता है, तभी प्रकाशमान होता; उसमें सम्पूर्ण दिव्यगुण निवास करते, और सब विद्वान् उससे मित्रता करते हैं। वह ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य्य हीं से प्राण, दीर्घजीवन, दुःख क्लेशों का नाश, सम्पूर्ण विद्याओं में व्यापकता, उत्तम वाणी,

पवित्र आत्मा, शुद्ध हृदय, परमात्मा और श्रेष्ठ प्रज्ञा को धारण करके, सब मनुष्यों के हित के लिये सब विद्याओं का प्रकाश करता है ॥६॥

ब्रह्मचर्यकालः

इसमें छान्दोग्योपनिषद् के तृतीय प्रपाठक के सोलहवें खण्ड का प्रमाण—

मातृमान् पितृमानाचार्यवान् पुरुषो वेद ॥१॥[1]

पुरुषो वाव यज्ञस्तस्य यानि चतुर्विꣳशतिवर्षाणि तत् प्रातःसवनं चतुर्विꣳशत्यक्षरा गायत्री गायत्रं प्रातःसवनं तदस्य वसवोऽन्वायत्ताः प्राणा वाव वसव एते हीदꣳ सर्वं वासयन्ति ॥२॥

तं चेदेतस्मिन् वयसि किञ्चिदुपतपेत् स ब्रूयात् प्राणा वसव इदं मे प्रातःसवनं माध्यन्दिनꣳ सवनमनुसन्तनुतेति माहं प्राणानां वसूनां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्यगदो ह भवति ॥३॥

अथ यानि चतुश्चत्वारिꣳशद्वर्षाणि तन्माध्यन्दिनꣳ सवनं चतुश्चत्वारिꣳशदक्षरा त्रिष्टुप् त्रैष्टुभं माध्यन्दिनꣳ सवनं तदस्य रुद्राः अन्वायत्ताः प्राणा वाव रुद्रा एते हीदꣳ सर्वꣳ रोदयन्ति ॥४॥

तं चेदेतस्मिन् वयसि किञ्चिदुपतपेत् स ब्रूयात् प्राणा रुद्रा इदं मे माध्यन्दिनꣳ सवनं तृतीयसवनमनुसन्तनुतेति माहं प्राणानाꣳ रुद्राणां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्यगदो ह भवति ॥५॥

अथ यान्यष्टाचत्वारिꣳशद्वर्षाणि तत् तृतीयसवनमष्टाचत्वारिꣳशदक्षरा जगती जागतं तृतीयसवनं तदस्यादित्या अन्वायत्ताः प्राणा वावादित्या एते हीदꣳ सर्वमाददते ॥६॥

तं चेदेतस्मिन् वयसि किञ्चिदुपतपेत् स ब्रूयात् प्राणा आदित्या इदं मे तृतीयसवनमायुरनुसन्तनुतेति माहं प्राणानामादित्यानां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयत्युद्धैव तत एत्यगदो हैव भवति ॥७॥[2]

---

१. सत्यार्थप्रकाश द्वि० सं० के आरम्भ में 'यह शतपथ ब्राह्मण का वचन है' ऐसा लिखा है। शत० १४।६।१०।२ में 'मातृमान पितृमान् आचार्य-वान्' इतना पाठ मिलता है। छा० उप० ६।१४।२ में 'आचार्यवान् पुरुषो वेद' इतना पाठ उपलब्ध होता है।

२. छा० उप० ३।१६।१-६ ॥ सामवेदीय ग्रन्थों में भी ꣳकार का प्रयोग होता है, यह हम पूर्व पृष्ठ १४ की टि० १ में लिख चुके हैं। अ० मु० उत्तर-

अर्थः—जो बालक को ५ पांच वर्ष की आयु तक माता, ५ पांच से ८ आठ तक पिता, ८ आठ से ४८ अड़तीस, ४४ चवालीस, ४० चालीस, ३६ छत्तीस, ३० तीस तक, अथवा २५ पच्चीस वर्ष तक तथा कन्या को ८ आठ से २४ चौबीस, २२ बाईस, २० बीस, १८ अठारह, अथवा १६ सोलह वर्ष तक आचार्य की शिक्षा प्राप्त हो, तभी पुरुष वा स्त्री विद्यावान् होकर धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष के व्यवहारों में अतिचतुर होते हैं ॥१॥

यह मनुष्य देह यज्ञ अर्थात् अच्छे प्रकार इसको आयु बल आदि से सम्पन्न करने के लिये छोटे से छोटा यह पक्ष है कि २४ चौबीस वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य पुरुष और १६ सोलह वर्ष तक स्त्री ब्रह्मचर्याश्रम यथावत् पूर्ण, जैसे २४ चौबीस अक्षर का गायत्री छन्द होता है, वैसे करे, वह प्रातःसवन कहाता है। जिससे इस मनुष्य देह के मध्य वसुरूप प्राण प्राप्त होते हैं, जो बलवान् होकर सब शुभ गुणों को शरीर आत्मा और मन के बीच वास कराते हैं ॥२॥

जो कोई इस २५ पच्चीस वर्ष की आयु से पूर्व ब्रह्मचारी को विवाह वा विषयभोग करने का उपदेश करे, उसको वह ब्रह्मचारी यह उत्तर देवे कि—देख, यदि मेरे प्राण मन और इन्द्रिय २५ पच्चीस वर्ष तक ब्रह्मचर्य से बलवान् न हुए, तो मध्यम सवन जो कि आगे ४४ चवालीस वर्ष तक का ब्रह्मचर्य कहा है, उसको पूर्ण करने के लिये मुझ में सामर्थ्य न हो सकेगा। किन्तु प्रथम कोटि का ब्रह्मचर्य मध्यम कोटि के ब्रह्मचर्य को सिद्ध करता है। इसलिये क्या मैं तुम्हारे सदृश मूर्ख हूं कि जो इस शरीर प्राण अन्तःकरण और आत्मा के संयोगरूप सब शुभ गुण कर्म और स्वभाव के साधन करने वाले इस संघात को शीघ्र नष्ट करके अपने मनुष्य देह धारण के फल से विमुख रहूं? और सब आश्रमों के मूल, सब उत्तम कर्मों में उत्तम कर्म, और सबके मुख्य कारण ब्रह्मचर्य को खण्डित करके महा-दुःखसागर में कभी डूबूं। किन्तु जो प्रथम आयु में ब्रह्मचर्य करता है, वह ब्रह्मचर्य के सेवन से विद्या को प्राप्त होके निश्चित रोगरहित होता है। इसलिये तुम मूर्ख लोगों के कहने से ब्रह्मचर्य का लोप मैं कभी न करूंगा ॥३॥

वर्ती संस्करणों में ईंकार हटाकर अनुस्वार कर दिया है। सत्यार्थप्रकाश सं० ३ में दिये उद्धरण में भी ईंकार मिलता है।छान्दोग्योपनिषद् सामवेदीय है।

और जो ४४ चवालीस वर्ष तक, अर्थात् जैसा ४४ चवालीस अक्षर का त्रिष्टुप् छन्द होता है, तद्वत् जो मध्यम ब्रह्मचर्य करता है वह ब्रह्मचारी रुद्ररूप प्राणों को प्राप्त होता है। कि जिसके आगे किसी दुष्ट की दुष्टता नहीं चलती। और वह सब दुष्ट कर्म करनेवालों को सदा रुलाता रहता है ॥४॥

यदि मध्यम ब्रह्मचर्य के सेवन करनेवाले से कोई कहे कि तू इस ब्रह्मचर्य को छोड़ विवाह करके आनन्द को प्राप्त हो, उसको ब्रह्मचारी यह उत्तर देवे कि—जो सुख अधिक ब्रह्मचर्याश्रम के सेवन से होता, और विषय-सम्बन्धी भी अधिक आनन्द होता है, वह ब्रह्मचर्य को न करने से स्वप्न में भी नहीं प्राप्त होता। क्योंकि सांसारिक व्यवहार, विषय और परमार्थ सम्बन्धी पूर्ण सुख को ब्रह्मचारी ही प्राप्त होता है, अन्य कोई नहीं। इसलिये मैं इस सर्वोत्तम सुख-प्राप्ति के साधन ब्रह्मचर्य का लोप न करके विद्वान् बलवान् आयुष्मान् धर्मात्मा होके सम्पूर्ण आनन्द को प्राप्त होऊंगा। तुम्हारे निर्बुद्धियों के कहने से शीघ्र विवाह करके स्वयं और अपने कुल को नष्ट-भ्रष्ट कभी न करूंगा ॥५॥

अब ४८ अड़तालीस वर्ष पर्यन्त, जैसा कि ४८ अड़तालीस अक्षर का जगती छन्द होता है, वैसे इस उत्तम ब्रह्मचर्य से पूर्ण विद्या पूर्णबल, पूर्णप्रज्ञा, पूर्ण शुभ गुण कर्म स्वभावयुक्त, सूर्यवत् प्रकाशमान् होकर ब्रह्मचारी सब विद्याओं को ग्रहण करता है ॥६॥

यदि कोई इस सर्वोत्तम धर्म से गिराना चाहे, उसको ब्रह्मचारी उत्तर देवे कि—अरे छोकरों के छोकरे! मुझसे दूर रहो। तुम्हारे दुर्गन्धरूप भ्रष्ट वचनों से मैं दूर रहता हूं। मैं इस उत्तम ब्रह्मचर्य का लोप कभी न करूंगा। इसको पूर्ण करके सर्व रोगों से रहित सर्वविद्यादि शुभ गुण कर्म स्वभाव सहित होऊंगा। इस मेरी शुभ प्रतिज्ञा को परमात्मा अपनी कृपा से पूर्ण करे। जिससे मैं तुम निर्बुद्धियों को उपदेश और विद्या पढ़ाके विशेष तुम्हारे बालकों को आनन्दयुक्त कर सकूं ॥७॥

चतस्रोऽवस्थाः शरीरस्य वृद्धिर्यौवनं संपूर्णता किञ्चित्परि-

हाणिश्चेति । तत्राषोडशाद् वृद्धिः । आपञ्चविंशतेर्यौवनम् । आचत्वारिंशतस्सम्पूर्णता । ततः किञ्चित्परिहाणिश्चेति ।।[1]

पञ्चविंशे ततो वर्षे पुमान्नारी तु षोडशे ।
समत्वागतवीर्यौ तौ जानीयात् कुशलो भिषक् ।।[2]

यह धन्वन्तरिजी कृत सुश्रुतग्रन्थ का प्रमाण है ।।

अर्थः—इस मनुष्य देह की ४ चार अवस्था हैं—एक वृद्धि, दूसरी यौवन, तीसरी सम्पूर्णता, चौथी किञ्चित्परिहाणि करनेहारी अवस्था है। इनमें १६ सोलहवें वर्ष [से] आरम्भ २५ पच्चीसवें वष में पूतिवाली वृद्धि की अवस्था है। जो कोई इस वृद्धि की अवस्था में वीर्यादि धातुओं का नाश करेगा, वह कुल्हाड़े से काटे वृक्ष वा दण्डे से फूटे घड़े के समान अपने सर्वस्व का नाश करके पश्चात्ताप करेगा। पुनः उसके हाथ में सुधार कुछ भी न रहेगा। और दूसरी जो युवावस्था, उसका आरम्भ २५ पच्चीसवें वर्ष से और पूर्ति ४० चालीसवें वर्ष में होती है। जो कोई इसको यथावत् संरक्षित न कर रक्खेगा, वह अपनी भाग्यशालीनता को नष्ट कर देवेगा। और तीसरी पूर्ण युवावस्था ४० चालीसवें वर्ष में होती है। जो कोई ब्रह्मचारी होकर पुनः ऋतुगामी, परस्त्रीत्यागी, एकस्त्रीव्रत, गर्भ रहे पश्चात् एक वर्ष पर्य्यन्त ब्रह्मचारी न रहेगा, वह भी बना बनाया धूल में मिल जायेगा। और चौथी ४० चालीसवें वर्ष से यावत् निर्वीर्य न हो[3], तावत् किञ्चित् हानिरूप अवस्था है। यदि किञ्चित् हानि के बदले वीर्य्य की अधिक हानि करेगा, वह भी राजयक्ष्मा और भगन्दरादि रोगों से पीड़ित हो जायेगा। और जो इन चारों अवस्थाओं को यथोक्त सुरक्षित रक्खेगा, वह सदा आनन्दित होकर सब संसार को सुखी कर सकेगा।।

अब इनमें इतना विशेष समझना चाहिए कि स्त्री और पुरुष के शरीर में पूर्वोक्त चारों अवस्थाओं का एकसा समय नहीं है। किन्तु जितना सामर्थ्य २५ पच्चीसवें वर्ष में पुरुष के शरीर में होता है, उतना सामर्थ्य स्त्री के शरीर में १६ सोलहवें वर्ष में हो जाता है।

---

१. तुलना—सुश्रुत सूत्रस्थान अ० ३५।२५।।, इस विषय में पृष्ठ ४२ पर टिप्पणी १ अवश्य देखें।

२. सुश्रुत सूत्रस्थान अ० ३५।१०।। ३. अर्थात् ७० वर्ष पर्यन्त।

यदि बहुत शीघ्र विवाह करना चाहें, तो २५ वर्ष का पुरुष और १६ वर्ष की स्त्री दोनों तुल्य सामर्थ्यवाले होते हैं। इस कारण इस अवस्था में जो विवाह करना वह अधम विवाह है। और जो १७ सत्रहवें वर्ष की स्त्री और ३० वर्ष का पुरुष, १८ अठारह वर्ष की स्त्री और ३६ वर्ष का पुरुष, १९ उन्नीस वर्ष की स्त्री [और] ३८ वर्ष का पुरुष विवाह करे, तो इसको मध्यम समय जानो। और जो २० बीस, २१ इक्कीस, २२ बाईस, [२३ तेईस] वा २४ चौबीस वर्ष की स्त्री और ४० चालीस, ४२ बयालीस, [४४ चवालीस,] ४६ छयालीस और ४८ अड़तालीस वर्ष का पुरुष होकर विवाह करे, वह सर्वोत्तम है। हे ब्रह्मचारिन् ! इन बातों को तू ध्यान में रख, जो कि तुझको आगे के आश्रमों में काम आवेंगी। जो मनुष्य अपने सन्तान कुल सम्बन्धी और देश की उन्नति करना चाहें, वे इन पूर्वोक्त और आगे कही हुई बातों का यथावत् आचरण करें।

श्रोत्रं त्वक् चक्षुषी जिह्वा नासिका चैव पञ्चमी।
पायूपस्थं हस्तपादं वाक् चैव दशमी स्मृता ॥१॥

बुद्धीन्द्रियाणि पञ्चैषां श्रोत्रादीन्यनुपूर्वशः।
कर्मेन्द्रियाणि पञ्चैषां पाय्वादीनि प्रचक्षते ॥२॥

एकादशं मनो ज्ञेयं स्वगुणेनोभयात्मकम्।
यस्मिन् जिते जितावेतौ भवतः पञ्चकौ गणौ ॥३॥

इन्द्रियाणां विचरतां विषयेष्वपहारिषु।
संयमे यत्नमातिष्ठेद् विद्वान् यन्तेव वाजिनाम् ॥४॥

इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम्।
संनियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति ॥५॥

वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च।
न विप्रभावदुष्टस्य[1] सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित् ॥६॥[2]

वशे कृत्वेन्द्रियग्रामं संयम्य च मनस्तथा।
सर्वान् संसाधयेदर्थानक्षिण्वन् योगतस्तनुम् ॥७॥[3]

---

१. मनु० में 'विप्रदुष्टभावस्य' पाठ मिलता है। सत्यार्थप्रकाश समु० ३ पृष्ठ ८३, समु० १० पृष्ठ ३८४ (रा. ला. क. ट्रस्ट सं) में भी 'विप्रदुष्टभावस्य' ही मूल पाठ है। २. मनु० २।९०, ९१, ९२, ८८, ९३, ९७॥
३. मनु० २।१००॥

यमान् सेवेत सततं न नियमान् केवलान् बुधः ।[1]
यमान् पतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन् ॥८॥[2]

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः ।
चत्वारि तस्य वर्द्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम् ॥९॥

अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः ।
अज्ञं हि बालमित्याहुः पितेत्येव तु मन्त्रदम् ॥१०॥

न हायनैर्न पलितैर्न वित्तेन न बन्धुभिः ।
ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान् ॥११॥

न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः ।
यो वै युवाप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः ॥१२॥

यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः ।
यश्च विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति ॥१३॥

संमानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव ।
अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा ॥१४॥

वेदमेव सदाभ्यस्येत् तपस्तप्स्यन् द्विजोत्तमः ।
वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते ॥१५॥

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम् ।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ॥१६॥

यथा खनन् खनित्रेण नरो वार्यधिगच्छति ।
तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति ॥१७॥

श्रद्दधानः शुभां विद्यामाददीतावरादपि ।
अन्त्यादपि परं धर्मं स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि ॥१८॥[3]

विषादप्यमृतं ग्राह्यं बालादपि सुभाषितम् ।
विविधानि च शिल्पानि समादेयानि सर्वतः ॥१९॥ मनु० ॥[4]

---

१. यही पाठ स० प्र० समु० ३ पृष्ठ ७१ (रा० ला० क० ट्रस्ट सं०) में भी है । मनु० में 'न नित्यं नियमान् बुधः' पाठ मिलता है ।

२. मनु० ४।२०४ ॥ ३. मनु० २।१२१, १५३, १५४, १५६, १५७, १६२, १६६, १६८, २१८, २३८ ॥

४. मनु० २।२३९,२४० ॥ 'विषादपि०' पूर्वार्ध २।२३९, 'विविधानि०' उत्तरार्ध २४० ।

अर्थः—कान, त्वचा, नेत्र, जीभ, नासिका, गुदा, उपस्थ (मूत्र का मार्ग), हाथ, पग, वाणा ये १० इन्द्रियां इस शरीर में हैं ॥१॥

इनमें कान आदि पांच ज्ञानेन्द्रिय, और गुदा आदि पांच कर्मेन्द्रिय कहाते हैं ॥२॥

ग्यारहवां इन्द्रिय मन है। वह अपने स्मृति आदि गुणों से दोनों प्रकार के इन्द्रियों से सम्बन्ध करता है, कि जिस मन के जीतने में ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय दोनों जीत लिये जाते हैं ॥३॥

जैसे सारथि घोड़े को कुपथ में नहीं जाने देता, वैसे विद्वान् ब्रह्मचारी आकर्षण करनेवाले विषयों में जाते हुए इन्द्रियों को रोकने में सदा प्रयत्न किया करे ॥४॥

ब्रह्मचारी इन्द्रियों के साथ मन लगाने से निःसन्देह दोषी हो जाता है। और उन पूर्वोक्त १० इन्द्रियों को वश में करके ही पश्चात् सिद्धि को प्राप्त होता है ॥५॥

जिसका ब्राह्मणपन (सम्मान नहीं चाहना वा इन्द्रियों को वश में रखना आदि) बिगड़ा, वा जिसका विशेष प्रभाव[1] (वर्णाश्रम के गुण कर्म) बिगड़े हैं, उस पुरुष के वेद पढ़ना, त्याग (संन्यास) लेना, यज्ञ (अग्निहोत्रादि) करना, नियम (ब्रह्मचर्य्याश्रम आदि) करना, तप (निन्दा-स्तुति और हानि-लाभ आदि द्वन्द्व का सहन) करना आदि कर्म कदापि सिद्ध नहीं हो सकते। इसलिए ब्रह्मचारी को चाहिये कि अपने नियम-धर्मों को यथावत् पालन करके सिद्धि को प्राप्त होवे ॥६॥

ब्रह्मचारी पुरुष सब इन्द्रियों को वश में कर, और आत्मा के साथ मन को संयुक्त करके योगाभ्यास से शरीर को किञ्चित्-किञ्चित् पीड़ा देता हुआ अपने सब प्रयोजनों को सिद्ध करे ॥७॥

बुद्धिमान् ब्रह्मचारी को चाहिये कि यमों का सेवन नित्य करे, केवल नियमों का नहीं। क्योंकि यमों* को न करता हुआ और केवल

---

*अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ॥[2]

निर्वैरता, सत्य बोलना, चोरीत्याग, वीर्यरक्षण और विषयभोग में घृणा, ये ५ पांच यम हैं ॥ द० स०

---

१. यहां 'भाव' शब्द होना चाहिये, श्लोक में भी 'भाव' ही है।
२. योग द० २।३० ॥

नियमों§ का सेवन करता हुआ भी अपने कर्त्तव्य से पतित हो जाता है। इसलिए यमसेवन पूर्वक नियमसेवन नित्य किया करे ॥८॥

अभिवादन करने का जिसका स्वभाव, और विद्या वा अवस्था में वृद्ध पुरुषों का जो नित्य सेवन करता है, उसकी अवस्था विद्या कीर्ति और बल इन चारों की नित्य उन्नति हुआ करती है। इसलिए ब्रह्मचारी को चाहिये कि आचार्य माता-पिता अतिथि महात्मा आदि अपने बड़ों को नित्य नमस्कार और सेवन किया करे ॥९॥

अज्ञ अर्थात् जो कुछ नहीं पढ़ा, वह निश्चय करके बालक होता, और जो मन्त्रद अर्थात् दूसरे को विचार देनेवाला, विद्या पढ़ा, विद्या-विचार में निपुण है, वह पिता-स्थानीय होता है। क्योंकि जिस कारण सत्पुरुषों ने अज्ञ जन को बालक कहा, और मन्त्रद को पिता ही कहा है, इससे प्रथम ब्रह्मचर्याश्रम सम्पन्न होकर ज्ञानवान् विद्यावान् अवश्य होना चाहिये ॥१०॥

धर्मवेत्ता ऋषिजनों ने न वर्षों, न पके केशों वा झूलते हुये अङ्गों, न धन और न बन्धुजनों से बड़प्पन माना। किन्तु यही धर्म निश्चय किया कि जो हम लोगों में वाद-विवाद में उत्तर देनेवाला अर्थात् वक्ता हो, वह बड़ा है। इससे ब्रह्मचर्याश्रम सम्पन्न होकर विद्यावान् होना चाहिए। जिससे कि संसार में बड़प्पन प्रतिष्ठा पावें, और दूसरों को उत्तर देने में अति निपुण हों ॥११॥

उस कारण से वृद्ध नहीं होता कि जिससे इसका शिर झूल जाय, केश पक जावें। किन्तु जो ज्वान भी पढ़ा हुआ विद्वान् है, उसको विद्वानों ने वृद्ध जाना और माना है। इससे ब्रह्मचर्याश्रम सम्पन्न होकर विद्या पढ़नी चाहिए ॥ १२ ॥

जैसे काठ का कठपूतला हाथी वा जैसे चमड़े का बनाया हुआ मृग हो, वैसे विना पढ़ा हुआ विप्र अर्थात् ब्राह्मण वा बुद्धिमान् जन होता है। उक्त वे हाथी मृग और विप्र तीनों नाममात्र धारण करते हैं। इस कारण ब्रह्मचर्याश्रम सम्पन्न होकर विद्या पढ़नी चाहिए॥१३॥

---

§शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥[1]

शौच, संतोष, तप, (हानि-लाभ आदि द्वन्द्व का सहना), स्वाध्याय (वेद का पढ़ना), ईश्वरप्रणिधान (सर्वस्व ईश्वरार्पण), ये ५ पांच नियम कहाते हैं ॥ द० स०

---

१. योग द० २।३२॥

ब्राह्मण विष के समान उत्तम मान से नित्य उदासीनता रक्खे। और अमृत के समान अपमान की आकांक्षा सर्वदा करे। अर्थात् ब्रह्मचर्यादि आश्रमों के लिये भिक्षामात्र मांगते भी कभी मान की इच्छा न करे ॥१४॥

द्विजोत्तम अर्थात् ब्राह्मणादिकों में उत्तम सज्जन पुरुष सर्वकाल तपश्चर्या करता हुआ वेद ही का अभ्यास करे। जिस कारण ब्राह्मण वा बुद्धिमान् जन को वेदाभ्यास करना इस संसार में परम तप कहा है। इससे ब्रह्मचर्याश्रम सम्पन्न होकर अवश्य वेदविद्याध्ययन करे ॥१५॥

जो ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य वेद को न पढ़कर अन्य शास्त्र में श्रम करता है, वह जीवता ही अपने वंश के सहित शूद्रपन को प्राप्त हो जाता है। इससे ब्रह्मचर्याश्रम सम्पन्न होकर वेदविद्या अवश्य पढ़े ॥ १६ ॥

जैसे फावड़ा से खोदता हुआ मनुष्य जल को प्राप्त होता है, वैसे गुरु की सेवा करनेवाला पुरुष गुरुजनों ने जो पाई हुई विद्या है, उसको प्राप्त होता है। इस कारण ब्रह्मचर्याश्रम सम्पन्न होकर गुरुजन की सेवा कर उनसे सुने और वेद पढ़े ॥ १७ ॥

उत्तम विद्या की श्रद्धा करता हुआ पुरुष अपने से न्यून से भी विद्या पावे, तो ग्रहण करे। नीच जाति से भी उत्तम धर्म का ग्रहण करे। और निन्द्य कुल से भी स्त्रियों में उत्तम स्त्रीजन का ग्रहण करे, यह नीति है। इससे गृहस्थाश्रम से पूर्व-पूर्व ब्रह्मचर्याश्रम सम्पन्न होकर कहीं से न कहीं से उत्तम विद्या पढ़े, उत्तम धर्म सीखे। और ब्रह्मचर्य के अनन्तर गृहाश्रम में उत्तम स्त्री से विवाह करे, क्योंकि ॥१८॥

विष से भी अमृत का ग्रहण करना, बालक से भी उत्तम वचन को लेना, और नाना प्रकार के शिल्प काम सबसे अच्छे प्रकार ग्रहण करने चाहियें। इस कारण ब्रह्मचर्याश्रम सम्पन्न होकर देश-देश पर्यटन कर उत्तम गुण सीखे ॥१९॥

यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि, नो इतराणि। यान्यस्माकꣳ सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि, नो इतराणि। एके[1]

---

१. तै० आरण्यक में 'ये के' पाठ है। स० प्र० समु० ३ पृष्ठ ७६ (रालाकट्रस्ट सं०) में भी 'ये के' पाठ है, परन्तु ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका (रालाकट्र सं० पृष्ठ ११९) में संस्कारविधि के समान 'एके' पाठ ही है।

चास्मच्छ्रेयाꣳसो ब्राह्मणाः, तेषां त्वयासनेन प्रश्वसितव्यम् ॥१॥
तैत्तिरी० प्रपा० ७। अनु० ११॥

ऋतं तपः सत्यं तपः श्रुतं तपः शान्तं तपो दमस्तपश्शमस्तपो दानं तपो यज्ञस्तपो ब्रह्म भूर्भुवः सुवर्ब्रह्मैतदुपास्वैतत्तपः ॥ २ ॥
तैत्तिरी० प्रपा० १०। अनु० ८॥'

अर्थः—हे शिष्य ! जो आनन्दित, पापरहित अर्थात् अन्याय अधर्माचरणरहित, न्याय धर्माचरणसहित कर्म हैं, उन्हीं का सेवन तू किया करना। इनसे विरुद्ध अधर्माचरण कभी मत करना। हे शिष्य! जो तेरे माता-पिता आचार्य आदि हम लोगों के अच्छे धर्मयुक्त उत्तम कर्म हैं, उन्हीं का आचरण तू कर। और जो हमारे दुष्ट कर्म हों, उनका आचरण कभी मत कर। हे ब्रह्मचारिन् ! जो हमारे मध्य में धर्मात्मा श्रेष्ठ ब्रह्मवित् विद्वान् हैं, उन्हीं के समीप बैठना, संग करना, और उन्हीं का विश्वास किया कर॥१॥

हे शिष्य ! तू जो यथार्थ का ग्रहण, सत्य मानना, सत्य बोलना, वेदादि सत्यशास्त्रों का सुनना, अपने मन को अधर्माचरण में न जाने देना, श्रोत्रादि इन्द्रियों को दुष्टाचार से रोक श्रेष्ठाचार में लगाना, क्रोधादि के त्याग से शान्त रहना, विद्या आदि शुभ गुणों का दान करना, अग्निहोत्रादि और विद्वानों का संग कर। जितने भूमि अन्तरिक्ष और सूर्यादि लोकों में पदार्थ हैं, उनका यथाशक्ति ज्ञान कर। और योगाभ्यास प्राणायाम एक ब्रह्म परमात्मा की उपासना कर। ये सब कर्म करना ही तप कहाता है॥२॥

ऋतञ्च स्वाध्यायप्रवचने च। सत्यञ्च स्वाध्यायप्रवचने च। तपश्च स्वाध्या०। दमश्च स्वाध्या०। शमश्च स्वाध्या०। अग्नयश्च स्वाध्या०।[2] अग्निहोत्रं च स्वाध्या०।

---

१. पूना संस्करण में दशम प्रपाठक का दो प्रकार का पाठ है। उसके प्रथम पाठ में 'दमस्तपश्शमस्तपो' तथा 'ब्रह्म' पाठ नहीं है। अन्त में मुद्रित पाठ (द्र०—१०।१०) में तथा प्रथम पाठ के नीचे पाठान्तर में 'दमस्तपश्शमस्तपो' पाठ मिलता है। यह पाठ ऋषि दयानन्द ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के 'वेदोक्तधर्मविषय' (पृ० १२२ रामलाल कपूर ट्रस्ट सं०) में भी उद्धृत किया है। वहां 'ब्रह्म' पद को छोड़कर संस्कारविधि जैसा ही पाठ है।

२. द्वितीय संस्करण में 'अग्नयश्च स्वाध्या०' पाठ नहीं है, परन्तु अर्थ

सत्यमिति सत्यवचा राथीतरः । तप इति तपोनित्यः पौरुशिष्टिः । स्वाध्यायप्रवचने एवेति नाको मौद्गल्यः । तद्धि तपस्तद्धि तपः ॥३॥

तैत्तिरी० प्रपा० ७ । अनु० ९ ॥

अर्थः—हे ब्रह्मचारिन् ! तू सत्य धारण कर, पढ़ और पढ़ाया कर । और सत्योपदेश करना कभी मत छोड़, सदा सत्य बोल पढ़ और पढ़ाया कर । हर्ष शोकादि छोड़, प्राणायाम योगाभ्यास कर तथा पढ़ और पढ़ाया भी कर । अपने इन्द्रियों को बुरे कामों से हटा अच्छे कामों में चला विद्या का ग्रहण कर और कराया कर । अपने अन्तःकरण और आत्मा को अन्यायाचरण से हटा न्यायाचरण में प्रवृत्त कर और कराया [कर] तथा पढ़ और सदा पढ़ाया कर । अग्निविद्या के सेवनपूर्वक विद्या को पढ़ और पढ़ाया कर । अग्निहोत्र करता हुआ पढ़ और पढ़ाया कर । 'सत्यवादी होना तप'—सत्यवचा राथीतर आचार्य; 'न्यायाचरण में कष्ट सहना तप'—[तपो] नित्य पौरुशिष्टि आचार्य, 'और धर्म में चलके पढ़ना-पढ़ाना और सत्योपदेश करना ही तप है' यह नाक मौद्गल्य आचार्य का मत है । और सब आचार्यों के मत में यही पूर्वोक्त तप, यही पूर्वोक्त तप है, ऐसा तू जान ॥३॥

इत्यादि उपदेश तीन दिन के भीतर आचार्य वा बालक का पिता करे ।

[पठन-पाठन-विधि]

तत्पश्चात् घर को छोड़ गुरुकुल में जावे । यदि पुत्र हो तो पुरुषों की पाठशाला, और कन्या हो तो स्त्रियों की पाठशाला में भेजें । यदि घर में वर्णोच्चारण की शिक्षा यथावत् न हुई हो, तो आचार्य बालकों को और कन्याओं को स्त्री, पाणिनिमुनिकृत वर्णोच्चारण शिक्षा १ एक महीने के भीतर पढ़ा देवें । पुनः पाणिनिमुनिकृत अष्टाध्यायी का पाठ पदच्छेद अर्थसहित ८ आठ महीने में, अथवा १ एक वर्ष में पढ़ाकर, धातुपाठ और १० दश लकारों के रूप सधवाना, तथा दश प्रक्रिया भी सधवानी । पुनः पाणिनिमुनिकृत लिङ्गानुशासन और उणादि गणपाठ तथा अष्टाध्यायीस्थ ण्वुल् और तृच् प्रत्ययाद्यन्त सुबन्तरूप ६ छः महीने के भीतर सधवा देवें । पुनः

वर्तमान होने से तृतीय संस्करण में वर्धित यह पाठ युक्त है ।

दूसरी वार अष्टाध्यायी पदार्थोक्ति समास शंकासमाधान उत्सर्ग अपवाद* अन्वयपूर्वक पढ़ावें। और संस्कृत भाषण का भी अभ्यास कराते जायें। आठ महीने के भीतर इतना पढ़ना-पढ़ाना चाहिये।

तत्पश्चात् पतञ्जलिमुनिकृत महाभाष्य, जिसमें वर्णोच्चारण-शिक्षा, अष्टाध्यायी, धातुपाठ, गणपाठ, उणादिगण, लिङ्गानुशासन इन ६ छः ग्रन्थों की व्याख्या यथावत् लिखी है डेढ़ वर्ष में अर्थात् १८ अठारह महीने में इसको पढ़ना-पढ़ाना। इस प्रकार शिक्षा और व्याकरणशास्त्र को ३ तीन वर्ष ५ पांच महीने वा नौ महीने अथवा ४ चार वर्ष के भीतर पूरा कर सब संस्कृत विद्या के मर्मस्थलों को समझने के योग्य होवे।

तत्पश्चात् यास्कमुनिकृत निघण्टु निरुक्त तथा कात्यायनादि मुनिकृत कोश[1] १॥ डेढ़ वर्ष के भीतर पढ़के अव्ययार्थ आप्तमुनिकृत[2] वाच्यवाचक सम्बन्धरूप †यौगिक योगरूढि और रूढि ३ तीन प्रकार के शब्दों के अर्थ यथावत् जानें। तत्पश्चात् पिङ्गलाचार्यकृत पिङ्गल-सूत्र छन्दोग्रन्थ भाष्यसहित ३ तीन महीने में पढ़, और ३ तीन महीने में श्लोकादिरचनविद्या को सीखे। पुनः यास्कमुनिकृत काव्यालङ्कार-सूत्र, वात्स्यायनमुनिकृत भाष्यसहित आकाङ्क्षा, योग्यता, आसत्ति और तात्पर्यार्थ अन्वयसहित पढ़के, इसीके साथ मनुस्मृति, विदुर-

*जिस सूत्र का अधिक विषय हो वह उत्सर्ग, और जो किसी सूत्र के बड़े विषय में से थोड़े विषय में प्रवृत्त हो, वह अपवाद कहाता है॥ द०स०

†यौगक—जो क्रिया के साथ सम्बन्ध रक्खे। जैसे पाचक याजकादि। योगरूढि—जैसे पङ्कजादि। रूढि—जैसे धन, वन इत्यादि॥ द० स०

१. कात्यायन कोश के वचन कोशग्रन्थों की टीकाओं में बहुधा उपलब्ध होते हैं। इनमें कुछ ऐसे भी उद्धरण हैं, जो इसे बुद्ध के उत्तरवर्ती काल का द्योतित करते हैं। कात्यायन कोश का एक सटीक हस्तलेख मद्रास राजकीय हस्तलेख पुस्तकालय में विद्यमान है। उसका अवलोकन होना चाहिए।

२. आपिशलिमुनिकृत अव्ययार्थ का एक उद्धरण भानुजिदीक्षितकृत अमरकोश १।१।६६ की टीका में उद्धृत किया गया है। एक अन्य उद्धरण अन्यत्र मिलता है। (द्र०—संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास, भाग १ पृष्ठ १४१, तृ० सं०)। 'आप्तमुनि' नाम अन्यत्र हमारे देखने में नहीं आया। क्या 'आपिशलिमुनि' का ही 'आप्तमुनि' पाठभ्रंश तो नहीं है?

नीति और किसी प्रकरण में के १० सर्ग वाल्मीकीय रामायण के, ये सब १ एक वर्ष के भीतर पढ़ें और पढ़ावें। तथा १ एक वर्ष में सूर्य-सिद्धान्तादि में से कोई १ एक सिद्धांत से गणितविद्या, जिसमें बीज-गणित रेखागणित और पाटीगणित—जिसको अङ्कगणित भी कहते हैं—पढ़ें और पढ़ावें। निघण्टु से लेके ज्योतिष पर्यन्त वेदाङ्गों को चार वर्ष के भीतर पढ़ें।

तत्पश्चात् जैमिनिमुनिकृत सूत्र पूर्वमीमांसा को व्यासमुनिकृत व्याख्यासहित, कणादमुनिकृत वैशेषिकसूत्ररूप शास्त्र को गोतममुनि-कृत[1] प्रशस्तपादभाष्यसहित, वात्स्यायनमुनिकृत भाष्यसहित गोतम-मुनिकृत सूत्ररूप न्यायशास्त्र, व्यासमुनिकृत भाष्यसहित पतञ्जलि-मुनिकृत योगसूत्र योगशास्त्र, भागुरिमुनिकृत भाष्ययुक्त कपिलाचार्य्य-कृत सूत्रस्वरूप सांख्यशास्त्र, जैमिनि वा बौद्धायन[2] आदि मुनिकृत व्याख्यासहित व्यासमुनिकृत शारीरकसूत्र, तथा ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य और बृहदारयण्क १० दश उपनिषद्, व्यासादिमुनिकृत व्याख्यासहित वेदान्तशास्त्र, इन ६ छः शास्त्रों को २ दो वर्ष के भीतर पढ़ लेवें।

तत्पश्चात् बृह्वृच ऐतरेय ऋग्वेद का ब्राह्मण, आश्वलायनकृत श्रौत तथा गृह्यसूत्र§ और कल्पसूत्र[3] पद-क्रम[4] और व्याकरणादि के

---

§जो ब्राह्मण वा सूत्र वेदविरुद्ध हिंसापरक हो, उसका प्रमाण न करना।। द.स.

---

१. यही पाठ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में है। द्र०—पृष्ठ ३१५, पं० २ (रा. ला. क. ट्रस्ट सं०)। २. 'बौधायन' पाठ होना चाहिए। बौधायन-मुनिकृत वेदान्तसूत्र-भाष्य के उद्धरण कई ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं।

३. कल्पसूत्र के तीन अवयव होते हैं—श्रौत, गृह्य तथा धर्मसूत्र। दो का पूर्व निर्देश हो चुका। अतः यहां धर्मसूत्र अभिप्रेत है।

४. ऋषि दयानन्द ने वेद के संहितापाठ के अध्ययन के साथ-साथ पदपाठ और क्रमपाठ के अध्ययन का भी विधान किया है। क्रमपाठ ही सम्पूर्ण उन आठ विकृतियों का मूल है, जिनको कण्ठस्थ करके प्राचीन वैदिक ब्राह्मणों ने वेद का इतना प्रामाणिक पाठ सुरक्षित रखा, जिसमें इतने भारी सुदीर्घकाल में भी एक अक्षर, मात्रा वा स्वर का परिवर्तन नहीं हो पाया। पद-क्रम के अध्ययन के आदेश से अष्ट विकृति सहित संहितापाठ का आदेश ऋषि दयानन्द ने दिया है, ऐसा जानना चाहिए।

सहाय से छन्द, स्वर, पदार्थ, अन्वय, भावार्थसहित ऋग्वेद का पठन ३ तीन वर्ष के भीतर करे। इसी प्रकार यजुर्वेद को शतपथब्राह्मण और पदादि के सहित २ दो वर्ष, तथा सामब्राह्मण और पदादि तथा गान सहित सामवेद को २ दो वर्ष, तथा गोपथ ब्राह्मण और पदादि के सहित अथर्ववेद [को] २ दो वर्ष के भीतर पढें और पढावें। सब मिलके ९ नौ वर्षों के भीतर ४ चारों वेदों को पढ़ना और पढ़ाना चाहिए।

पुनः ऋग्वेद का उपवेद आयुर्वेद, जिसको वैद्यकशास्त्र कहते हैं, जिसमें धन्वन्तरिजीकृत सुश्रुत और निघण्टु, तथा पतञ्जलि मुनिकृत[1] चरक आदि आर्षग्रन्थ हैं, इनको ३ तीन वर्ष के भीतर पढें। जैसे सुश्रुत में शस्त्र लिखे हैं, बनाकर शरीर के सब अवयवों को चीर के देखें, तथा जो उस में शारीरकादि[2] विद्या लिखी हैं, साक्षात् करें।

तत्पश्चात् यजुर्वेद का उपवेद धनुर्वेद, जिसको शस्त्रास्त्रविद्या कहते हैं, जिसमें अङ्गिरा आदि ऋषिकृत ग्रन्थ हैं, जो इस समय बहुधा नहीं मिलते, ३ तीन वर्ष में पढें और पढावें।

पुनः सामवेद का उपवेद गान्धर्ववेद, जिसमें नारदसंहितादि ग्रन्थ हैं, उनको पढ़के स्वर, राग, रागिणी, समय, वादित्र, ग्राम, ताल, मूर्च्छना आदि का अभ्यास यथावत् ३ तीन वर्ष के भीतर करें।

तत्पश्चात् अथर्ववेद का उपवेद अर्थवेद, जिसको शिल्पशास्त्र कहते हैं, जिसमें विश्वकर्मा, त्वष्टा और मयकृत संहिता ग्रन्थ हैं, उनको ६ छः वर्ष के भीतर पढ़के विमान तार भूगर्भादि विद्याओं को साक्षात् करें।

ये शिक्षा से लेके आयुर्वेद तक १४ चौदह विद्याओं को ३१ इकत्तीस वर्षों में पढ़के महाविद्वान् होकर अपने और सब जगत् के कल्याण और उन्नति करने में सदा प्रयत्न किया करें॥

इति वेदारम्भसंस्कारविधिः समाप्तः॥



---

१. 'ऋषिकृत' तृ० सं०।

२. 'शारीरिक' ऐसा उत्तरवर्ती संस्करणों का पाठ अशुद्ध है। वेदान्तसूत्र का दूसरा नाम भी 'शारीरक' सूत्र है, न कि शारीरिक सूत्र।

अथ समावर्त्तनसंस्कारविधिं वक्ष्यामः

समावर्त्तन संस्कार उसको कहते हैं कि जो ब्रह्मचर्य्यव्रत, साङ्गोपाङ्ग वेदविद्या, उत्तमशिक्षा और पदार्थविज्ञान को पूर्ण रीति से प्राप्त होके विवाह विधान पूर्वक गृहाश्रम को ग्रहण करने के लिये विद्यालय को छोड़के घर की ओर आना। इसमें प्रमाण—

वेदसमाप्तिं वाचयीत[1]।

कल्याणैः सह सम्प्रयोगः।[2]

स्नातकायोपस्थिताय। राज्ञे च. आचार्यश्वशुरपितृव्यमातुलानां च। दधनि मध्वानीय। सर्पिर्वा मध्वलाभे। विष्टरः पाद्यमर्घ्यमाचमनीयं मधुपर्कः।।[3] यह आश्वलायनगृह्यसूत्र।।

तथा पारस्करगृह्यसूत्र—

वेद ९ समाप्य स्नायाद्। ब्रह्मचर्यं वाष्टाचत्वारिंशकम्[4]।

त्रय एव स्नातका भवन्ति—विद्यास्नातको व्रतस्नातको विद्याव्रतस्नातकश्चेति।।[5]

अर्थः—जब वेदों की समाप्ति हो, तब समावर्त्तनसंस्कार करे। सदा पुण्यात्मा पुरुषों के सब व्यवहारों में साझा रक्खे। राजा आचार्य श्वशुर चाचा और मामा आदि का अपूर्वागमन जब हो, और स्नातक अर्थात् जब विद्या और ब्रह्मचर्य पूरण करके ब्रह्मचारी घर को आवे, तब प्रथम पाद्यम्=पग धोने का जल, अर्घ्यम्=मुखप्रक्षालन के लिये जल, और आचमन के लिए जल देके शुभासन पर बैठा. दही में मधु अथवा सहत न मिले तो घी मिलाके, एक अच्छे पात्र में धर इनको मधुपर्क देना होता है। और विद्यास्नातक, व्रतस्नातक तथा

---

१. आश्व० गृह्य १।२२।१६।। २. आश्व० गृह्य १।२३।२०।।
३. आश्व० गृह्य १।२४।२—७।। ४. पार० गृह्य २।६।१—२।।
५. पार० गृह्य २।५।३२।। पार० में 'एव' और 'च' पद नहीं हैं। हो सकता है ऋषि दयानन्द का पाठ कात्यायनगृह्यानुसारी हो।

विद्याव्रतस्नातक ये तीन* प्रकार के स्नातक होते हैं। इस कारण वेद की समाप्ति और ४८ अड़तालीस वर्ष का ब्रह्मचर्य समाप्त करके ब्रह्मचारी विद्याव्रत स्नान करे ॥[1]

तानि कल्पद् ब्रह्मचारी सलिलस्य पृष्ठे
तपोऽतिष्ठत् तप्यमानः समुद्रे ।
स स्नातो बभ्रुः पिङ्गलः पृथिव्यां बहु रोचते ॥

अथर्व० कां० ११ । प्रपा० २४ । व० १६ । मं० २६ ॥

अर्थः—जो ब्रह्मचारी समुद्र के समान गम्भीर, बड़े उत्तम व्रत ब्रह्मचर्य में निवास कर महातप को करता हुआ वेदपठन, वीर्य्यनिग्रह, आचार्य के प्रियाचरणादि कर्मों को पूरा कर पश्चात् पृ० १३५-१३६ में लिखे अनुसार स्नानविधि करके पूर्ण विद्याओं को धरता, सुन्दर वर्णयुक्त होके पृथिवी में अनेक शुभ गुण कर्म स्वभाव से प्रकाशमान होता है, वही धन्यवाद के योग्य है ॥

इसका समयः—पृष्ठ १२२-१२३ तक में लिखे प्रमाणे जानना। परन्तु जब विद्या, हस्तक्रिया, ब्रह्मचर्यव्रत भी पूरा होवे, तभी गृहाश्रम की इच्छा स्त्री और पुरुष करें। विवाह के स्थान दो हैं—एक आचार्य का घर, दूसरा अपना घर। दोनों ठिकानों में से किसी एक

---

*जो केवल विद्या को समाप्त तथा ब्रह्मचर्य व्रत को न समाप्त करके स्नान करता है वह विद्यास्नातक । जो ब्रह्मचर्य व्रत को समाप्त तथा विद्या को न समाप्त करके स्नान करता है वह व्रतस्नातक । और जो विद्या तथा ब्रह्मचर्यव्रत दोनों को समाप्त करके स्नान करता है वह विद्याव्रतस्नातक कहाता है ॥ द० स०

---

१. इससे आगे १८ वें संस्करण से निम्न पाठ अधिक छपा मिलता है—

तं प्रतीतं स्वधर्मेण धर्मदायहरं पितुः ।
स्रग्विणं तल्प आसीनमर्हयेत् प्रथमं गवा ॥३॥ मनु० ३।३॥

अर्थः—जो विद्वान् मातापिता का पुत्र शिष्य ब्रह्मचारी हो, वह स्वधर्म से यथावत् युक्त पितृस्थानी उस आचार्य को उत्तम आसन पर बैठा पुष्पमाला पहनाकर प्रथम गोदान देवे । यथाशक्ति वस्त्र धनादि भी देकर सत्कार करे ॥३॥

ठिकाने आगे विवाह में लिखे प्रमाण सब विधि करे। इस संस्कार का विधि पूरा करके पश्चात् विवाह करे।

विधिः—जो शुभ दिन समावर्त्तन का नियत करे, उस दिन आचार्य्य के घर में पृ० १९-२० में लिखे यज्ञकुण्ड आदि बनाके सब शाकल्य और सामग्री संस्कारदिन से पूर्व दिन में जोड़ रक्खे। और स्थालीपाक* बनाके, तथा घृतादि और पात्रादि यज्ञशाला में वेदी के समीप रक्खे। पुनः पृ० २८-२९ में लिखे प्रमाणे यथावत् ४ चारों दिशाओं में आसन बिछा बैठ पृ० ७ सात से पृ० १८ तक में **ईश्वरोपासना, स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण** करें। जितने वहां पुरुष आये हों, वे भी एकाग्रचित्त होके ईश्वर के ध्यान में मग्न होवें। तत्पश्चात् पृष्ठ ३०-३१ में लिखे० **अग्न्याधान समिदाधान** करके पृ० ३२ में लिखे० वेदी के चारों ओर उदकसेचन करके, आसन पर पूर्वाभिमुख आचार्य बैठके पृ० ३३ में लिखे प्रमाणे **आघारावाज्यभागाहुति**[1] ४ चार, और पृ० ३४में लिखे० **व्याहृति**[2] **आहुति**४चार,और पृ० ३६-३७में लिखे० **अष्टाज्याहुति**[3] ८ आठ, और पृ० ३५ में लिखे प्रमाणे **स्विष्टकृत्**[4] **आहुति** १ एक, और पृ० ३५ में० **प्राजापत्याहुति**[5] १एक,ये सब मिलके १८अठारह आज्याहुति देनी। तत्पश्चात् ब्रह्मचारी पृ० १०८ में लिखे०(**ओम् अग्ने सुश्रवः०**) इस मन्त्र से कुण्ड का अग्निकुण्ड के मध्य में इकट्ठा करे। तत्पश्चात् पृ० १०८ में लिखे प्रमाणे (**ओम् अग्नये समिध०**) इस मन्त्र से कुण्ड में ३ समिधा होमकर, पृ० १०९ में लिखे प्रमाणे (**ओं तनूपा०**) इत्यादि ७ सात मन्त्रों से दक्षिण हस्ताञ्जलि आगी पर थोड़ी-सी तपा उस जल से मुखस्पर्श, और तत्पश्चात् पृ० १०९ में लिखे प्रमाणे (**ओं वाक् च म०**) इत्यादि मन्त्रों से उक्त प्रमाणे अङ्गस्पर्श करे। पुन सुगन्धादि औषधयुक्त जल से भरे हुए ८ आठ घड़े वेदी के उत्तर भाग में जो पूर्व से रक्खे हुए हों, उन घड़ों में से—

---

*जो कि पूर्व पृष्ठ २०-२१ में लिखे प्रमाणे भात आदि बनाकर रखना। द० स०

---

१. 'अग्नये स्वाहा', आदि ४ मन्त्रों से।
२. 'भूरग्नये स्वाहा' आदि ४ मन्त्रों से।
३. 'त्वं नो अग्ने०' आदि ८ मन्त्रों से।
४. 'यदस्य कर्मणो०' मन्त्र से। ५. 'प्रजापतये स्वाहा' मन्त्र से।

ओं ये अप्स्वन्तरग्नयः प्रविष्टा गोह्य उपगोह्यो मयूषो मनोहास्खलो विरुजस्तनूदुषुरिन्द्रियहा तान् विजहामि यो रोचनस्तमिह गृह्णामि ॥[1]

इस मन्त्र को पढ़, एक घड़े को ग्रहण करके, उस घड़े में से लेके—

ओं तेन मामभिषिञ्चामि श्रियै यशसे ब्रह्मणे ब्रह्मवर्चसाय ॥[2]

इस मन्त्र को बोलके स्नान करना। तत्पश्चात् उपरिकथित (**ओं ये अप्स्वन्तर०**) इस मन्त्र को बोलके दूसरे घड़े को ले, उसमें से लोटे में जल लेके—

ओं येन श्रियमकृणुतां येनावमृशताᳬं सुराम् ।
येनाक्ष्यावभ्यषिञ्चतां यद्वां तदश्विना यशः ॥[3]

इस मन्त्र को बोलके स्नान करना।

तत्पश्चात् पूर्ववत् ऊपर के (**ओं ये अप्स्वन्तर०**) इसी मन्त्र का पाठ बोलके वेदी के उत्तर में रक्खे घड़ों में से ३ तीन घड़ों को लेके पृ० १०२ में लिखे हुए (**आपो हि ष्ठा०**) इन ३ तीन मन्त्रों को बोलके, उन घड़ों के जल से स्नान करना। तत्पश्चात् ८ आठ घड़ों में से रहे हुए ३ घड़ों को लेके (**ओम् आपो हि०**) इन्हीं ३ तीन मन्त्रों को बोलके स्नान करे। पुनः—

ओम् उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमᳬं श्रथाय ।
अथा वयमादित्य व्रते तवानागसोऽअदितये स्याम ॥[4]

इस मन्त्र को बोलके ब्रह्मचारी अपनी मेखला और दण्ड को छोड़े। तत्पश्चात् वह स्नातक ब्रह्मचारी सूर्य के सम्मुख खड़ा रहकर—

---

१. पार० गृह्य २।६।१०॥ २. पार० गृह्य २।६।११॥

३. पार० गृह्य २।६।१२॥ संस्करण २-१७ तक 'सुराम्' के स्थान पर 'सुरान्' पाठ छपता रहा।

४. यजुः १२।१२॥ १०वें संस्करण में याजुष पाठ पर ऋग्वेद का १।२४।१५ पता दे दिया गया। अगले संस्करणों में याजुष पाठ के ᳬंकार को अनुस्वार में बदल दिया गया।

ओम् उद्यन् भ्राजभृष्णुरिन्द्रो मरुद्भिरस्थात् प्रातर्यावभिरस्थाद् दशसनिरसि दशसनिं मा कुर्वाविदन् मा गमय। उद्यन् भ्राजभृष्णुरिन्द्रो मरुद्भिरस्थाद् दिवा यावभिरस्थाच्छतसनिरसि शतसनिं मा कुर्वाविदन् मा गमय। उद्यन् भ्राजभृष्णुरिन्द्रो मरुद्भिरस्थात् सायं यावभिरस्थात् सहस्रसनिरसि सहस्रसनिं मा कुर्वाविदन् मा गमय ॥[1]

इम मन्त्र से परमात्मा का उपस्थान स्तुति करके, तत्पश्चात् दही वा तिल प्राशन करके, जटा लोम और नख वपन अर्थात् छेदन कराके—

ओम् अन्नाद्याय व्यूहध्वꣳ सोमो राजायमागमत्।
स मे मुखं प्रमार्क्ष्यते यशसा च भगेन च ॥[2]

इस मन्त्र को बोलके ब्रह्मचारी उदुम्बर की लकड़ी से दन्तधावन करे। तत्पश्चात् सुगन्धि द्रव्य शरीर पर मलके शुद्ध जल से स्नान कर, शरीर को पोंछ, अधोवस्त्र अर्थात् धोती वा पीताम्बर धारण करके, सुगन्धयुक्त चन्दनादि का अनुलेपन करे। तत्पश्चात् चक्षु, मुख और नासिका के छिद्रों का—

ओं प्राणापानौ मे तर्पय चक्षुर्मे तर्पय श्रोत्रं मे तर्पय ॥[3]

इस मन्त्र से स्पर्श करके हाथ में जल ले, अपसव्य और दक्षिणमुख होके—

ओं पितरः शुन्धध्वम् ॥[4]

इस मन्त्र से जल भूमि पर छोड़के, सव्य होके—

ओं सुचक्षा अहमक्षीभ्यां भूयासꣳ सुवर्चा मुखेन।
सुश्रुत् कर्णाभ्यां भूयासम् ॥[5]

इस मन्त्र का जप करके—

---

१. पार० गृह्य २।६।१६
२. पार० गृह्य २।६।१७॥
३. पार० गृह्य २।६।१८॥
४. पार० गृह्य २।६।१९॥
५. पार० गृह्य २।६।१९॥

ओं परिधास्यै यशोधास्यै दीर्घायुत्वाय जरदष्टिरस्मि ।
शतं च जीवामि शरदः पुरूची रायस्पोषमभिसंव्ययिष्ये ॥[1]

इस मन्त्र से सुन्दर अति श्रेष्ठ वस्त्र धारण करके—

ओं यशसा मा द्यावापृथिवी यशसेन्द्राबृहस्पती ।
यशो भगश्च मा विदद् यशो मा प्रतिपद्यताम् ॥[2]

इस मन्त्र से उत्तम उपवस्त्र धारण करके,

ओं या आहरज्जमदग्निः श्रद्धायै कामायेन्द्रियाय ।
ता अहं प्रतिगृह्णामि यशसा च भगेन च ॥[3]

इस मन्त्र से सुगन्धित पुष्पों की माला लेके,

ओं यद्यशोऽप्सरसामिन्द्रश्चकार विपुलं पृथु ।
तेन सङ्ग्रथिताः सुमनस आबध्नामि यशो मयि ॥[4]

इस मन्त्र से धारण करनी। पुनः शिरोवेष्टन अर्थात् पगड़ी दुपट्टा और टोपी आदि अथवा मुकुट हाथ में लेके पृष्ठ १०३ में लिखे प्रमाणे "युवा सुवासाः०" इस मन्त्र से धारण करे। उसके पश्चात् अलंकार लेके—

---

१. पार० गृह्य २।६।२०॥

२. तु०—पार० गृह्य २।६।२१॥ प्रथम संस्करण (पृ० ७६) और द्वि० सं० (पृष्ठ ६५) में 'मा विदद्' पाठ है। ब्लूमफील्ड ने भी वैदिक कन्कार्डन्स (पृष्ठ ७६६) में 'यशो भगश्च मा विदत्' पाठ ही उद्धृत किया है, परन्तु विवाहसंस्कार में (द्वि० सं० पृष्ठ ११३ में) 'मा विदषद्' पाठ छपा है। अतः वह भ्रष्ट पाठ है, यह स्पष्ट है। मानव गृह्य १।६।२७ में 'मा रिषद्' पाठ है। पारस्कर के बम्बई संस्करणों में 'मा विन्दद्' पाठ है, और टीकाकारों ने भी यही पाठ माना है। अरण्य संहिता ३।१० में 'विन्दतु' पाठ है। हमारे विचार में यहां 'मा विदद्' के स्थान में 'मा विन्दद्' पाठ होना चाहिये।

३. पार० गृह्य २।६।२३ में 'श्रद्धायै मेधायै कामायेन्द्रियाय' पाठ है, परन्तु ब्लूमफील्ड ने वैदिक कन्कार्डन्स (पृष्ठ ६३७) में पारस्कर का 'श्रद्धायै कामायेन्द्रियाय' पाठ ही उद्धृत किया है।

४. पार० गृह्य २।६।२४॥

ओम् अलङ्करणमसि भूयोऽलङ्करणं भूयात् ॥[1]

इस मन्त्र से धारण करे। और—

ओं वृत्रस्यासि कनीनकश्चक्षुर्दा असि चक्षुर्मे देहि ॥[2]

इस मन्त्र से आंख में अंजन करना। तत्पश्चात्—

ओं रोचिष्णुरसि ॥[3]

इस मन्त्र से दर्पण में मुख अवलोकन करे। तत्पश्चात्—

ओं बृहस्पतेश्छदिरसि पाप्मनो मामन्तर्धेहि तेजसो यशसो माऽन्तर्धेहि ॥[4]

इस मन्त्र से छत्र धारण करे। पुनः—

ओं प्रतिष्ठे स्थो विश्वतो मा पातम् ॥[5]

इस मन्त्र से उपानह् = पादवेष्टन = पगरखा और जिसको जोड़ा भी कहते हैं, धारण करे। तत्पश्चात्—

ओं विश्वाभ्यो मा नाष्ट्राभ्यस्परिपाहि सर्वतः ॥[6]

इस मन्त्र से वांस आदि की एक सुन्दर लकड़ी हाथ में धारण करनी।

तत्पश्चात् ब्रह्मचारी के माता-पिता आदि, जब वह आचार्य-कुल से अपना पुत्र घर को आवे, उसको बड़े मान्य प्रतिष्ठा उत्सव उत्साह से अपने घर पर ले आवें। घर पर लाके उनके माता-पिता सम्बन्धी बन्धु आदि ब्रह्मचारी का सत्कार पृ० १३३ में लिखे प्रमाणे करें।

पुनः उस संस्कार में आये हुए आचार्य आदि को उत्तम अन्न-पानादि से सत्कारपूर्वक भोजन कराके, और वह ब्रह्मचारी और उसके मातापितादि आचार्य को उत्तम आसन पर बैठा, पूर्वोक्त प्रकार मधुपर्क कर, सुन्दर पुष्पमाला, वस्त्र, गोदान, धन आदि की दक्षिणा

---

१. पार० गृह्य २।६।२६॥ २. पार० गृह्य २।६।२७; यजु० ४।३॥
३. पार० गृह्य २।६।२८॥ ४. पार० गृह्य २।६।२९।
५. पार० गृह्य २।६।३०॥ ६. पार० गृह्य २।६।३१।

यथाशक्ति देके, सब के सामने आचार्य के जो कि उत्तम गुण हों, उनकी प्रशंसा कर, और विद्यादान की कृतज्ञता सबको सुनावे –

'सुनो भद्रजनो ! इन महाशय आचार्य नें मेरे पर बड़ा उपकार किया है। जिसने मुझको पशुता से छुड़ा उत्तम विद्वान् बनाया है, उसका प्रत्युपकार मैं कुछ भी नहीं कर सकता। इस के बदले में अपने आचार्य को अनेक धन्यवाद दे, नमस्कार कर प्रार्थना करता हूं कि जैसे आपने मुझ को उत्तम शिक्षा और विद्यादान देके कृत-कृत्य किया, उसी प्रकार अन्य विद्यार्थियों को भी कृतकृत्य करेंगे। और जैसे आपने मुझको विद्या देके आनन्दित किया है, वैसे मैं भी अन्य विद्यार्थियों को कृतकृत्य और आनन्दित करता रहूंगा, और आपके किये उपकार को कभी न भूलूंगा। सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर आप मुझ और सब पढ़ने-पढ़ानेहारे तथा सब संसार पर अपनी कृपा-दृष्टि से सबको सभ्य, विद्वान्, शरीर और आत्मा के बल से युक्त और परोपकारादि शुभ कर्मों की सिद्धि करने-कराने में चिरायु स्वस्थ पुरुषार्थी उत्साही करे, कि जिससे इस परमात्मा की सृष्टि में उसके गुण कर्म स्वभाव के अनुकुल अपने गुण कर्म स्वभावों को करके धर्मार्थ काम और मोक्ष की सिद्धि कर-कराके सदा आनन्द में रहें ॥'

इति समावर्त्तनसंस्कारविधिः समाप्तः ॥



अथ विवाहसंस्कारविधिं वक्ष्यामः

विवाह उसको कहते हैं कि जो पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत विद्या बल को प्राप्त, तथा सब प्रकार से शुभ गुण कर्म स्वभावों में तुल्य, परस्पर प्रीतियुक्त होके निम्नलिखित प्रमाणे सन्तानोत्पत्ति और अपने-अपने वर्णाश्रम के अनुकूल उत्तम कर्म करने के लिये स्त्री और पुरुष का सम्बन्ध होता है। इसमें प्रमाण—

उदगयन आपूर्यमाणपक्षे पुण्ये नक्षत्रे* चौलकर्मोपनयनगोदान-विवाहाः ॥१॥ सार्वकालमेके विवाहम् ॥२॥[1]

यह आश्वलायन गृह्यसूत्र[1] ॥

और—

आवसथ्याधानं दारकाले ॥३॥[2] इत्यादि पारस्कर[2] ॥

और—

पुण्ये नक्षत्रे दारान् कुर्वीत ॥४॥ लक्षणप्रशस्तान् कुशलेन ॥५॥

इत्यादि गोभिलीय गृह्यसूत्र[3]॥

और इसी प्रकार शौनक गृह्यसूत्र में भी है।

अर्थ—उत्तरायण शुक्लपक्ष अच्छे दिन अर्थात् जिस दिन प्रसन्नता हो, उस दिन विवाह करना चाहिए ॥१॥ और कितने ही आचार्यों का ऐसा मत है कि सब काल में विवाह करना चाहिए॥२॥ जिस अग्नि का स्थापन विवाह में होता है, उसका 'आवसथ्य' नाम है ॥३॥ प्रसन्नता के दिन स्त्री का पाणिग्रहण, जो कि स्त्री सर्वथा शुभ गुणादि से उत्तम हो, करना चाहिये ॥४॥

इसका समयः—पृष्ठ ११९—१२३ तक में जानना चाहिये। वधू और वर का आयु, कुल, वास्तव्य स्थान, शरीर और स्वभाव की

---

*यह नक्षत्रादि का विचार कल्पनायुक्त है, इससे प्रमाण नहीं। द० स०

---

१. तुलना—आश्व० गृह्य १।४।१,२॥ गृह्यसूत्र में 'पुण्ये' के स्थान में 'कल्याणे' पाठ है।

२. पार० गृह्य १।२।१॥

३. गोभिल गृह्य २।१।१,२॥

परीक्षा अवश्य करें। अर्थात् दोनों सज्ञान और विवाह की इच्छा करनेवाले हों। स्त्री की आयु से वर की आयु न्यून से न्यून ड्योढ़ी और अधिक से अधिक दूनी होवे। परस्पर कुल की परीक्षा भी करनी चाहिये। इसमें प्रमाण—

वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम् ।
अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममाविशेत्[1] ।।१।।

गुरुणानुमतः स्नात्वा समावृत्तो यथाविधि ।
उद्वहेत द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम् ।।२।।

असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः ।
सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने ।।३।।

महान्त्यपि समृद्धानि गोजाविधनधान्यतः ।
स्त्रीसम्बन्धे दशैतानि कुलानि परिवर्जयेत् ।।४।।

हीनक्रियं निष्पुरुषं निश्छन्दो रोमशार्शसम् ।
क्षय्यामयाव्यपस्मारिश्वित्रिकुष्ठिकुलानि च ।।५।।

नोद्वहेत् कपिलां कन्यां नाधिकाङ्गीं न रोगिणीम् ।
नालोमिकां नातिलोमां न वाचाटां न पिङ्गलाम् ।।६।।

नर्क्षवृक्षनदीनाम्नीं नान्त्यपर्वतनामिकाम् ।
न पक्ष्यहिप्रेष्यनाम्नीं न च भीषणनामिकाम् ।।७।।

अव्यङ्गाङ्गीं सौम्यनाम्नीं हंसवारणगामिनीम् ।
तनुलोमकेशदशनां मृद्वङ्गीमुद्वहेत् स्त्रियम् ।।८।।

ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथासुरः ।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः ।।९।।

आच्छाद्य चार्चयित्वा च श्रुतिशीलवते स्वयम् ।
आहूय दानं कन्याया ब्राह्मो धर्मः प्रकीर्तितः ।।१०।।

यज्ञे तु वितते सम्यगृत्विजे कर्म कुर्वते ।
अलङ्कृत्य सुतादानं दैवं धर्मं प्रचक्षते ।।११।।

---

१. मनु० के संवत् १९२६ के काशी संस्करण में 'आविशेत्' पाठ ही है। सत्यार्थप्रकाश समु० ४ में भी यही पाठ उद्धृत किया है।

एकं गोमिथुनं द्वे वा वरादादाय धर्मतः ।
कन्याप्रदानं विधिवदार्षो धर्मः स उच्यते ॥१२॥

सह नौ[1] चरतां धर्ममिति वाचानुभाष्य च[2] ।
कन्याप्रदानमभ्यर्च्य प्राजापत्यो विधिः स्मृतः ॥१३॥

ज्ञातिभ्यो द्रविणं दत्त्वा कन्यायै चैव शक्तितः ।
कन्याप्रदानं विधिवद्[3] आसुरो धर्म उच्यते ॥१४॥

इच्छयाऽन्योन्यसंयोगः कन्यायाश्च वरस्य च ।
गान्धर्वः स तु विज्ञेयो मैथुन्यः कामसम्भवः ॥१५॥

हत्वा छित्त्वा च भित्त्वा च क्रोशन्तीं रुदतीं गृहात् ।
प्रसह्य कन्याहरणं राक्षसो विधिरुच्यते ॥१६॥

सुप्तां मत्तां प्रमत्तां वा रहो यत्रोपगच्छति ।
स पापिष्ठो विवाहानां पैशाचश्चाष्टमोऽधमः ॥१७॥

ब्राह्मादिषु विवाहेषु चतुर्ष्वेवानुपूर्वशः ।
ब्रह्मवर्चस्विनः पुत्रा जायन्ते शिष्टसंमताः ॥१८॥

रूपसत्त्वगुणोपेता धनवन्तो यशस्विनः ।
पर्याप्तभोगा धर्मिष्ठा जीवन्ति च शतं समाः ॥१९॥

इतरेषु तु शिष्टेषु नृशंसानृतवादिनः ।
जायन्ते दुर्विवाहेषु ब्रह्मधर्मद्विषः सुताः ॥२०॥

अनिन्दितैः स्त्रीविवाहैरनिन्द्या भवति प्रजा ।
निन्दितैर्निन्दिता नृणां तस्मान्निन्द्यान् विवर्जयेद् ॥२१॥[4]

अर्थः—ब्रह्मचर्य से ४ चार, ३ तीन, २ दो अथवा १ एक वेद को यथावत् पढ़, अखण्डित ब्रह्मचर्य का पालन करके गृहाश्रम का धारण करे ॥१॥

यथावत् उत्तम रीति से ब्रह्मचर्य और विद्या को ग्रहण कर,

---

१. मनु० के संवत् १९२० के काशी संस्करण में 'सह नौ' ही पाठ है। अन्य संस्करणों में 'सहोभौ' पाठ मिलता है।

२. मनु० के संवत् १९२६ के काशी संस्करण में 'च' पाठ ही है।

३. मनु० के संवत् १९२६ के काशी संस्करण में यही पाठ है।

४. मनु० ३।२,४–१०, २१, २७–३४,३९–४२॥

गुरु की आज्ञा से स्नान करके ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य अपने वर्ण की उत्तम लक्षणयुक्त स्त्री से विवाह करे ।।२।।

जो स्त्री माता की छः पीढ़ी और पिता के गोत्र की न हो, वही द्विजों के लिए विवाह करने में उत्तम है ।।३।।

विवाह में नीचे लिखे हुए १० दश कुल, चाहे वे गाय आदि पशु धन और धान्य से कितने ही बड़े हों, उन कुलों की कन्या के साथ विवाह न करे ।।४।।

वे १०दश कुल ये हैं— १एक—जिस कुल में उत्तम क्रिया न हो। २ दूसरा—जिस कुल में कोई भी उत्तम पुरुष न हो। ३ तीसरा—जिस कुल में कोई विद्वान् न हो। ४ चौथा—जिस कुल में शरीर के ऊपर बड़े-बड़े लोम हों। ५ पांचवां—जिस कुल में बवासीर [हो]। ६ छठा—जिस कुल में क्षयी (राजयक्ष्मा) रोग हो। ७ सातवां—जिस कुल में अग्निमन्दता से आमाशय रोग हो। ८ आठवां—जिस कुल में मृगी रोग हो। ९ नववां—जिस कुल में श्वेतकुष्ठ [हो]। और १० दसवां—जिस कुल में गलितकुष्ठ आदि रोग हों। उन कुलों की कन्या अथवा उन कुलों के पुरुषों से विवाह कभी न करे ।।५।।

पीले वर्णवाली, अधिक अङ्गवाली जैसी छंगुली आदि, रोगवती, जिसके शरीर पर कुछ भी लोम न हों, और जिसके शरीर पर बड़े-बड़े लोम हों, व्यर्थ अधिक बोलनेहारी, और जिसके पीले बिल्ली के सदृश नेत्र हों ।। ६ ।।

तथा जिस कन्या का (ऋक्ष) नक्षत्र पर नाम अर्थात् रेवती रोहिणी इत्यादि[1], (नदी) जिसका गङ्गा यमुना इत्यादि. (पर्वत) जिसका विन्ध्याचला इत्यादि, (पक्षी) पक्षी पर अर्थात् कोकिला हंसा इत्यादि, (अहि) अर्थात् उरगा भोगिनी इत्यादि, (प्रेष्य) दासी इत्यादि, और जिस कन्या का (भीषण) कालिका, चण्डिका इत्यादि नाम हो, उससे विवाह न करे ।। ७ ।।

किन्तु जिसके सुन्दर अङ्ग, उत्तम नाम, हंस और हस्तिनी के सदृश चालवाली, जिसके सूक्ष्म लोम, सूक्ष्म केश और सूक्ष्म दांत हों जिसके सब अङ्ग कोमल हों, उस स्त्री से विवाह करे ।। ८ ।।

---

१. यहां श्लोकान्तर्गत 'वृक्ष' तथा 'अन्त्य' पद की व्याख्या त्रुटित है। हस्तलेख में भी नहीं है। इसकी व्याख्या पूर्व पृष्ठ ८१ के नीचे भी देखें।

ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच, ये विवाह आठ प्रकार के होते हैं ॥ ९ ॥

ब्राह्म—कन्या के योग्य सुशील विद्वान् पुरुष का सत्कार करके, कन्या को वस्त्रादि से अलंकृत करके, उत्तम पुरुष को बुला अर्थात् जिसको कन्या ने प्रसन्न[1] भी किया हो, उसको कन्या देना, वह 'ब्राह्म' विवाह कहाता है ॥ १० ॥

[२ दूसरा] विस्तृत यज्ञ में बड़े-बड़े विद्वानों को वरण[2] कर, उसमें कर्म करनेवाले विद्वान् को वस्त्र आभूषण आदि से कन्या को सुशोभित करके देना, वह 'दैव' विवाह है ॥ ११ ॥

३ तीसरा—१ एक गाय बैल का जोड़ा अथवा २ दो जोड़े* वर से लेके धर्मपूर्वक कन्यादान करना, वह 'आर्ष' विवाह [है] ॥१२॥

और ४ चौथा—कन्या और वर को यज्ञशाला में विधि करके सब के सामने तुम दोनों मिलके गृहाश्रम के कर्मों को यथावत् करो, ऐसा कहकर दोनों की प्रसन्नतापूर्वक पाणिग्रहण होना, वह 'प्राजापत्य' विवाह कहाता है। ये चार विवाह उत्तम हैं ॥ १३ ॥

और ५ पांचवां—वर की जातिवालों और कन्या को यथाशक्ति धन देकर होम आदि विधि कर कन्या देना, 'आसुर' विवाह कहाता है ॥ १४ ॥

६ छठा—वर और कन्या की इच्छा से दोनों का संयोग होना, और अपने मन में मान लेना कि हम दोनों स्त्री-पुरुष हैं, यह काम से हुआ 'गान्धर्व' विवाह कहाता है ॥ १५ ॥

और ७ सातवां—हनन-छेदन अर्थात् कन्या के रोकनेवालों का विदारण कर क्रोशती, रोती, कंपती और भयभीत हुई कन्या को बलात्कार हरण करके विवाह करना, वह 'राक्षस' विवाह [है] ॥१६॥

और [८ आठवां]—जो सोती, पागल[3] हुई, वा नशा पीकर उन्मत्त

---

*यह बात मिथ्या है, क्योंकि आगे मनुस्मृति में निषेध किया है, और युक्तिविरुद्ध भी है। इसलिये कुछ भी न ले देकर दोनों की प्रसन्नता से पाणिग्रहण होना 'आर्ष' विवाह है ॥ द० स०

---

१. अर्थात 'पसन्द' २. द्वि० संस्करण में 'वर्ण' अपपाठ है।

३. पागल हुई अर्थात् बेसुध हुई।

हुई कन्या को एकान्त पाकर दूषित कर देना, यह सब विवाहों में नीच से नीच महानीच दुष्ट अतिदुष्ट 'पैशाच' विवाह है ।।१७।।

ब्राह्म, दैव, आर्ष और प्राजापत्य इन चार विवाहों में पाणिग्रहण किए हुए स्त्री-पुरुषों से जो सन्तान उत्पन्न होते हैं, वे वेदादिविद्या से तेजस्वी, आप्त पुरुषों के संमत, अत्युत्तम होते हैं ।।१८।।

वे पुत्र वा कन्या सुन्दर रूप बल पराक्रम शुद्ध बुद्ध्यादि उत्तम गुणयुक्त, बहुधनयुक्त पुण्यकीर्तिमान् और पूर्ण भोग के भोक्ता, अतिशय धर्मात्मा होकर १०० वर्ष तक जीते हैं ।। १९ ।।

इन चार विवाहों से जो बाकी रहे ४ चार आसुर गान्धर्व राक्षस और पैशाच, इन ४ चार दुष्ट विवाहों से उत्पन्न हुए सन्तान निन्दित कर्मकर्ता, मिथ्यावादी, वेदधर्म के द्वेषी, बड़े नीच स्वभाव वाले होते हैं ।। २० ।।

इसलिये मनुष्यों का योग्य है कि जिन निन्दित विवाहों से नीच प्रजा होती हैं उनका त्याग, और जिन उत्तम विवाहों से उत्तम प्रजा होती हैं, उनको किया करें ।।२१।।

उत्कृष्टायाभिरूपाय वराय सदृशाय च ।
अप्राप्तामपि तां तस्मै कन्यां दद्याद्विचक्षणः[1] ।।१।।

काममामरणात् तिष्ठेद् गृहे कन्यर्त्तुमत्यपि ।
न चैवैनां प्रयच्छेत्तु गुणहीनाय कर्हिचित् ।।२।।

त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमार्यृतुमती सती ।
ऊर्ध्वं तु कालादेतस्माद् विन्देत सदृशं पतिम् ।।३।।[2]

[**अर्थः**]—यदि माता-पिता कन्या का विवाह करना चाहें, तो अति उत्कृष्ट शुभगुण कर्म स्वभाववाला, कन्या के सदृश रूपलावण्यादि गुणयुक्त वर ही को, चाहे वह कन्या माता की छः पीढ़ी के भीतर भी हो, तथापि उसी को कन्या देना, अन्य को कभी न देना। कि जिससे दोनों अति प्रसन्न होकर गृहाश्रम की उन्नति और उत्तम सन्तानों की उत्पत्ति करें ।।१।।

चाहे मरण पर्यन्त कन्या पिता के घर में विना विवाह के बैठी

---

१. 'दद्याद् यथाविधि' मनुस्मृति का मुद्रित पाठ है ।
२. मनु० अ० ९। श्लोक ८८-९० ।।

भी रहे, परन्तु गुणहीन, असदृश, दुष्ट पुरुष के साथ कन्या का विवाह कभी न करे। और वर-कन्या भी अपने आप स्वसदृश के साथ ही विवाह करें ॥२॥

[विवाह का काल]

जब कन्या विवाह करने की इच्छा करे, तब रजस्वला होने के दिन से ३ तीन वर्ष को छोड़के ४ चौथे वर्ष में विवाह करे ॥३॥

(प्रश्न)—'**अष्टवर्षा भवेद् गौरी नववर्षा च रोहिणी।**' इत्यादि श्लोकों की क्या गति होगी?

(उत्तर)—इन श्लोकों और इनके माननेवालों की दुर्गति। अर्थात् जो इन श्लोकों की रीति से बाल्यावस्था में अपने सन्तानों का विवाह कर-करा, उनको नष्ट-भ्रष्ट रोगी अल्पायु करते हैं, वे अपने कुल का जानो सत्यानाश कर रहे हैं। इसलिये यदि शीघ्र विवाह करें, तो वेदारम्भ में लिखे हुये १६ सोलह वर्ष से न्यून कन्या और २५ पच्चीस वर्ष से न्यून पुरुष का विवाह कभी न करें-करावें। इस के आगे जितना अधिक ब्रह्मचर्य रक्खेंगे, उतना ही उनको आनन्द अधिक होगा।

(प्रश्न)—विवाह निकटवासियों से अथवा दूरवासियों से करना चाहिये?

(उत्तर)—**दुहिता दुर्हिता दूरे हिता भवतीति।** यह निरुक्त[1] का प्रमाण है कि—जितना दूरदेश में विवाह होगा, उतना ही उनको अधिक लाभ होगा।

(प्रश्न)—अपने गोत्र वा भाई-बहनों का परस्पर विवाह क्यों नहीं होता?

(उत्तर)—एक—दोष यह है कि इनके विवाह होने में प्रीति कभी नहीं होती। क्योंकि जितनी प्रीति परोक्ष पदार्थ में होती है, उतनी प्रत्यक्ष में नहीं। और बाल्यावस्था के गुणदोष भी विदित रहते हैं, तथा भयादि भी अधिक नहीं रहते। दूसरा—जब तक दूरस्थ एक-दूसरे कुल के साथ सम्बन्ध नहीं होता, तब तक शरीर आदि की

---

१. निरुक्त ३।४॥ 'भवतीति' पाठ निरुक्त में नहीं है। यह वाक्यपूर्त्यर्थ अध्याहार है। स० प्र० समु० ४ में भी ऐसा ही साध्याहार पाठ उद्धृत है।

पुष्टि भी पूर्ण नहीं होती। तीसरा—दूर सम्बन्ध होने से परस्पर प्रीति उन्नति ऐश्वर्य बढ़ता है, निकट से नहीं।

युवावस्था ही में विवाह का प्रमाण—

तमस्मेरा युवतयो युवानं मर्मृज्यमानाः परि यन्त्यापः ।
स शुक्रेभिः शिक्वभी रेवदस्मे दीदायानिध्मो घृतनिर्णिगप्सु ॥१॥

अस्मै तिस्रो अव्यथ्याय नारीर्देवाय देवीर्दिधिषन्त्यन्नम् ।
कृता इवोप हि प्रसर्स्रे अप्सु स पीयूषं धयति पूर्वसूनाम् ॥२॥

अश्वस्यात्र जनिमास्य च स्वर्द्रुहो रिषः सम्पृचः पाहि सूरीन् ।
आमासु पूर्षु परो अप्रमृष्यं नारातयो वि नशन्नानृतानि ॥३॥

ऋ० मं० २। सू० ३५। मं० ४-६॥

वधूरियं पतिमिच्छन्त्येति य ईं वहाते महिषीमिषिराम् ।
आस्य श्रवस्याद्रथ आ च घोषात् पुरू सहस्रा परि वर्तयाते ॥४॥

ऋ० मं० ५। सू० ३७। मं० ३॥

उप व एषे वन्द्येभिः शूषैः प्र यह्वी दिवश्चितयद्भिरर्कैः ।
उषासानक्ता विदुषीव विश्वमा हा वहतो मर्त्याय यज्ञम् ॥५॥

ऋ० मं० ५। सू० ४१। मं० ७॥

अर्थः—जो (मर्मृज्यमानाः) उत्तम ब्रह्मचर्यव्रत और सद्विद्याओं से अत्यन्त [युक्त] (युवतयः) २० बीसवें वर्ष से २४ चौबीसवें वर्ष-वाली हैं, वे कन्या लोग जैसे (आपः) जल वा नदी समुद्र को प्राप्त होती हैं, वैसे (अस्मेराः) हमको प्राप्त होनेवाली. अपने-अपने प्रसन्न[1], अपने-अपने से ड्योढ़े वा दूने आयुवाले, (तम्) उस ब्रह्मचर्य और विद्या से परिपूर्ण, शुभलक्षणयुक्त (युवानम्) जवान पति को (परियन्ति) अच्छे प्रकार प्राप्त होती हैं। (सः) वह ब्रह्मचारी (शुक्रेभिः) शुद्ध गुण और (शिक्वभिः) वीर्यादि से युक्त होके (अस्मे) हमारे मध्य में (रेवत्) अत्यन्त श्रीयुक्त कर्म को, और (दीदाय) अपने तुल्य

१. अर्थात् पसन्द।

युवती स्त्री को प्राप्त होवे। जैसे (अप्सु) अन्तरिक्ष वा समुद्र में (घृतनिर्णिक्) जल को शोधन करनेहारा (अनिध्मः) आप प्रकाशित[1] विद्युत् अग्नि है, इसी प्रकार स्त्री और पुरुष के हृदय में प्रेम बाहर अप्रकाशमान भीतर सुप्रकाशित रहकर उत्तम सन्तान और अत्यन्त आनन्द को गृहाश्रम में दोनों स्त्री-पुरुष प्राप्त होवें ॥१॥

हे स्त्री-पुरुषो ! जैसे (तिस्रः) उत्तम मध्यम तथा निकृष्ट स्वभावयुक्त, (देवीः नारीः) विद्वान् नरों की विदुषी स्त्रियां (अस्मै) इस (अव्यथ्याय) पीड़ा से रहित (देवाय) काम के लिये (अन्नम्) अन्नादि उत्तम पदार्थों को (दिधिषन्ति) धारण करती हैं, (कृताइव) की हुई शिक्षायुक्त के समान (अप्सु) प्राणवत् प्रीति आदि व्यवहारों में प्रवृत्त होने के लिये स्त्री से पुरुष और पुरुष से स्त्री (उप प्रसर्स्रे) सम्बन्ध को प्राप्त होती है। (स हि) वही पुरुष और स्त्री आनन्द को प्राप्त होती है। जैसे जलों में (पीयूषम्) अमृतरूप रस को (पूर्वसूनाम्) प्रथम प्रसूत हुई स्त्रियों का बालक (धयति) दुग्ध पीके बढ़ता है, वैसे इन ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी स्त्री के सन्तान यथावत् बढ़ते हैं ॥२॥

जैसे राजादि सब लोग (पूर्षु) अपने नगरों और (ग्रामासु) अपने घर में उत्पन्न हुये पुत्र और कन्यारूप प्रजाओं में उत्तम शिक्षाओं को (परः) उत्तम विद्वान् (अप्रमृष्यम्) शत्रुओं को सहने के अयोग्य, ब्रह्मचर्य से प्राप्त हुये शरीरात्मबलयुक्त देह को (अरातयः) शत्रु लोग (न) नहीं (विनशन्) विनाश कर सकते, और (अनृतानि) मिथ्याभाषणादि दुष्ट दुर्व्यसनों को प्राप्त (न) नहीं होते, वैसे उत्तम स्त्री-पुरुषों को (द्रुहः) द्रोह आदि दुर्गुण और (रिषः) हिंसा आदि पाप (न सम्पृचः) सम्बन्ध नहीं करते। किन्तु जो युवावस्था में विवाह कर प्रसन्नतापूर्वक विधि से सन्तानोत्पत्ति करते हैं, इनके (अस्य) इस (अश्वस्य) महान् गृहाश्रम के मध्य में उत्तम बालकों का (जनिम) जन्म होता है। इसलिये हे स्त्री वा पुरुष ! तू (सूरीन्) विद्वानों की (पाहि) रक्षा कर। (च) और ऐसे गृहस्थों को (अत्र) इस गृहाश्रम में सदैव (स्वः) सुख बढ़ता रहता है ॥३॥

---

१. अर्थात् ईन्धन से प्रकाशित न होनेवाला।

हे मनुष्यो ! (यः) जो पूर्वोक्त लक्षणयुक्त पूर्ण जवान (ईम्) सब प्रकार की परीक्षा करके (महिषीम्) उत्तम कुल में उत्पन्न हुई विद्या शुभ गुण रूप सुशीलतादियुक्त (इषिराम्) वर की इच्छा करनेहारी, हृदय को प्रिय स्त्री को (एति) प्राप्त होता है, और जो (पतिम्) विवाह से अपने स्वामी की (इच्छन्ती) इच्छा करती हुई, (इयम्) वह (वधूः) स्त्री अपने सदृश, हृदय को प्रिय पति को (एति) प्राप्त होती है। वह पुरुष वा स्त्री (अस्य) इस गृहाश्रम के मध्य (आश्वस्यात्) अत्यन्त विद्या धन धान्य युक्त सब ओर से होवे। और वे दोनों (रथः) रथ के समान (आघोषात्) परस्पर प्रिय वचन बोलें। (च) और सब गृहाश्रम के भार को (वहाते) उठा सकते हैं। तथा वे दोनों (पुरु) बहुत (सहस्रा) असङ्ख्य उत्तम कार्यों को (परिवर्तयाते) सब ओर से सिद्ध कर सकते हैं ॥४॥

हे मनुष्यो! यदि तुम पूर्ण ब्रह्मचर्य से सुशिक्षित विद्यायुक्त अपने सन्तानों को कराके स्वयंवर विवाह कराओ, तो वे (वन्द्येभिः) कामना के योग्य, (चितयद्भिः) सब सत्य विद्याओं को जाननेहारे, (अर्कैः) सत्कार के योग्य, (शूषैः) शरीरात्मबलों से युक्त होके (वः) तुम्हारे लिये (एषे) सब सुख प्राप्त कराने को समर्थ होवें। और वे (उषासानक्ता) जैसे दिन और रात, तथा जैसे (विदुषीव) विदुषी स्त्री और विद्वान् पुरुष (विश्वम्) गृहाश्रम के सम्पूर्ण व्यवहार को (आवहतः) सब ओर से प्राप्त होते हैं, (ह) वैसे ही इस (यज्ञम्) संगतरूप गृहाश्रम के व्यवहार को वे स्त्री-पुरुष पूर्ण कर सकते हैं। और (मर्त्याय) मनुष्यों के लिये यही पूर्वोक्त विवाह पूर्ण सुखदायक है। और (यह्वी) बड़े ही शुभ गुण कर्म स्वभाववाले स्त्री-पुरुष दोनों (दिवः) कामनाओं को (उप प्र वहतः) अच्छे प्रकार प्राप्त हो सकते हैं, अन्य नहीं ॥५॥

जैसे ब्रह्मचर्य में कन्या का ब्रह्मचर्य वेदोक्त है, वैसे ही सब पुरुषों को ब्रह्मचर्य से विद्या पढ़ पूर्ण जवान हो परस्पर परीक्षा करके, जिससे जिसकी विवाह करने में पूर्ण प्रीति हो, उसी से उसका विवाह होना अत्युत्तम है। जो कोई युवावस्था में विवाह न कराके बाल्यावस्था में अनिच्छित अयोग्य वर कन्या का विवाह करावेंगे, वे वेदोक्त ईश्वराज्ञा के विरोधी होकर महादुःखसागर में क्योंकर न

डूबेंगे ? और जो पूर्वोक्त विधि से विवाह करते-कराते हैं, वे ईश्वराज्ञा के अनुकूल होने से पूर्ण सुख को प्राप्त होते हैं।

(प्रश्न)—विवाह अपने-अपने वर्ण में होना चाहिये, वा अन्य वर्ण में भी ?

(उत्तर)—अपने-अपने वर्ण में। परन्तु वर्णव्यवस्था गुणकर्मों के अनुसार होनी चाहिए, जन्ममात्र से नहीं।

[गुणकर्मानुसार वर्णव्यवस्था]

जो पूर्ण विद्वान् धर्मात्मा परोपकारी जितेन्द्रिय मिथ्याभाषणादि दोषरहित विद्या और धर्म प्रचार में तत्पर रहे, इत्यादि उत्तम गुण जिसमें हों, वह ब्राह्मण-ब्राह्मणी। विद्या बल शौर्य न्यायकारित्वादि गुण जिसमें हों, वह क्षत्रिय-क्षत्रिया। और विद्वान् होके कृषि पशुपालन व्यापार देशभाषाओं में चतुरतादि गुण जिसमें हों, वह वैश्य-वैश्या। और जो विद्याहीन मूर्ख हो, वह शूद्र-शूद्रा कहावे। इसी क्रम से विवाह होना चाहिये। अर्थात् ब्राह्मण का ब्राह्मणी, क्षत्रिय का क्षत्रिया, वैश्य का वैश्या, और शूद्र का शूद्रा के साथ ही विवाह होने में आनन्द होता है, अन्यथा नहीं।

इस वर्णव्यवस्था में प्रमाण—

धर्मचर्यया जघन्यो वर्णः पूर्वं पूर्वं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ ॥१॥
अधर्मचर्यया पूर्वो वर्णो जघन्यं जघन्यं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ ॥२॥
आपस्तम्बे ॥[1]

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम् ।
क्षत्रियाज्जातमेवन्तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च ॥३॥ मनुस्मृतौ ॥[2]

अर्थः—धर्माचरण से नीच वर्ण उत्तम-उत्तम वर्ण को प्राप्त होता है। और उस वर्ण में जो-जो कर्त्तव्य अधिकाररूप कर्म हैं, वे सब गुण कर्म उस पुरुष और स्त्री को प्राप्त होवें ॥१॥ वैसे ही अधर्माचरण से उत्तम-उत्तम वर्ण नीचे-नीचे के वर्ण को प्राप्त होवें। और वे ही उस-उस वर्ण के अधिकार और कर्मों के कर्त्ता होवें ॥२॥ उत्तम गुण कर्म स्वभाव से जो शूद्र है, वह वैश्य क्षत्रिय और ब्राह्मण; और वैश्य क्षत्रिय और ब्राह्मण, तथा क्षत्रिय ब्राह्मण वर्ण के अधिकार और कर्मों

---

१. आप० धर्मसूत्र १।५।१०, ११ ॥ २. मनु० १०।६५ ॥

को प्राप्त होता है। वैसे ही नीच कर्म और गुणों से जो ब्राह्मण है, वह क्षत्रिय वैश्य शूद्र; और क्षत्रिय वैश्य शूद्र; तथा वैश्य शूद्र वर्ण के अधिकार और कर्मों को प्राप्त होता है ॥३॥

इसी प्रकार वर्णव्यवस्था होने से पक्षपात न होकर सब वर्ण उत्तम बने रहते, और उत्तम बनने में प्रयत्न करते। और उत्तम वर्ण इस[1] भय से कि मैं नीच वर्ण न हो जाऊं, इसलिये बुरे कर्म छोड़ उत्तम कर्मों ही को किया करते हैं। इससे संसार की बड़ी उन्नति है। आर्यावर्त्त देश में जब तक ऐसी वर्णव्यवस्था, [और] पूर्वोक्त ब्रह्मचर्य विद्याग्रहण उत्तमता से स्वयंवर विवाह होता था, तभी देश की उन्नति थी। अब भी ऐसा ही होना चाहिए, जिससे आर्यावर्त्त देश अपनी पूर्वावस्था को प्राप्त होकर आनन्दित होवे।

[वधू-वर के गुण-कर्म-स्वभाव की परीक्षा]

अब वधू वर एक-दूसरे के गुण-कर्म और स्वभाव की परीक्षा इस प्रकार करें—

दोनों का तुल्य शील, समान बुद्धि, समान आचार, समान रूपादि गुण, अहिंसकता, सत्य मधुर भाषण, कृतज्ञता, दयालुता[2], निर्लोभता, देश का सुधार, विद्याग्रहण, सत्योपदेश करने में निर्भयता, उत्साह, अहंकार मत्सर ईर्ष्या काम क्रोध कपट द्यूत चोरी मद्य-मांसाहारादि दोषों का त्याग, गृह-कार्यों में अति चतुरता हो। जब-जब प्रातःसायं वा परदेश मे आकर मिलें, तब-तब 'नमस्ते' इस वाक्य से परस्पर नमस्कार कर, स्त्री पति के चरणस्पर्श पादप्रक्षालन आसनदान करे। तथा दोनों परस्पर प्रेम बढ़ानेहारे वचनादि व्यवहारों से वर्त्तकर आनन्द भोगें। वर के शरीर से स्त्री का शरीर पतला और पुरुष के स्कन्धे के तुल्य स्त्री का शिर होना चाहिये। तत्पश्चात् भीतर की परीक्षा स्त्री-पुरुष वचनादि व्यवहारों से करें।

---

१. द्वि० सं० में 'के' पाठ है।

२. वै० य० मुद्रित संस्करणों में 'दयालुता' के आगे और 'निर्लोभता' से पूर्व मध्य में 'अहंकार मत्सर ईर्ष्या काम क्रोध' पाठ मिलता है। यह पाठ अस्थान में है। अहंकार आदि को त्याज्य होने के कारण से 'कपट' आदि त्याज्य दुर्गुणों के साथ होना चाहिए। इसी कारण हमने इन्हें यथास्थान रख दिया है।

ओम् ऋतमग्रे प्रथमं जज्ञ ऋते सत्यं प्रतिष्ठितम् ।
यदियं कुमार्यभिजाता तदियमिह प्रतिपद्यताम् ।
यत्सत्यं तद् दृश्यताम् ॥[1]

अर्थः—जब विवाह करने का समय निश्चय हो चुके, तब कन्या चतुर पुरुषों से वर की, और वर चतुर स्त्रियों से कन्या की परोक्ष में परीक्षा करावे। पश्चात् उत्तम विद्वान् स्त्री-पुरुषों की सभा करके दोनों परस्पर संवाद करें कि—'हे स्त्री वा हे पुरुष! इस जगत् के पूर्व ऋत यथार्थ स्वरूप महत्तत्त्व उत्पन्न हुआ था, और उस महत्तत्त्व में सत्य त्रिगुणात्मक नाशरहित प्रकृति प्रतिष्ठित है। जैसे पुरुष और प्रकृति के योग से सब विश्व उत्पन्न हुआ है, वैसे मैं कुमारी और मैं कुमार पुरुष इस समय में दोनों विवाह करने की सत्य प्रतिज्ञा करती वा करता हूं। उसको यह कन्या और मैं वर प्राप्त होवें, और अपनी प्रतिज्ञा को सत्य करने के लिये दृढोत्साही रहें' ॥

[प्राग्विधि]

विधिः—जब कन्या रजस्वला होकर पृष्ठ ४३—४५ में लिखे प्रमाणे शुद्ध हो जाय, तब जिस दिन गर्भाधान की रात्रि निश्चित की हो, उस रात्रि में विवाह[2] करने के लिये प्रथम ही सब सामग्री जोड़ रखनी चाहिये। और पृष्ठ १९—२९ में लिखे प्रमाणे यज्ञशाला, वेदी, ऋत्विक्, यज्ञपात्र, शाकल्य आदि सब सामग्री शुद्ध करके रखनी उचित है। पश्चात्* एक घंटेमात्र रात्रि जाने[3] पर—

*यदि आधी रात तक विधि पूरा न हो सके, तो मध्याह्नोत्तर आरम्भ कर देवें, कि जिससे मध्य रात्रि तक विवाहविधि पूरा हो जावे ॥ द० स०

१. आश्व० गृह्य १।५।५॥ द्वितीय सं० के संशोधनपत्र में 'ऋतमग्ने' के स्थान में 'ऋतमग्रे' शोधन करने पर भी अजमेर मुद्रित संस्कारविधि में २४ संस्करण यावत् 'ऋतमग्ने' अशुद्ध पाठ ही छप रहा है।

२. इस कर्म में दो परस्पर विरोधी विधान हैं। एक—गर्भाधान की रात्रि में विवाह और तीन रात्रि ब्रह्मचर्य रखना। दूसरा—रात्रि में विवाह का विधान और सूर्य-दर्शन का विधान। इन दोनों विरोधों के परिहार के लिये अन्त में प्रथम परिशिष्ट देखें।

३. सत्यार्थप्रकाश समु० ४ में भी रात्रिविवाह कहा है।

ओं काम वेद ते नाम मदो नामासि समानयामुं सुरा ते अभवत्।
परमत्र जन्माग्रे तपसो निर्मितोऽसि स्वाहा ॥ १ ॥

ओम् इमं त उपस्थं मधुना सꣳसृजामि प्रजापतेर्मुखमेतत् द्वितीयम्।
तेन पुंसोऽभिभवासि सर्वानवशान्वशिन्यसि राज्ञि स्वाहा ॥ २ ॥

ओम् अग्निं क्रव्यादमकृण्वन् गुहानाः स्त्रीणामुपस्थमृषयः पुराणाः।
तेनाज्यमकृण्वꣳस्त्रैशृङ्गं त्वाष्ट्रं त्वयि तद्दधातु स्वाहा॥३॥[1]

इन मन्त्रों से सुगन्धित शुद्ध जल से पूर्ण कलशों को लेके वधू और वर स्नान कर, पश्चात् वधू उत्तम वस्त्रालङ्कार धारण करके उत्तम आसन पर पूर्वाभिमुख बैठे। तत्पश्चात् पृष्ठ ७ से १८ तक लिखे प्रमाणे ईश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासना, स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण करें। तत्पश्चात् पृष्ठ ३०—३२ में लिखे प्रमाणे अग्न्याधान समिदाधान, पृष्ठ २० में लिखे प्रमाणे स्थालीपाक आदि यथोक्त कर वेदी के समीप रक्खे। वैसे ही वर भी एकान्त अपने घर में जाके उत्तम वस्त्रालङ्कार करके यज्ञशाला में आ उत्तमासन पर पूर्वाभिमुख बैठके पृष्ठ ७-१० में लिखे प्रमाणे ‡ईश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासना कर वधू के घर को जाने का ढंग करे। तत्पश्चात् कन्या के और वर पक्ष के पुरुष बड़े सम्मान से वर को घर ले जावें। जिस समय वर वधू के घर [में] प्रवेश करे, उसी समय वधू और कार्यकर्त्ता मधुपर्क आदि से वर का निम्नलिखित प्रकार से आदर-सत्कार करें—

[मधुपर्क-विधि]

उसकी रीति यह है कि वर वधू के घर में प्रवेश करके पूर्वाभिमुख खड़ा रहे। और वधू तथा कार्यकर्त्ता वर के समीप उत्तराभिमुख खड़े रहके, वधू और कार्यकर्त्ता—

साधु भवानास्तामर्चयिष्यामो भवन्तम् ॥[2]

इस वाक्य को बोलें। उस पर वर—

‡विवाह में आए हुए भी स्त्रीपुरुष एकाग्रचित्त ध्यानावस्थित होके इन तीन कर्मों के अनुसार ईश्वर का चिंतन किया करें॥ द० स०

१. मन्त्रब्रा० १।१।२-४॥ २. पार० गृह्य १।३।४॥

ओम् अर्चय ॥

ऐसा प्रत्युत्तर देवे। पुनः जो वधू और कार्यकर्त्ता ने वर के लिये उत्तम आसन सिद्ध कर रक्खा हो, उसको वधू हाथ में ले वर के आगे खड़ी रहे—

ओं विष्टरो विष्टरो विष्टरः प्रतिगृह्यताम् ॥[1]

यह उत्तम आसन है, आप ग्रहण कीजिए। वर—

ओं प्रतिगृह्णामि ॥[2]

इस वाक्य को बोलके वधू के हाथ से आसन ले, बिछा उस पर सभामण्डप में पूर्वाभिमुख बैठके, वर—

ओं वर्ष्मोऽस्मि समानानामुद्यतामिव सूर्यः ।
इमं तमभितिष्ठामि यो मा कश्चाभिदासति ॥[3]

इस मन्त्र को बोले। तत्पश्चात् कार्यकर्त्ता एक सुन्दर पात्र में पूर्ण जल भरके कन्या के हाथ में देवे। और कन्या—

ओं पाद्यं पाद्यं पाद्यं प्रतिगृह्यताम् ॥[4]

इस वाक्य को बोलके वर के आगे धरे[5]। पुनः वर—

ओं प्रतिगृह्णामि ॥[6]

इस वाक्य को बोलके कन्या के हाथ से उदक ले पग-प्रक्षालन* करे। और उस समय—

---

*यदि घर का प्रवेशक द्वार पूर्वाभिमुख हो, तो वर उत्तराभिमुख और वधू तथा कार्यकर्त्ता पूर्वाभिमुख खड़े रहके, यदि ब्राह्मण वर्ण हो तो प्रथम दक्षिण पग पश्चात् बायां, और अन्य क्षत्रियादि वर्ण हो तो प्रथम बायां पग धोवे, पश्चात् दहना ॥ द० स०

---

१. तुलना—पार० गृह्य १।३।६॥ २. तुलना—पार० गृह्य १।३।७॥

३. पार० गृह्य १।३।८॥ सं० २-१७ तक 'अभिधासति' अपपाठ छपा है।

४. तुलना—पार० गृह्य १।३।९॥

५. 'धरे' अर्थात् 'करे'। देखो—आगे 'ओम् आचमनीयम्…' से अगले वाक्य में—'सामने करे'। ६. तुलना—पार० गृह्य १।३।१०॥

ओं विराजो दोहोऽसि विराजो दोहमशीय मयि पाद्यायै विराजो दोहः ॥[1]

इस मन्त्र को बोले। तत्पश्चात् फिर भी कार्यकर्त्ता दूसरा शुद्ध लोटा पवित्र जल से भर कन्या के हाथ में देवे। पुनः कन्या—

ओम् अर्घोऽर्घोऽर्घः प्रतिगृह्यताम् ॥[2]

इस वाक्य को बोलके वर के हाथ में देवे। और वर—

ओं प्रतिगृह्णामि ॥[3]

इस वाक्य को बोलके, कन्या के हाथ से जलपात्र लेके उस से मुखप्रक्षालन करे। और उसी समय वर मुख धोके—

ओम् आप स्थ युष्माभिः सर्वान् कामानवाप्नवानि ॥

ओं समुद्रं वः प्रहिणोमि स्वां योनिमभिगच्छत।
अरिष्टा अस्माकं वीरा मा परासेचि मत्पयः ॥[4]

इन मन्त्रों को बोले। तत्पश्चात् वेदी के पश्चिम बिछाये हुये उसी शुभासन पर पूर्वाभिमुख बैठें। तत्पश्चात् कार्यकर्त्ता एक सुन्दर उपपात्र जल से पूर्ण भर, उसमें आचमनी रख, कन्या के हाथ में देवे। और उस समय कन्या—

ओम् आचमनीयमाचमनीयमाचमनीयं प्रतिगृह्यताम् ॥[5]

इस वाक्य को बोलके वर के सामने करे। और वर—

ओं प्रतिगृह्णामि ॥[3]

इस वाक्य को बोलके, कन्या के हाथ में से जलपात्र को ले सामने धर, उसमें से दाहिने हाथ में जल, जितना अंगुलियों के मूल तक पहुंचे उतना लेके, वर—

ओम् आमागन् यशसा संसृज वर्चसा।
तं मा कुरु प्रियं प्रजानामधिपतिं पशूनामरिष्टिं तनूनाम् ॥[6]

---

१. पार० गृह्य १।३।१२। २. तुलना—पार० गृह्य १।३।५,१३।
३. तुलना—पार० गृह्य १।३।७। ४. पार० गृह्य १।३।१३, १४।
५. तुलना—पार० गृह्य १।३।५-६। ६. पार० गृह्य १।३।१५।

इस मन्त्र से एक आचमन । इसी प्रकार दूसरी और तीसरी वार इसी मन्त्र को पढ़के दूसरा और तीसरा आचमन करे । तत्पश्चात् कार्यकर्त्ता मधुपर्क* का पात्र कन्या के हाथ में देवे । और कन्या—

ओं मधुपर्को मधुपर्को मधुपर्कः प्रतिगृह्यताम् ॥[1]

ऐसी विनती वर से करे । और वर—

ओं प्रतिगृह्णामि ॥[2]

इस वाक्य को बोलके कन्या के हाथ से ले । और उस समय—

ओं मित्रस्य त्वा चक्षुषा प्रतीक्षे ॥[3]

इस मन्त्रस्थ वाक्य को बोलके मधुपर्क को अपनी दृष्टि से देखे । और—

ओं देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां प्रति गृह्णामि ॥[4]

इस मन्त्र को बोलके मधुपर्क के पात्र को वाम हाथ में लेवे । और—

ओं भूर्भुवः स्वः । मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः । माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः ॥१॥

ओं भूर्भुवः स्वः । मधु नक्तमुतोषसो मधुमत्पार्थिवꣳ रजः । मधु द्यौरस्तु नः पिता ॥२॥

---

*मधुपर्क उसको कहते हैं—जो दही में घी वा शहद मिलाया जाता है । उसका परिमाण—१२ बारह तोले दही में ४ चार तोले शहद, अथवा ४ चार तोले घी मिलाना चाहिये । और यह मधुपर्क कांसे के पात्र में होना उचित है ॥ द० स०

---

१. तुलना—पार० गृह्य १।३।५-६॥ २. तुलना—पार० गृह्य १।३।७॥
३. पार० गृह्य १।३।१६; काण्व सं० २।३।४॥ स्वरचिह्न हमने दिये हैं ।
४. द्र०—पार० गृह्य १।३।१७; यजु० १।१०॥ 'प्रति गृह्णामि' पद रहित पाठ । स्वरचिह्न हमने दिये हैं ।

ओं भूर्भुवः स्वः । मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमाँ अस्तु सूर्यः । माध्वीर्गावो भवन्तु नः ।।३।।[1]

इन तीन मन्त्रों से मधुपर्क की ओर अवलोकन करे ।

ओं नमः श्यावास्यायान्नशने यत्त आविद्धं तत्ते निष्कृन्तामि ।।[2]

इस मन्त्र को पढ़, दाहिने हाथ की अनामिका और अङ्गुष्ठ से मधुपर्क को तीन वार बिलोवे । और उस मधुपर्क में से वर—

ओं वसवस्त्वा गायत्रेण च्छन्दसा भक्षयन्तु ।।[3]

इस मन्त्र से पूर्व दिशा ।

ओं रुद्रास्त्वा त्रैष्टुभेन च्छन्दसा भक्षयन्तु ।।[4]

इस मन्त्र से दक्षिण दिशा ।

ओम् आदित्यास्त्वा जागतेन च्छन्दसा भक्षयन्तु ।।[4]

इस मन्त्र से पश्चिम दिशा । और—

ओं विश्वे त्वा देवा आनुष्टुभेन च्छन्दसा भक्षयन्तु ।।[4]

इस मन्त्र से उत्तर दिशा में थोड़ा-थोड़ा छोड़ें, अर्थात् छींटे देवे ।

ओं भूतेभ्यस्त्वा परिगृह्णामि ।।[5]

इस मन्त्रस्थ वाक्य को बोलके पात्र के मध्य भाग में से लेके ऊपर की ओर तीन वार फेंकना[6] । तत्पश्चात् उस मधुपर्क के तीन भाग करके तीन कांसे के पात्रों में धर, भूमि में अपने सम्मुख तीनों पात्र रक्खे । रखके—

---

१. यजुर्वेद १३।२७-२९।। व्याहृतियां छोड़कर मन्त्रपाठ ।

२. पार० गृह्य १।३।१८ ।।

३. आश्व० गृह्य १।२४।१४।।   ४. आश्व० गृह्य १।२४।१५।।

५. आश्व० गृह्य १।२४।१५।। 'परिगृह्णामि' यह अध्याहृत पद है ।

६. आश्व० गृह्यटीकाकार के अनुसार 'भूतेभ्यस्त्वा परिगृह्णामि' मन्त्र तीन बार उच्चारण करके तीन बार छिटकने का विधान है ।

ओं यन्मधुनो मधव्यं परमꣳ रूपमन्नाद्यम् । तेनाहं मधुनो मधव्येन परमेण रूपेणान्नाद्येन परमो मधव्योऽन्नादोऽसानि[1] ॥

इस मन्त्र को एक-एक वार बोलके एक-एक भाग में से वर थोड़ा-थोड़ा प्राशन करे, वा सब प्राशन करे। जो उन पात्रों में शेष उच्छिष्ट मधुपर्क रहा हो, वह किसी अपने सेवक को देवे, वा जल में डाल देवे। तत्पश्चात्—

ओम् अमृतापिधानमसि स्वाहा ॥[2]

ओं सत्यं यशः श्रीर्मयि श्रीः श्रयतां स्वाहा ॥[3]

इन दो मन्त्रों से दो आचमन, अर्थात् एक से एक और दूसरे से दूसरा वर करे। तत्पश्चात् वर पृष्ठ २९-३० में लिखे प्रमाणे[4] चक्षुरादि इन्द्रियों का जल से स्पर्श करे। पश्चात् कन्या—

ओं गौर्गौर्गौः प्रतिगृह्यताम् ॥[5]

इस वाक्य से वर की विनती करके अपनी शक्ति के योग्य वर को गोदानादि द्रव्य, जो कि वर के योग्य हो अर्पण करे। और वर—

ओं प्रतिगृह्णामि ॥[6]

इस वाक्य से उसको ग्रहण करे। इस प्रकार मधुपर्क विधि यथावत् करके, वधू और कार्यकर्त्ता वर को सभामण्डपस्थान* से घर में ले जाके शुभ आसन पर पूर्वाभिमुख बैठाके, वर के सामने पश्चिमाभिमुख वधू को बैठावे। और कार्यकर्त्ता उत्तराभिमुख बैठके—

---

*यदि सभामण्डप स्थापन न किया हो, तो जिस घर में मधुपर्क हुआ हो उससे दूसरे घर में वर को ले जावे ॥ द० स०

---

१. पार० गृह्य १।३।२०॥
२. आश्व० गृह्य १।२४।२१॥ 'स्वाहा' पदरहित पाठ।
३. आश्व० गृह्य १।२४।२२॥ 'स्वाहा' पदरहित पाठ।
४. 'ओं वाङ् म आस्येऽस्तु' आदि मन्त्रों से।
५. तुलना—पार०गृह्य १।३।२६॥ ६. द्र०—पृ० १५७, टि० २॥

[कन्या-प्रतिग्रहण-विधि]

ओम् अमुक§ गोत्रोत्पन्नामिमाममुकनाम्नीम्‡ अलङ्कृतां कन्यां प्रतिगृह्णातु भवान् ॥

इस प्रकार बोलके वर का हाथ चत्ता अर्थात् हथेली ऊपर रखके, उसके हाथ में वधू का दक्षिण हाथ चत्ता ही रखना। और वर—

ओं प्रतिगृह्णामि ॥ ऐसा बोलके—

[कन्या को वस्त्र-प्रदान]

ओं जरां गच्छ परिधत्स्व वासो भवाकृष्टीनामभिशस्तिपावा। शतं च जीव शरदः सुवर्चा रयिं च पुत्राननुसंव्ययस्वायुष्मतीदं परिधत्स्व वासः ॥[1]

इस मन्त्र को बोलके वधू को उत्तम वस्त्र देवे। तत्पश्चात्—

ओं या आकृन्तन्नवयन् यां अतन्वत याश्च देवीस्तन्तूनभितो ततन्थ। तास्त्वा देवीर्जरसे संव्ययस्वायुष्मतीदं परिधत्स्व वासः ॥[2]

इस मन्त्र को बोलके वधू को वर उपवस्त्र देवे। वह उपवस्त्र को यज्ञोपवीतवत् धारण करे।

[वर का वस्त्र-परिधान]

ओं परिधास्यै यशोधास्यै दीर्घायुत्वाय जरदष्टिरस्मि।
शतं च जीवामि शरदः पुरूची रायस्पोषमभिसंव्ययिष्ये ॥[3]

इस मन्त्र को पढ़के वर आप अधोवस्त्र धारण करे। और—

ओं यशसा मा द्यावापृथिवी यशसेन्द्राबृहस्पती।
यशो भगश्च मा विदद्यशो मा प्रतिपद्यताम् ॥[4]

इस मन्त्र को पढ़के द्विपट्टा धारण करे।

---

§अमुक इस पद के स्थान में जिस गोत्र और कुल में वधू उत्पन्न हुई हो, उसका उच्चारण अर्थात् उसका नाम लेना ॥ द० स०

‡"अमुकनाम्नीम्" इस स्थान पर वधू का नाम द्वितीया विभक्ति के एकवचन से बोलना ॥ द० स०

---

१. पार० गृह्य १।४।१२॥ २. पार० गृह्य १।४।१३॥
३. पार० गृह्य २।६।२०॥ ४. द्र०—पृ० १३८, टि० २॥

इस प्रकार वधू वस्त्र परिधान करके जबतक सम्भले, तबतक कार्यकर्त्ता अथवा दूसरा कोई यज्ञमण्डप में जा कुण्ड के समीपस्थ हो पृष्ठ ३०-३१ में लिखे प्रमाणे इन्धन और कर्पूर वा घृत से कुण्ड के अग्नि को प्रदीप्त करे। और आहुति के लिये सुगन्ध डाला हुआ घी बटलोई में करके कुण्ड के अग्नि पर गरम कर कांसे के पात्र में रक्खे और स्रुवादि होम के पात्र तथा जलपात्र इत्यादि सामग्री यज्ञकुण्ड के समीप जोड़कर रक्खे।

और वरपक्ष का एक पुरुष शुद्ध वस्त्र धारण कर, शुद्ध जल से पूर्ण एक कलश को लेके यज्ञकुण्ड की परिक्रमा कर कुण्ड के दक्षिण-भाग में उत्तराभिमुख हो कलशस्थापन, अर्थात् भूमि पर अच्छे प्रकार अपने आगे धरके, जब तक विवाह का कृत्य पूरण न हो जाय, तबतक उत्तराभिमुख बैठा रहे।

और उसी प्रकार वर के पक्ष का दूसरा पुरुष हाथ में दण्ड लेके कुण्ड के दक्षिणभाग में कार्य-समाप्ति पर्यन्त उत्तराभिमुख बैठा रहे।

और इसी प्रकार सहोदर वधू का भाई, अथवा सहोदर न हो तो चचेरा भाई, मामा का पुत्र अथवा मौसी का लड़का हो, वह चावल वा जुवार की धाणी और शमी वृक्ष के सूखे पत्ते इन दोनों को मिला कर शमीपत्रयुक्त धाणी की ४ चार अञ्जलि एक शुद्ध[1] सूप में रखके, धाणीसहित सूप लेके यज्ञकुण्ड के पश्चिमभाग में पूर्वाभिमुख बैठा रहे।

तत्पश्चात् कार्यकर्त्ता एक सपाट शिला, जो कि सुन्दर चिकनी हो उसको, तथा वधू और वर को कुण्ड के समीप बैठाने के लिए दो कुशासन वा यज्ञिय तृणासन अथवा यज्ञिय वृक्ष की छाल के, जो कि प्रथम से सिद्ध कर रक्खे हों, उन आसनों को रखवावे।

[वर-वधू का यज्ञमण्डप में आगमन]

तत्पश्चात् वस्त्र धारण की[2] हुई कन्या को कार्यकर्त्ता वर के सम्मुख लावे। और उस समय वर और कन्या—

ओम् सम॑ञ्जन्तु॒ विश्वे॑ दे॒वाः समापो॒ हृद॑यानि नौ।

---

१. अर्थात् चमड़ा वा तांत से रहित। २. 'करें हुई' द्वि० तृ० सं० पाठ।

सं मा॒त॒रिश्वा॒ सं धा॒ता समु॒ देष्ट्री॑ दधातु नौ* ॥१॥[1]

इस मन्त्र को बोलें। तत्पश्चात् वर [अपने] दक्षिण हाथ से वधू का दक्षिण हाथ पकड़के—

ओं यदे॑षि मन॑सा दू॒रं दिशो॒ऽनुप॒वमा॑नो वा।
हिर॑ण्यपर्णो॒ वैक॑र्णः स त्वा॒ मन्म॑नसां करो॒तु, असौ‡॥२॥[2]

इस मन्त्र को बोलके, उसको लेके घर के बाहर [यज्ञ]मण्डप स्थान में कुण्ड के समीप हाथ पकड़े हुये दोनों आवें। और वधू तथा वर—

ओं भूर्भुवः॒ स्वः॒। अघो॑रचक्षु॒रप॑तिघ्न्येधि शि॒वा प॒शुभ्यः॒

*वर और कन्या बोले कि हे (विश्वे देवाः) इस यज्ञशाला में बैठे हुए विद्वान् लोगो! आप हम दोनों को (समञ्जन्तु) निश्चय करके जानें कि अपनी प्रसन्नतापूर्वक गृहाश्रम में एकत्र रहने के लिये एक दूसरे का स्वीकार करते हैं, कि (नौ) हमारे दोनों के (हृदयानि)हृदय (आपः) जल के समान (सम्) शान्त और मिले हुए रहेंगे। जैसे (मातरिश्वा) प्राणवायु हमको प्रिय है, वैसे (सम्) हम दोनों एक दूसरे से सदा प्रसन्न रहेंगे। जैसे (धाता) धारण करनेहारा परमात्मा सब में (सम्) मिला हुआ सब जगत् को धारण करता है, वैसे हम दोनों एक दूसरे को धारण करेंगे। जैसे (समुदेष्ट्री) उपदेश करनेहारा श्रोताओं से प्रीति करता है, वैसे (नौ) हमारे दोनों की आत्मा एक दूसरे के साथ दृढ़ प्रेम को (दधातु) धारण करे॥ द० स०

‡(असौ) इस पद के स्थान में कन्या का नाम उच्चारण करना है। हे वरानने वा वरानन! (यत्) जो तू (मनसा) अपनी इच्छा से मुझको जैसे (पवमानः) पवित्र वायु (वा) जैसे (हिरण्यपर्णो वैकर्णः) तेजोमय जल आदि को किरणों से ग्रहण करनेवाला सूर्य (दूरम्) दूरस्थ पदार्थों और (दिशोऽनु) दिशाओं को प्राप्त होता है, वैसे तू प्रेमपूर्वक अपनी इच्छा से मुझको प्राप्त होनी वा होता है। उस (त्वा) तुझको (सः) वह परमेश्वर (मन्मनसाम्) मेरे मन के अनुकूल (करोतु) करे। और हे वीर! जो आप मन से मुझको (एषि) प्राप्त होते हो, उस आपको जगदीश्वर मेरे मन के अनुकूल सदा रक्खे॥द०स०

१. ऋ० १०।८५।४७; पार० गृह्य १।४।१४॥ २. पार० गृह्य १।४।१५॥

सुमनाः सुवर्चाः । वीरसूर्देवृकामा[1] स्योना शन्नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे ॥३॥[2]

ओं भूर्भुवः स्वः । सा नः पूषा शिवतमामैरय सा न ऊरू उशती विहर । यस्यामुशन्तः प्रहराम शेफं यस्यामु कामा बहवो निविष्ट्यै ॥४॥[3]

---

†हे वरानने ! (अपतिघ्नि) पति से विरोध न करनेहारी तू, जिस के (ओम्) अर्थात् रक्षा करनेवाला (भूः) प्राणदाता (भुवः) सब दुःखों को दूर करनेहारा (स्वः) सुखस्वरूप और सब सुखों के दाता आदि नाम हैं, उस परमात्मा की कृपा और अपने उत्तम पुरुषार्थ से (अघोरचक्षुः) प्रियदृष्टि (एधि) हो । (शिवा) मङ्गल करनेहारी (पशुभ्यः) सब पशुओं को सुखदाता (सुमनाः) पवित्रान्तःकरणयुक्त प्रसन्नचित्त (सुवर्चाः) सुन्दर शुभ गुण कर्म स्वभाव और विद्या से सुप्रकाशित (वीरसूः) उत्तम वीर पुरुषों को उत्पन्न करनेहारी (देवृकामा) देवर की कामना करती हुई अर्थात् नियोग की भी इच्छा करनेहारी (स्योना) सुखयुक्त होके (नः) हमारे (द्विपदे) मनुष्यादि के लिए (शम्) सुख करनेहारी (भव) सदा हो, और (चतुष्पदे) गाय आदि पशुओं को भी (शम्) सुख देनेहारी हो । वैसे मैं तेरा पति भी वर्त्ता करूं ॥ द०स०

---

१. ऋग्वेद का पाठ 'देवकामा' है । अथर्व० (१४।२।१७,१८) में 'देवृकामा' और 'देवकामा' दोनों पाठ हस्तलेखों में उपलब्ध होते हैं । स्वामी दयानन्द सरस्वती ऋग्वेद के पाठ में भी 'देवृकामा' पाठ ही मानते हैं । इस की पुष्टि संस्कारविधि के प्रथम सं० से होती है । प्र० संस्करण पृष्ठ ६१ पं०६ में ऋङ्मन्त्र पाठ में 'देवकामा' पाठ छप गया था, परन्तु संशोधन पत्र पृष्ठ ६ कालम २ में 'देवका' का 'देवृका' शुद्ध पाठ दर्शाया है । प्र० संस्करण पृष्ठ ८४ पं० २३ में पारस्करगृह्य के पाठ में भी प्रकृत मन्त्र में 'देवृकामा' पाठ ही मिलता है ।

२. ऋग्वेद १०।८५।४४॥ व्याहृतियां मन्त्रपाठ में नहीं हैं ।

३. पार० गृह्य० १।४।१६॥ व्याहृतियां मन्त्रपाठ में नहीं हैं । सं० वि० सं० २ में मुद्रित 'उशति' अशुद्ध पाठ २४वें संस्करण तक छपता रहा है, जब कि सं० २ के शुद्धिपत्र, पृष्ठ २ कालम २ में ही इसका 'उशती' संशोधन कर दिया गया था ।

इन ४चार मन्त्रों को वर बोलके, दोनों वर वधू यज्ञकुण्ड की प्रदक्षिणा करके, कुण्ड के पश्चिम भाग में प्रथम स्थापन किये हुये आसन पर पूर्वाभिमुख वर के दक्षिण भाग में वधू और वधू के बाम भाग में वर बैठके, वधू—

ओं प्र मे पतियानः पन्थाः कल्पताᳬ शिवा अरिष्टा पतिलोकं गमेयम् ॥[1]

इस मन्त्र को बोले।

[विवाह-यज्ञ का आरम्भ]

तत्पश्चात् पृष्ठ २८-२९ में लिखे प्रमाणे यज्ञकुण्ड के समीप दक्षिण भाग में उत्तराभिमुख पुरोहित की स्थापना करनी[2]। तत्पश्चात् पृष्ठ २९ में लिखे प्रमाणे "**ओम् अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा**" इत्यादि तीन मन्त्रों में प्रत्येक मन्त्र से एक-एक आचमन, वैसे तीन आचमन वर वधू और पुरोहित और कार्यकर्त्ता करके, हस्त और मुख प्रक्षालन एक शुद्धपात्र में करके दूर रखवा दे हाथ और मुख पोंछके पृ० ३० में लिखे यज्ञकुण्ड में (**ओं भूर्भुवः स्वर्द्यौरिव०**) इस मन्त्र से अग्न्याधान, पृ० ३१ में लिखे प्रमाणे (**ओम् अयन्त इध्म०**) इत्यादि मन्त्रों से समिदाधान, और पृष्ठ ३२ में लिखे प्रमाणे '**ओम् अदितेऽनुमन्यस्व**' इत्यादि ३ तीन मन्त्रों से कुण्ड की तीन ओर, और (**ओं देव सवितः प्रसुव०**) इस मन्त्र से कुण्ड की चारों ओर दक्षिण हाथ की अञ्जलि से शुद्ध जल सेचन करके, कुण्ड में डाली हुई समिधा प्रदीप्त हुए पश्चात् पृष्ठ ३३ में लिखे प्रमाणे वधू वर पुरोहित और कार्यकर्त्ता आघारावाज्यभागाहुति[3] ४ चार घी की देवें। तत्पश्चात् पृ० ३४ में लिखे प्रमाणे व्याहृति आहुति[4] ४ चार घी की, और पृष्ठ

---

१. मन्त्र ब्रा० १।१।८॥ 'पतियान' एकं पदमिति सायणः, 'पति या नः' पदत्रयमिति गुणविष्णुः।

२. अर्थात् इस समय अपने परिवार के यज्ञ आदि गृह्य कर्म कराने के लिये किसी पुरोहित को सदा के लिये नियत करना चाहिये। आगे का कार्य यही पुरोहित करायेगा।

३. 'अग्नये स्वाहा' आदि मन्त्रों से। ४. भूरग्नये स्वाहा' आदि मन्त्रों से।

३६-३७ में लिखे प्रमाणे अष्टाज्याहुति[1] ८ आठ, ये सब मिलके १६ सोलह आज्याहुति देके प्रधान होम का प्रारम्भ करें।

[प्रधान होम]

प्रधान होम के समय वधू अपने दक्षिण हाथ को वर के दक्षिण स्कन्धे पर स्पर्श करके पृ० ३५-३६ में लिखे प्रमाणे (ओं भूर्भुवः स्वः। अग्न आयूंषि०) इत्यादि ४ चार मन्त्रों से अर्थात् एक-एक से एक-एक मिलके ४ चार आज्याहुति क्रम से करें। और—

ओं भूर्भुवः स्वः। त्वमर्यमा भवसि यत्कनीनां नाम स्वधावन्गुह्यं बिभर्षि। अञ्जन्ति मित्रं सुधितं न गोभिर्यद्दम्पती समनसा कृणोषि स्वाहा॥ इदमग्नये—इदन्न मम॥[2]

इस मन्त्र को बोलके ५ पांचवी आज्याहुति देनी। तत्पश्चात्—

ओम् ऋताषाडृतधामाग्निर्गन्धर्वः। स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट्॥ इदमृताषाहे ऋतधाम्नेऽग्नये गन्धर्वाय—इदन्न मम॥१॥

ओम् ऋताषाडृतधामाग्निर्गन्धर्वस्तस्यौषधयोऽप्सरसो मुदो नाम। ताभ्यः स्वाहा॥ इदमोषधिभ्योऽप्सरोभ्यो मुद्भ्यः—इदन्न मम॥२॥

ओं सꣳहितो विश्वसामा सूर्यो गन्धर्वः। स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट्॥ इदं सꣳहिताय विश्वसाम्ने सूर्याय गन्धर्वाय—इदन्न मम॥३॥

ओं सꣳहितो विश्वसामा सूर्यो गन्धर्वस्तस्य मरीचयोऽप्स-

---

१. 'त्वन्नो अग्ने०' आदि मन्त्रों से। २. ऋ० ५।३।२॥ व्याहृतियां, स्वाहा पद तथा 'इदं—न मम' मन्त्र से बहिर्भूत हैं।

रसं आयुवो नाम । ताभ्यः स्वाहा ॥ इदं मरीचिभ्योऽप्सरोभ्य आयुभ्यः –इदन्न मम ॥४॥

ओं सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वः । स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ॥ इदं सुषुम्णाय सूर्यरश्मये चन्द्रमसे गन्धर्वाय–इदन्न मम ॥५॥

ओं सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वस्तस्य नक्षत्राण्यप्सरसो भेकुरयो नाम । ताभ्यः स्वाहा ॥ इदं नक्षत्रेभ्योऽप्सरोभ्यो भेकुरिभ्यः–इदन्न मम ॥६॥

ओम् इषिरो विश्वव्यचा वातो गन्धर्वः । स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ॥ इदमिषिराय विश्वव्यचसे वाताय गन्धर्वाय--इदन्न मम ॥७॥

ओम् इषिरो विश्वव्यचा वातो गन्धर्वस्तस्यापो अप्सरस ऊर्जो नाम । ताभ्यः स्वाहा ॥ इदमद्भ्योऽप्सरोभ्यऽऊर्भ्यः-इदन्न मम ॥८॥

ओं भुज्युः सुपर्णो यज्ञो गन्धर्वः । स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ॥ इदं भुज्यवे सुपर्णाय यज्ञाय गन्धर्वाय-इदन्न मम ॥९॥

ओं भुज्युः सुपर्णो यज्ञो गन्धर्वस्तस्य दक्षिणा अप्सरसः स्तावा नाम । ताभ्यः स्वाहा ॥ इदं दक्षिणाभ्योऽप्सरोभ्यः स्तावाभ्यः--इदन्न मम ॥१०॥

ओं प्रजापतिर्विश्वकर्मा मनो गन्धर्वः । स न इदं ब्रह्म

क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ॥ इदं प्रजापतये विश्वकर्मणे मनसे गन्धर्वाय--इदन्न मम ॥११॥

ओं प्रजापतिर्विश्वकर्मा मनो गन्धर्वस्तस्य ऋक्सामान्यप्सरस एष्टयो नाम। ताभ्यः स्वाहा ॥ इदमृक्सामेभ्योऽप्सरोभ्य एष्टिभ्यः--इदन्न मम ॥१२॥[1]

इन १२ बारह मन्त्रों से १२ बारह आज्याहुति देनी।
तत्पश्चात् जयाहोम करना—

ओं चित्तं च स्वाहा ॥ इदं चित्ताय---इदन्न मम ॥१॥
ओं चित्तिश्च स्वाहा ॥ इदं चित्त्यै—इदन्न मम ॥२॥
ओम् आकूतं च स्वाहा ॥ इदमाकूताय---इदन्न मम ॥३॥
ओम् आकूतिश्च स्वाहा ॥ इदमाकूत्यै— इदन्न मम ॥४॥
ओं विज्ञातं च स्वाहा ॥ इदं विज्ञाताय–इदन्न मम ॥५॥
ओं विज्ञातिश्च स्वाहा ॥ इदं विज्ञात्यै–इदन्न मम ॥६॥
ओं मनश्च स्वाहा ॥ इदं मनसे–इदन्न मम ॥७॥
ओं शक्करीश्च स्वाहा ॥ इदं शक्करीभ्यः –इदन्न मम ॥८॥
ओं दर्शश्च स्वाहा ॥ इदं दर्शाय–इदन्न मम ॥९॥
ओं पौर्णमासं च स्वाहा॥ इदं पौर्णमासाय–इदन्न मम।१०।
ओं बृहच्च स्वाहा ॥ इदं बृहते–इदन्न मम ॥ ११ ॥
ओं रथन्तरं च स्वाहा ॥ इदं रथन्तराय–इदन्न मम॥१२॥
ओं प्रजापतिर्जयानिन्द्राय वृष्णे प्रायच्छदुग्रः पृतना जयेषु।

---

१. यजु० १८।३८-४३॥ इन मन्त्रों में 'इदं न .... मम' त्यागांश मन्त्र से बहिर्भूत हैं। प्रारम्भिक ८ मन्त्रों के प्रथम पद के दो दो अक्षर अनुदात्त हैं, परन्तु उदात्त 'ओम्' का संयोग होने से प्रथम अनुदात्त अक्षर को स्वरित हो जाता है। अतः हमने यहां ओम् के साथ यथाशास्त्र संहिता-स्वर स्वरित दर्शाया है।

तस्मै विशः समनमन्त सर्वाः स उग्रः स इ हव्यो बभूव स्वाहा ॥ इदं प्रजापतये जयानिन्द्राय—इदन्न मम ॥१३॥[1]

इन प्रत्येक मन्त्रों से एक-एक करके जयाहोम की १३ तेरह आज्याहुति देनी ।

तत्पश्चात् अभ्यातन होम करना । इसके मन्त्र ये हैं—

ओम् अग्निर्भूतानामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याᳫं स्वाहा ॥ इदमग्नये भूतानामधिपतये— इदन्न मम ॥१॥

ओम् इन्द्रो ज्येष्ठानामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याᳫं स्वाहा ॥ इदमिन्द्राय ज्येष्ठानामधिपतये—इदन्न मम ॥२॥

ओं यमः पृथिव्याऽअधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायमस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याᳫं स्वाहा ॥ इदं यमाय पृथिव्या अधिपतये— इदन्न मम ॥३॥

ओं वायुरन्तरिक्षस्याधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याᳫं स्वाहा ॥ इदं वायवे अन्तरिक्षस्याधिपतये— इदन्न मम ॥४॥

ओं सूर्यो दिवोऽधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याᳫं स्वाहा ॥ इदं सूर्याय दिवोधिपतये—इदन्न मम ॥५॥

ओं चन्द्रमा नक्षत्राणामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याᳫं स्वाहा ॥ इदं चन्द्रमसे नक्षत्राणामधिपतये—इदन्न मम ॥६॥

---

१. द्र०—पार० गृह्य १।५।६॥ इन मन्त्रों में त्यागांश मन्त्र से बहिर्भूत है । इसी प्रकार प्रथम १२ मन्त्रों में 'स्वाहा' पद भी 'स्वाहाकारप्रदानाः' नियम से संयोजित पद है । 'स इ हव्यो' में 'इ' इवार्थक है ।

ओं बृहस्पतिर्ब्रह्मणोऽधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याꣳ स्वाहा ॥ इदं बृहस्पतये ब्रह्मणोऽधिपतये—इदन्न मम ॥७॥

ओं मित्रः सत्यानामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याꣳ स्वाहा ॥ इदं मित्राय सत्यानामधिपतये—इदन्न मम ॥८॥

ओं वरुणोऽपामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याꣳ स्वाहा ॥ इदं वरुणायापामधिपतये—इदन्न मम ॥९॥

ओं समुद्रः स्रोत्यानामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याꣳ स्वाहा ॥ इदं समुद्राय स्रोत्यानामधिपतये—इदन्न मम ॥१०॥

ओम् अन्नꣳ साम्राज्यानामधिपतिस्तन्मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याꣳ स्वाहा ॥ इदमन्नाय साम्राज्यानामधिपतये—इदन्न मम ॥११॥

ओं सोमऽओषधीनामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याꣳ स्वाहा ॥ इदं सोमाय ओषधीनामधिपतये—इदन्न मम ॥१२॥

ओं सविता प्रसवानामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याꣳ स्वाहा ॥ इदं सवित्रे प्रसवानामधिपतये—इदन्न मम ॥१३॥

ओं रुद्रः पशूनामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याꣳ

स्वाहा ॥ इदं रुद्राय पशूनामधिपतये—इदन्न मम ॥१४॥

ओं त्वष्टा रूपाणामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याᳬ स्वाहा ॥ इदं त्वष्ट्रे रूपाणामधिपतये—इदन्न मम ॥१५॥

ओं विष्णुः पर्वतानामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याᳬ स्वाहा ॥ इदं विष्णवे पर्वतानामधिपतये—इदन्न मम ॥१६॥

ओं मरुतो गणानामधिपतयस्ते मावन्त्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याᳬ स्वाहा ॥ इदं मरुद्भ्यो गणानामधिपतिभ्यः—इदन्न मम ॥१७॥

ओं पितरः पितामहाः परेऽवरे ततास्ततामहा इह मावन्त्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याᳬ स्वाहा ॥ इदं पितृभ्यः पितामहेभ्यः परेभ्योऽवरेभ्यस्ततेभ्यस्ततामहेभ्यश्च—इदन्न मम ॥१८॥[1]

इस प्रकार अभ्यातन होम की १८ अठारह आज्याहुति दिये पीछे, पुनः—

[अष्ट आज्याहुति]

ओम् अग्निरैतु प्रथमो देवतानाᳬ सोऽस्यै प्रजां मुञ्चतु मृत्युपाशात् । तदयᳬ राजा वरुणोऽनुमन्यतां यथेयᳬ स्त्री पौत्रमघन्न रोदात् स्वाहा ॥ इदमग्नये—इदन्न मम ॥१॥

ओम् इमामग्निस्त्रायतां गार्हपत्यः प्रजामस्यै नयतु दीर्घमायुः । अशून्योपस्था जीवतामस्तु माता पौत्रमानन्दमभिविबुध्यतामियᳬ स्वाहा ॥ इदमग्नये—इदन्न मम ॥२॥

ओं स्वस्ति नोऽग्ने दिवा पृथिव्या विश्वानि धेह्ययथा

---

१. द्र०—पार० गृह्य १।५।१०॥

यजत्र । यदस्यां मयि दिवि जातं प्रशस्तं तदस्मासु द्रविणं धेहि चित्रꣳ स्वाहा ॥ इदमग्नये—इदन्न मम ॥३॥

ओं सुगन्नु पन्थां प्रदिशन्न एहि ज्योतिष्मध्ये ह्यजरन्न ऽआयुः । अपैतु मृत्युरमृतं म ऽआगाद्वैवस्वतो नो ऽअभयं कृणोतु स्वाहा ॥ इदं वैवस्वताय—इदन्न मम ॥४॥

ओं परं मृत्योऽअनु परेहि पन्थां यत्र नोऽअन्य इतरो देवया[illegible]ते शृण्वते ते ब्रवीमि मा नः प्रजाꣳ रीरिषो मोत वीरान्त्स्वाहा ॥ इदं मृत्यवे—इदन्न मम ॥५॥[2]

ओं द्यौस्ते पृष्ठꣳ रक्षतु वायुरूरू अश्विनौ च । स्तनन्धयस्ते पुत्रान्त्सविताभिरक्षत्वावाससः परिधानाद्[3] बृहस्पतिर्विश्वे देवा अभिरक्षन्तु पश्चात्स्वाहा ॥ इदं विश्वेभ्यो देवेभ्यः—इदन्न मम ।६।

ओं मा ते गृहेषु निशि घोष उत्थादन्यत्र त्वद्रुदत्यः संविशन्तु मा त्वꣳ रुदत्युरऽआवधिष्ठा जीवपत्नी पतिलोके विराज पश्यन्ती प्रजाꣳ सुमनस्यमानाꣳ स्वाहा ॥ इदमग्नये—इदन्न मम ॥७॥

ओम् अप्रजस्यं पौत्रमर्त्यपाप्मानमुत वाऽ अघम् । शीर्ष्णस्रजमिवोन्मुच्य द्विषद्भ्यः प्रतिमुञ्चामि पाशꣳ स्वाहा ॥ इदमग्नये—इदन्न मम ॥८॥[4]

इन प्रत्येक मन्त्रों से एक-एक आहुति करके ८ आठ आज्याहुति दीजिये ।

तत्पश्चात् पृष्ठ ३४ में लिखे प्रमाणे 'ओं भूरग्नये स्वाहा' इत्यादि ४ चार मन्त्रों से ४ चार आज्याहुति दीजिये ।

---

१. पार० गृह्य में 'नः' पाठ भी मिलता है ।

२. द्र०—पार० गृह्य १।५।११,१२॥

३. सं० २,३ में 'परिधात्' मुद्रणरूप अपपाठ है ।

४. मन्त्र ब्रा० १।१।१२-१४॥ 'इदं...न मम' मन्त्रपाठ में नहीं है ।

[प्रतिज्ञा-विधि]

ऐसे होम करके वर आसन से उठ पूर्वाभिमुख बैठी वधू के सम्मुख पश्चिमाभिमुख खड़ा रहकर, अपने वामहस्त से वधू का दहिना हाथ चत्ता धरके ऊपर को उचाना। और अपने दक्षिण हाथ से वधू के उठाये हुए दक्षिण हस्ताञ्जलि अंगुष्ठासहित चत्ती ग्रहण करके, वर—

ओं गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः।
भगो अर्यमा सविता पुरन्धिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः ॥१॥[1]

ओं भगस्ते हस्तमग्रभीत् सविता हस्तमग्रभीत्।
पत्नी त्वमसि धर्मणाहं गृहपतिस्तव ॥२॥[2]

हे वरानने ! जैसे मैं (सौभगत्वाय) ऐश्वर्य सुसन्तानादि सौभाग्य की बढ़ती के लिये (ते) तेरे (हस्तम्) हाथ को (गृभ्णामि) ग्रहण करता हूं, तू (मया) मुझ (पत्या) पति के साथ (जरदष्टिः) जरावस्था को प्राप्त सुखपूर्वक (आसः) हो। तथा हे वीर ! मैं सौभाग्य की वृद्धि के लिये आप के हस्त को ग्रहण करती हूं। आप मुझ पत्नी के साथ वृद्धावस्था पर्यन्त प्रसन्न और अनुकूल रहिये। आपको मैं और मुझ को आप आज से पति-पत्नी भाव करके प्राप्त हुए हैं। (भगः) सकल ऐश्वर्ययुक्त (अर्यमा) न्यायकारी (सविता) सब जगत् की उत्पत्ति का कर्त्ता (पुरन्धिः) बहुत प्रकार के जगत् का धर्ता परमात्मा और (देवाः) ये सब सभामण्डप में बैठे हुए विद्वान् लोग (गार्हपत्याय) गृहाश्रम कर्म के अनुष्ठान के लिए (त्वा) तुझको (मह्यम्) मुझे (अदुः) देते हैं। आज से मैं आप के हस्ते और आप मेरे हाथ बिक चुके हैं। कभी एक दूसरे का अप्रियाचरण न करेंगे ॥ द० स०

हे प्रिये ! (भगः) ऐश्वर्ययुक्त मैं (ते) तेरे (हस्तम्) हाथ को (अग्रभीत्) ग्रहण करता हूं। तथा (सविता) धर्मयुक्त मार्ग में प्रेरक मैं तेरे (हस्तम्) हाथ को (अग्रभीत्) ग्रहण कर चुका हूं। (त्वम्) तू (धर्मणा) धर्म से मेरी (पत्नी) भार्या (असि) है, और (अहम्) मैं धर्म से (तव)

---

१. ऋ० १०।८५।३६॥

२. द्र०—अथर्व १४।१।५१॥ 'अग्रभीत्' के स्थान पर 'अग्रहीत्' पाठ है। आपस्तम्ब मन्त्र-पाठ (२।३।१०) तथा शाङ्खायन गृह्य (२।३।१) में 'अग्रभीत्' पाठ है।

ममेयमस्तु पोष्या मह्यं त्वादाद् बृहस्पतिः ।
मया पत्या प्रजावति शं जीव शरदः शतम् ॥३॥[1]

त्वष्टा वासो व्यदधाच्छुभे कं बृहस्पतेः प्रशिषा कवीनाम् ।
तेनेमां नारीं सविता भगश्च सूर्यामिव परि धत्तां प्रजया ॥४॥[2]

तेरा (गृहपतिः) गृहपति हूं । अपने दोनों मिलके घर के कामों की सिद्धि करें । और जो दोनों का अप्रियाचरण व्यभिचार है, उसको कभी न करें । जिससे घर के सब काम सिद्ध, उत्तम सन्तान, ऐश्वर्य और सुख की बढ़ती सदा होती रहे ॥ द० स०

हे अनघे ! (बृहस्पतिः) सब जगत् के पालन करनेहारे[3] परमात्मा ने जिस (त्वा) तुझको (मह्यम्) मुझे (अदात्) दिया है, (इदम्) यही तू जगत् भर में मेरी (पोष्या) पोषण करने योग्य पत्नी (अस्तु) हो । हे (प्रजावति) तू (मया पत्या) मुझ पति के साथ (शतम्) सौ (शरदः) शरद् ऋतु अर्थात् शतवर्ष पर्यन्त (शं जीव) सुखपूर्वक जीवन धारण कर । वैसे ही वधू भी वर से प्रतिज्ञा करावे—हे भद्रवीर ! परमेश्वर की कृपा से आप मुझे प्राप्त हुये हो । मेरे लिये आपके विना इस जगत् में दूसरा पति अर्थात् स्वामी पालन करनेहारा सेव्य इष्टदेव कोई नहीं है । न मैं आपसे अन्य दूसरे किसी को मानूंगी । जैसे आप मेरे सिवाय दूसरी किसी स्त्री से प्रीति न करोगे, वैसे मैं भी किसी दूसरे पुरुष के साथ प्रीतिभाव से न वर्त्ता करूंगी । आप मेरे साथ सौ वर्ष पर्यन्त आनन्द से प्राण धारण कीजिए ॥ द० स०

हे शुभानने ! जैसे (बृहस्पतेः) इस परमात्मा की सृष्टि में और उसकी तथा (कवीनाम्) आप्त विद्वानों की (प्रशिषा) शिक्षा से दम्पती होते हैं, (त्वष्टा) जैसे विजुली सबको व्याप्त हो रही है, वैसे तू मेरी प्रसन्नता के लिए (वासः) सुन्दर वस्त्र और (शुभे) [शोभा के लिये] आभूषण तथा (कम्) मुझसे सुख को प्राप्त हो । इस मेरी और तेरी इच्छा को परमात्मा (व्यदधात्) सिद्ध करे । जैसे (सविता) सकल जगत् की उत्पत्ति करनेहारा परमात्मा (च) और (भगः) पूर्ण ऐश्वर्ययुक्त (प्रजया) उत्तम प्रजा से (इमाम्) इस तुझ (नारीम्) मुझ

---

१. द्र०—अथर्व १४।१।५२॥ वहां 'शं जीव' के स्थान में 'सं जीव' पाठ है ।
२. अथर्व १४।१।५३॥
३. 'जगत् का पालन करनेहारा' संस्करण २ का पाठ ।

इन्द्राग्नी द्यावापृथिवी मातरिश्वा मित्रावरुणा भगो अश्विनोभा ।
बृहस्पतिर्मरुतो ब्रह्म सोम इमां नारीं प्रजया वर्धयन्तु* ॥५॥[1]
अहं वि ष्यामि मयि रूपमस्या वेददित् पश्यन्मनसः कुलायम् ।
न स्तेयमद्मि मनसोदमुच्ये स्वयं श्रथ्नानो वरुणस्य पाशान्† ॥६॥[2]

नर की स्त्री को (परिधत्ताम्) आच्छादित शोभायुक्त करे, वैसे मैं (तेन) इस सब से (सूर्यामिव) सूर्य की किरण के समान तुझको वस्त्र और भूषणादि से सुशोभित सदा रक्खूंगा । तथा हे प्रिय ! आपको मैं इसी प्रकार सूर्य के समान सुशोभित आनन्द अनुकूल प्रियाचरण करके (प्रजया) ऐश्वर्य वस्त्राभूषण आदि से सदा आनन्दित रक्खूंगी ॥ द० स०

*हे मेरे सम्बन्धी लोगो ! जैसे (इन्द्राग्नी) बिजुली और प्रसिद्ध अग्नि, (द्यावापृथिवी) सूर्य और भूमि, (मातरिश्वा) अन्तरिक्षस्थ वायु, (मित्रावरुणा) प्राण और उदान, तथा (भगः) ऐश्वर्य (अश्विना) सद्वैद्य और सत्योपदेशक (उभा) दोनों (बृहस्पतिः) श्रेष्ठ, न्यायकारी, बड़ी प्रजा का पालन करनेहारा राजा (मरुतः) सभ्य मनुष्य, (ब्रह्म) सबसे बड़ा परमात्मा और (सोमः) चन्द्रमा तथा सोमलतादि ओषधिगण सब प्रजा की वृद्धि और पालन करते हैं, वैसे (इमां नारीम्) इस मेरी स्त्री को (प्रजया) प्रजा से बढ़ाया करते हैं, वैसे तुम भी (वर्धयन्तु) बढ़ाया करो । जैसे मैं इस स्त्री को प्रजा आदि से सदा बढ़ाया करूंगा, वैसे स्त्री भी प्रतिज्ञा करे कि मैं भी इस मेरे पति को सदा आनन्द ऐश्वर्य और प्रजा से बढ़ाया करूंगी । जैसे ये दोनों मिलके प्रजा को बढ़ाया करते हैं, वैसे तू और मैं मिलके गृहाश्रम के अभ्युदय को बढ़ाया करें ॥ द० स०

†हे कल्याणक्रोडे ! जैसे (मनसः) मन से[3] (कुलायम्) कुल की वृद्धि को (पश्यन्) देखता हुआ (अहम्) मैं (अस्याः) इस तेरे (रूपम्) रूप को

---

१. अथर्व १४।१।५४॥

२. अथर्व १४।१।५७॥ द्वि० सं० में छपे 'मनसा कुलायम्' में 'मनसा' अपपाठ का शुद्धिपत्र में 'मनसः' शोधन किया गया है । इसी प्रकार 'श्रन्थानो' अपपाठ का शोधन भी 'श्रथ्नानो' विद्यमान है । परन्तु ये दोनों अपपाठ वैदिक यं० के २४वें सं० तक छपते रहे । भाषार्थ में 'मनसा' अपपाठ ही मिलता है । उसका संशोधन भी करना चाहिए था, परन्तु वह २४ संस्करण तक न हुआ ।

३. विभक्तिव्यत्यय से ।

इन पाणिग्रहण के ६ छः मन्त्रों को बोलके, पश्चात् वर वधू की हस्ताञ्जलि पकड़के उठावे, और उसको साथ लेके जो [कलश] कुण्ड की दक्षिण दिशा में प्रथम स्थापन किया था, उसको वही पुरुष जो कलश के पास बैठा था, वर-वधू के साथ-साथ उसी कलश को ले [कर] चले। यज्ञकुण्ड की दोनों प्रदक्षिणा करके—

ओम् अमोऽहमस्मि सा त्वꣳ सा त्वमस्यमोऽहम्। सामाहमस्मि ऋक्त्वं द्यौरहं पृथिवी त्वं तावेव विवहावहै सह रेतो दधावहै। प्रजां प्रजनयावहै पुत्रान् विन्दावहै बहून्। ते सन्तु जरदष्टयः संप्रियौ रोचिष्णू सुमनस्यमानौ। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतम्* ॥७॥[1]

(विष्यामि) प्रीति से प्राप्त और इसमें प्रेम द्वारा व्याप्त होता हूं, वैसे यह तू मेरी वधू (मयि) मुझमें प्रेम से व्याप्त होके अनुकूल व्यवहार को (वेदत्) प्राप्त होवे। जैसे मैं (मनसा) मन से भी इस तुझ वधू के साथ (स्तेयम्) चोरी को (उद्मुच्ये) छोड़ देता हूं, और किसी उत्तम पदार्थ का चोरी से (नाद्मि) भोग नहीं करता हूं, (स्वयम्) आप (श्रथ्नानः) पुरुषार्थ से शिथिल होकर भी (वरुणस्य) उत्कृष्ट व्यवहार में विघ्नरूप दुर्व्यसनी पुरुष के (पाशान्) बन्धनों को दूर करता रहूं, वैसे (इत्) ही यह वधू भी किया करे। इसी प्रकार वधू भी स्वीकार करे कि—मैं इसी प्रकार आपसे वर्त्ता करूंगी॥ द० स०

*हे वधू! जैसे (अहम्) मैं (अमः) ज्ञानवान् ज्ञानपूर्वक तेरा ग्रहण करनेवाला (अस्मि) होता हूं, वैसे (सा) सो (त्वम्) तू भी ज्ञानपूर्वक मेरा ग्रहण करनेहारी (असि) है। जैसे (अहम्) मैं अपने पूर्ण प्रेम से तुझ को (अमः) ग्रहण करता हूं, वैसे (सा) सो मैंने ग्रहण की हुई (त्वम्) तू मुझको भी ग्रहण करती है। (अहम्) मैं (साम) सामवेद के तुल्य प्रशंसित (अस्मि) हूं, हे वधू! तू (ऋक्) ऋग्वेद के तुल्य प्रशंसित है। (त्वम्) तू (पृथिवी) पृथिवी के समान गर्भादि गृहाश्रम के व्यवहारों को धारण करनेहारी है, और मैं (द्यौः) वर्षा करनेहारे सूर्य के समान हूं। वह तू और मैं (तावेव) दोनों

---

१. तु०—पार० गृह्य १।६।३॥ इस गृह्य में 'तावेव' के स्थान में 'तावेहि' और 'विन्दावहै' के स्थान में 'विन्द्यावहै' पाठ है। जयराम गदाधर 'तावेव आवाम्' व्याख्यान करते हैं।

इन प्रतिज्ञा-मन्त्रों से दोनों प्रतिज्ञा करके ।

[शिलारोहण-विधि]

पश्चात् वर वधू के पीछे रहके, वधू के दक्षिण ओर समीप में जा उत्तराभिमुख खड़ा रहके, वधू की दक्षिणाञ्जली अपनी दक्षिणाञ्जली से पकड़के दोनों खड़े रहें । और वह पुरुष पुनः कुण्ड के दक्षिण में कलश लेके वैसे बैठे । तत्पश्चात् वधू की माता अथवा भाई, जो प्रथम चावल और ज्वार की धाणी सूप में रखी थी, उस को बायें हाथ में लेके दहिने हाथ से वधू का दक्षिण पग उठवाके पत्थर की शिला पर चढ़वावे । और उस समय वर—

ओम् आरोहेममश्मानमश्मेव त्वꣳ स्थिरा भव ।
अभितिष्ठ पृतन्यतोऽवबाधस्व पृतनायतः ॥१॥[1]

इस मन्त्र को बोले ।

[लाजा-होम]

तत्पश्चात् वधू वर कुण्ड के समीप आके पूर्वाभिमुख दोनों खड़े रहें । और यहां वधू दक्षिण ओर रहके अपनी हस्ताञ्जली को वर की हस्ताञ्जली पर रक्खे ।

तत्पश्चात् वधू की मां वा भाई, जो बायें हाथ में धाणी का सूपड़ा पकड़के खड़ा रहा हो, वह धाणी का सूपड़ा भूमि पर धर, अथवा किसी

ही (विवहावहै) प्रसन्नतापूर्वक विवाह करें । (सह) साथ मिल के (रेतः) वीर्य को (दधावहै) धारण करें । (प्रजाम्) उत्तम प्रजा को (प्रजनयावहै) उत्पन्न करें । (बहून्) बहुत (पुत्रान्) पुत्रों को (विन्दावहै) प्राप्त होवें । (ते) वे पुत्र (जरदष्टयः) जरावस्था के अन्त तक जीवनयुक्त (सन्तु) रहें । (संप्रियौ) अच्छे प्रकार [एक] दूसरे से प्रसन्न, (रोचिष्णू) [एक] दूसरे में रुचियुक्त, (सुमनस्यमानौ) एक [दूसरे से] अच्छे प्रकार विचार करते हुये (शतम्) सौ (शरदः) शरदऋतु अर्थात् शत वर्ष पर्यन्त एक दूसरे को प्रेम की दृष्टि से (पश्येम) देखते रहें । (शतं शरदः) सौ वर्ष पर्यन्त आनन्द से (जीवेम) जीते रहें । और (शतं शरदः) सौ वर्ष पर्यन्त प्रिय वचनों को (शृणुयाम) सुनते रहें ॥ द० स०

---

१. पार० गृह्य १।७।१॥

के हाथ में देके, जो वधू-वर की एकत्र की हुई अर्थात् नीचे वर की और ऊपर वधू की हस्ताञ्जली है, उसमें प्रथम थोड़ा घृत सिंचन करके, पश्चात् प्रथम सूप में से दहिने हाथ की अञ्जली से दो वार लेके वर-वधू की एकत्र की हुई अञ्जली में धाणी डाले। पश्चात् उस अञ्जलीस्थ धाणी पर थोड़ासा घी सिंचन करे। पश्चात् वधू वर की हस्ताञ्जली सहित अपनी हस्ताञ्ली को आगे से नमाके—

ओम् अर्यमणं देवं कन्या अग्निमयक्षत। स नो अर्यमा देवः प्रेतो मुञ्चतु मा पतेः स्वाहा॥ इदमर्यम्णे अग्नये—इदन्न मम॥१॥[1]

ओम् इयं नार्युपब्रूते लाजानावपन्तिका। आयुष्मानस्तु मे पतिरेधन्तां ज्ञातयो मम स्वाहा॥ इदमग्नये—इदन्न मम॥२॥[2]

ओम् इमाँल्लाजानावपाम्यग्नौ समृद्धिकरणं तव। मम तुभ्यं च संवननं तदग्निरनुमन्यतामियꣳ स्वाहा॥ इदमग्नये—इदन्न मम॥३॥[3]

इन तीन मन्त्रों में एक-एक मन्त्र से एक-एक वार थोड़ी-थोड़ी धाणी की आहुति तीन वार[4] प्रज्वलित इन्धन पर देके, वर—

ओं सरस्वति प्रेदमव सुभगे वाजनीवति। यान्त्वा विश्वस्य भूतस्य प्रजायामस्याग्रतः। यस्यां भूतꣳ समभवद् यस्यां

---

१. पार० गृह्य १।६।२॥ बम्बई के गुजराती प्रेस में छपे पार० में 'कन्याऽग्नि०' पाठ है, यह चिन्त्य है। अन्य गृह्यसूत्रों में 'कन्या अग्नि०' ही पाठ है। 'इद—न मम' पाठ मन्त्र के बहिर्भूत है।

२. पार० गृह्य १।६।२॥ 'इद—न मम' पाठ मन्त्र से बहिर्भूत है।

३. पार० गृह्य १।६।२॥ द्वि० संस्करण में मुद्रित 'संवदनं' अपपाठ का शोधन शुद्धिपत्र में 'संवननं' दर्शाने पर भी अ० मु० संस्करणों में चिरकाल तक अपपाठ ही छपता रहा।

४. तीन-तीन मन्त्रों से प्रत्येक वार आहुति देना पारस्कर गृह्यसूत्र (१।७।४) के अनुसार है (द्र०—पा० गृ० टीकाएं)। गोभिल आदि गृह्य-

विश्वमिदं जगत् । तामद्य गाथां गास्यामि या स्त्रीणामुत्तमं यशः ॥[1]

इस मन्त्र को बोलके अपने जमणे हाथ की हस्ताञ्जली से वधू की हस्ताञ्जली पकड़के, वर—

ओं तुभ्यमग्रे पर्यवहन्त्सूर्यां वहतुना सह ।
पुनः पतिभ्यो जायां दा अग्ने प्रजया सह ॥१॥[2]

ओं कन्यला पितृभ्यः पतिलोकं यतीयमप दीक्षामयष्ट ।
कन्या उत त्वया वयं धारा उदन्या इवातिगाहेमहि द्विषः ॥२॥[3]

इन मन्त्रों को पढ़ यज्ञकुण्ड की प्रदक्षिणा करके यज्ञकुण्ड के पश्चिम भाग में पूर्व की ओर मुख करके थोड़ी देर दोनों खड़े रहें ।

तत्पश्चात् पूर्वोक्त प्रकार कलश सहित यज्ञकुण्ड की प्रदक्षिणा कर, पुनः दो वार इसी प्रकार, अर्थात् सब मिलके ४ चार परिक्रमा करके, अन्त में यज्ञकुण्ड के पश्चिम में थोड़ा खड़े रहके, उक्त रीति से तीन वार क्रिया पूरी हुये पश्चात् यज्ञकुण्ड के पश्चिम भाग में पूर्वाभिमुख वधू-वर खड़े रहें । पश्चात् वधू की मां अथवा भाई उस सूप को तिरछा करके [उसमें] बाकी रही हुई धाणी को वधू की हस्ताञ्जली में डाल देवे । पश्चात् वधू—

ओं भगाय स्वाहा ॥ इदं भगाय—इदन्न मम ॥[4]

इस मन्त्र को बोलके प्रज्वलित अग्नि पर वेदी में उस धाणी

सूत्रों के अनुसार एक बार में एक मन्त्र से आहुति देने का विधान है (द्र०—गो० गृ० २।२।७) ।

१. पार० गृह्य १।७।२॥

२. ऋ० १०।८५।३८॥ पार० गृ० १।७।३ में 'दाऽग्ने' पाठ मिलता है । ब्लूमफील्ड ने वैदिक कान्कार्डेन्स में पार० का भी 'दा अग्ने' पाठ दिखाया है । कर्क आदि टीकाकार 'दाग्ने' पाठ ही मानकर व्याख्या करते हैं । सं० विधि के द्वि० संस्करण में 'दाग्ने' पाठ छपा था, परन्तु संशोधनपत्र में 'दा अग्ने' शोधन के पश्चात् भी १२ वें संस्करण तक 'दाग्ने' पाठ और ऋग्वेद का पता छपता रहा ।

३. मन्त्रब्रा० १।२।५॥

४. पार० गृह्य १।७।५॥ 'इदं ·· मम' पाठ मन्त्र से बहिर्भूत है ।

की एक आहुति देवे। पश्चात् वर वधू को दक्षिण भाग में रखके कुण्ड के पश्चिम [में] पूर्वाभिमुख बैठके—

ओं प्रजापतये स्वाहा॥ इदं प्रजापतये—इदन्न मम॥[1]

इस मन्त्र को बोलके स्रुवा से एक घृत की आहुति देवे।

[केश-विमोचन]

तत्पश्चात् एकान्त में जाके वधू के बंधे हुये केशों को वर—

प्र त्वा मुञ्चामि वरुणस्य पाशाद् येन त्वाबध्नात्सविता सुशेवः।
ऋतस्य योनौ सुकृतस्य लोकेऽरिष्टां त्वा सह पत्या दधामि॥१॥

प्रेतो मुञ्चामि नामुतः सुबद्धाममुतस्करम्।
यथेयमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रा सुभगासति॥२॥[2]

इन दोनों मन्त्रों को बोलके प्रथम वधू के केशों को छोड़ना।[3]

[सप्तपदी-विधि]

तत्पश्चात् सभामण्डप में आके 'सप्तपदी-विधि' का आरम्भ करे। इस समय वर के उपवस्त्र के साथ वधू के उत्तरीय वस्त्र की गांठ देनी, इसे 'जोड़ा' कहते हैं। वधू-वर दोनों जने आसन पर से उठके वर अपने दक्षिण हाथ से वधू की दक्षिण हस्ताञ्जली पकड़के यज्ञकुण्ड के उत्तरभाग में जावें। तत्पश्चात् वर अपना दक्षिण हाथ वधू के दक्षिण स्कन्धे पर रखके दोनों समीप-समीप उत्तराभिमुख खड़े रहें। तत्पश्चात् वर—

मा सव्येन दक्षिणमतिक्राम॥[4]

ऐसा बोलके वधू को उसका दक्षिण पग उठवाके चलने के लिये आज्ञा देनी। और—

ओम् इष एकपदी भव सा मामनुव्रता भव विष्णुस्त्वा नयतु पुत्रान् विन्दावहै बहूँस्ते सन्तु जरदष्टयः॥[5]

---

१. द्र०—पार० गृह्य १।७।६॥
२. ऋ० १०।८५।२४, २५॥
३. अर्थात् खोले।
४. गोभिल गृह्य २।२।१२॥
५. इस तथा उत्तर मन्त्रों के लिये देखो आश्व० गृह्य १।७।१९॥ पार० गृह्य १।८।१, २ में कुछ भेद है।

इस मन्त्र को बोलके वर अपने साथ वधू को लेकर ईशान दिशा में एक पग* चले और चलावे।

ओम् ऊर्ज्जे द्विपदी भव०† ॥ इस मन्त्र से दूसरा।
ओं रायस्पोषाय त्रिपदी भव० ॥ इस मन्त्र से तीसरा।
ओं मयोभवाय चतुष्पदी भव० ॥ इस मन्त्र से चौथा।
ओं प्रजाभ्यः पञ्चपदी भव० ॥ इस मन्त्र से पांचवां।
ओम् ऋतुभ्यः षट्पदी भव० ॥ इस मन्त्र से छठा। और—
ओं सखे सप्तपदी भव०॥[1] इस मन्त्र से सातवां पगला चलना।

इस रीति से इन सात मन्त्रों से सात पग ईशान दिशा में चलाके वधू वर दोनों गाँठ बंधे हुये शुभासन पर बैठें।

[जल से मार्जन]

तत्पश्चात् प्रथम से जो जल के कलश को लेके यज्ञकुण्ड के दक्षिण की ओर में बैठाया था, वह पुरुष उस पूर्व-स्थापित जलकुम्भ को लेके वधू-वर के समीप आवे। और उसमें से थोड़ासा जल लेके वधू-वर के मस्तक पर छिटकावे। और वर—

ओम् आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता नऽ ऊर्जे दधातन।
महे रणाय चक्षसे ॥१॥
यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः।
उशतीरिव मातरः ॥२॥

---

*इस पग धरने का विधि ऐसा है कि वधू प्रथम अपना जमणा पग उठा के ईशानकोण की ओर बढ़ाके धरे। तत्पश्चात् दूसरे बायें पग को उठाके जमणे पग की पटली तक धरे, अर्थात् जमणे पग के थोड़ा सा पीछे बायां पग रक्खे। इसी को एक पगला गिणना। इसी प्रकार अगले छः मन्त्रों से भी क्रिया करनी, अर्थात् १-१ मन्त्र से १-१ पग ईशान दिशा की ओर धरना॥ द० स०

†जो 'भव' के आगे मन्त्र में पाठ है, सो छः मन्त्रों के इस 'भव' पद के आगे पूरा बोलके पग धरने की क्रिया करनी॥ द० स०

---

१. पारस्कर में 'सखे सप्तपदा भव' पाठ है।

तस्माऽ अरं गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ ।
आपो जनयथा च नः ॥३॥[1]

ओम् आपः शिवाः शिवतमाः शान्ताः शान्ततमास्तास्ते कृण्वन्तु भेषजम् ॥४॥[2]

इन ४ चार मन्त्रों को बोलें । तत्पश्चात् वधू-वर वहां से उठके—

[सूर्य-दर्शन]

ओं तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् । पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतं प्र ब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् ॥[3]

इस मन्त्र को पढ़के सूर्य का अवलोकन करें ।

तत्पश्चात् वर वधू के दक्षिण स्कन्धे पर से अपना दक्षिण हाथ लेके उससे वधू का हृदय स्पर्श करके—

[हृदयाऽऽलम्भन]

ओं मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तमनु चित्तं ते अस्तु ।
मम वाचमेकमना जुषस्व प्रजापतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम्* ॥[4]

इस मन्त्र को बोलें । और उसी प्रकार वधू भी अपने दक्षिण हाथ से वर के हृदय का स्पर्श करके इसी ऊपर लिखे हुये मन्त्र को बोलें† ।

*हे वधू ! (ते) तेरे (हृदयम्) अन्तःकरण और आत्मा को (मम) मेरे (व्रते) कर्म के अनुकूल (दधामि) धारण करता हूं । (मम) मेरे (चित्तमनु) चित्त के अनुकूल (ते) तेरा (चित्तम्) चित्त सदा (अस्तु) रहे । (मम) मेरी (वाचम्) वाणी को तू (एकमनाः) एकाग्रचित्त से (जुषस्व) सेवन किया कर । (प्रजापतिः) प्रजा का पालन करनेवाला परमात्मा (त्वा) तुझको (मह्यम्) मेरे लिये (नियुनक्तु) नियुक्त करे ॥ द० स०

†वैसे ही हे प्रियवीर स्वामिन् ! आपका हृदय आत्मा और अन्तःकरण मेरे प्रिया चरण कर्म में धारण करती हूं । मेरे चित्त के अनुकूल आपका चित्त सदा रहे । आप एकाग्र होके मेरी वाणी का जो कुछ मैं आपसे कहूं,

१. यजु० ३६।१४-१६॥ द्र०—ऋ० १०।९।१-३॥ द्र०—पार० गृह्य १।८।६॥ २. पार० गृह्य १।८।५॥ ३. यजु० ३६।२४॥
४. पा० गृह्य १।८।८॥

[सुमङ्गली-आशंसन]

तत्पश्चात् वर वधू के मस्तक पर हाथ धरके—

सुमङ्गलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत ।
सौभाग्यमस्यै दत्त्वायाथास्तं वि परेतन ॥[1]

इस मन्त्र को बोलके कार्यार्थ आये हुये लोगों की ओर अवलोकन करना । और इस समय सब लोग—

ओं सौभाग्यमस्तु । ओं शुभं भवतु ॥

इस वाक्य से आशीर्वाद देवें ।

तत्पश्चात् वधू-वर यज्ञकुण्ड के समीप पूर्ववत् बैठके, पुनः पृष्ठ ३५ में लिखे प्रमाणे दोनों (**ओं यदस्य कर्मणो०**) इस स्विष्टकृत् मन्त्र से होमाहुति अर्थात् एक आज्याहुति, और पृष्ठ ३४ में लिखे प्रमाणे (**ओं भूरग्नये स्वाहा**) इत्यादि ४ चार मन्त्रों से एक-एक से एक-एक आहुति करके ४ चार आज्याहुति देवें । और इस प्रमाणे विवाह का विधि पूरा[2] हुए पश्चात् दोनों जने आराम अर्थात् विश्राम करें ।

[उत्तर-विधि]

इस रीति से थोड़ा सा विश्राम करके विवाह का[3] उत्तरविधि करें । यह उत्तरविधि सब वधू के घर की ईशान दिशा में विशेष करके एक घर प्रथम से बना रखा हो, वहां जाके करनी ।

उसका सेवन सदा किया कीजिये । क्योंकि आज से प्रजापति परमात्मा ने आपको मेरे आधीन किया है, जैसे मुझको आपके आधीन किया है । अर्थात् इस प्रतिज्ञा के अनुकूल दोनों वर्ता करें, जिससे सर्वदा आनन्दित और कीर्तिमान् पतिव्रता और स्त्रीव्रत होके सब प्रकार के व्यभिचार अप्रियभाषणादि को छोड़ के परस्पर प्रीतियुक्त रहें ॥ द० स०

---

१. ऋ० १०।८५।३३॥

२. 'विवाह के विधि पूरा' सं० ३ का पाठ । हमारा पाठ संस्करण २ के अनुसार है । सं० २४ में 'विवाह की विधि' पाठ मिलता है, वह अशुद्ध है । ग्रन्थकार हिन्दी में भी 'विधि' शब्द को सर्वत्र संस्कृत व्याकरणानुसार पुल्लिङ्ग ही मानते हैं, और तदनुसार व्यवहार करते हैं ।

३. यहां वै० य० के छपे कुछ संस्करणों में 'विवाह की उत्तर विधि' पाठ है । द्र०—इसी पृष्ठ की टि० २।

तत्पश्चात् सूर्य अस्त हुए पीछे आकाश में नक्षत्र दीखें, उस समय वधू-वर यज्ञकुण्ड के पश्चिम भाग में पूर्वाभिमुख आसन पर बैठें। और पृष्ठ ३० में लिखे प्रमाणे अग्न्याधान (ओं भूर्भुवः स्वद्यौं०) इस मन्त्र से करें। यदि प्रथम ही सभामण्डप ईशान दिशा में हुआ, और प्रथम अग्न्याधान किया हो, तो अग्न्याधान न करें। (ओं अयन्त इध्म०) इत्यादि ४ चार मन्त्रों से समिदाधान करके जब अग्नि प्रदीप्त होवे, तब पृष्ठ ३३ में लिखे प्रमाणे (ओम् अग्नये स्वाहा) इत्यादि ४ चार मन्त्रों से आघारावाज्यभागाहुति ४ चार, और पृष्ठ ३४ में लिखे प्रमाणे (ओं भूरग्नये स्वाहा) इत्यादि ४ चार मन्त्रों से ४ चार व्याहृति आहुति, ये सब मिलके ८ आठ आज्याहुति देवें।

[प्रधान-होम]

तत्पश्चात् प्रधान होम करें निम्नलिखित मन्त्रों से—

ओं लेखासन्धिषु पक्ष्मस्वारोकेषु च यानि ते। तानि ते पूर्णाहुत्या सर्वाणि शमयाम्यहं स्वाहा॥ इदं कन्यायै—इदन्न मम॥

ओं केशेषु यच्च[1] पापकमीक्षिते रुदिते च यत्। तानि०॥

ओं शीलेषु यच्च पापकं भाषिते हसिते च यत्। तानि०॥

ओम् आरोकेषु च[2] दन्तेषु हस्तयोः पादयोश्च यत्। तानि०॥

ओम् ऊर्वोरुपस्थे जङ्घयोः सन्धानेषु च यानि ते। तानि०॥

ओं यानि कानि च घोराणि सर्वाङ्गेषु तवाभवन्। पूर्णाहुतिभिराज्यस्य सर्वाणि तान्यशीशमं स्वाहा॥ इदं कन्यायै—इदन्न मम॥[3]

---

१. 'यच्च पावक पापक०' संस्करण २ में अशुद्ध छपे पाठ को संशोधन पत्र में 'पावक' हटाकर शुद्ध कर दिया, पुनरपि वै० य० के अनेक संस्करणों में अशुद्ध पाठ ही छपता रहा।

२. संस्करण २, ३ में 'च' नहीं है। 'आरोक' शब्द टीकाकार गुणविष्णु के मत में दन्तान्तर=अतिरिक्त दांत का वाचक है। सत्यव्रत सामश्रमी ने दन्तान्तराल=दो दांतों के मध्य की दूरी अर्थ किया है। 'आरोक' और 'दन्त' दो के समुच्चय के लिये 'च' पद आवश्यक है।

३. मन्त्रब्रा० १।३।१-६॥ 'इदं मम' मन्त्र से बहिर्भूत है।

ये छः मन्त्र हैं। इनमें से एक-एक मन्त्र बोल एक-एक से [एक-एक आहुति अर्थात्][1] ६ छः आज्याहुति देनी। तत्पश्चात् पृष्ठ ३४ में लिखे प्रमाणे (ओं भूरग्नये स्वाहा) इत्यादि ४ चार व्याहृति मन्त्रों से ४ चार आज्याहुति देके—

[ध्रुव-दर्शन]

वधू-वर वहां से उठके सभामण्डप के बाहर उत्तर दिशा में जावें। तत्पश्चात् वर—

ध्रुवं पश्य ॥[2]

ऐसा बोलके वधू को ध्रुव का तारा दिखलावे*। और वधू वर से बोले कि मैं—

पश्यामि ॥[2]

ध्रुव के तारे को देखती हूं।

तत्पश्चात् वधू बोले—

ओं ध्रुवमसि ध्रुवाहं पतिकुले भूयासम् (अमुष्य† असौ)[3] ॥

इस मन्त्र को बोलके, तत्पश्चात्—

[अरुन्धती-दर्शन]

अरुन्धतीं पश्य ॥[4]

ऐसा वाक्य बोलके वर वधू को अरुन्धती का तारा दिखलावें। और वधू—

---

*हे वधू वा वर! जैसे यह ध्रुव दृढ़ स्थिर है, इसी प्रकार आप और मैं एक दूसरे के प्रियाचरणों में दृढ़ स्थिर रहें॥ द० स०

†(अमुष्य) इस पद के स्थान में षष्ठीविभक्त्यन्त पति का नाम बोलना। जैसे—शिवशर्मा पति का नाम हो तो "शिवशर्मणः" ऐसा, और (असौ) इस पद के स्थान में वधू अपने नाम को प्रथमाविभक्त्यन्त बोलके इस मन्त्र को पूरा बोले। जैसे—"भूयासं सौभाग्यदाहं शिवशर्मणस्ते"। इस प्रकार दोनों पद जोड़के बोले।

---

१. कोष्ठान्तर्गत पाठ हमने बढ़ाया है, अन्यथा एक-एक मन्त्र से छः-छः आहुति देनी अर्थ प्रतीत होता है।

२. द्र०—गो० गृह्य २।३।८॥ पार० गृह्य १।८।१९, २०॥

३. गो० गृह्य २।३।९॥ ४. द्र०—गो० गृह्य २।३।१०, ११॥

पश्यामि ।।[1]

ऐसा कहके –

ओम् अरुन्धत्यसि रुद्धाहमस्मि (अमुष्य* असौ) ।।[1]

इस मन्त्र को बोलके वर वधू की ओर देखके वधू के मस्तक पर हाथ धरके—

[ध्रुवीभाव-आशंसन]

ओं ध्रुवा द्यौर्ध्रुवा पृथिवी ध्रुवं विश्वमिदं जगत् ।
ध्रुवासः पर्वता इमे ध्रुवा स्त्री पतिकुले इयम्† ।।[2]

हे स्वामिन् ! सौभाग्यदा (अहम्) मैं (अमुष्य) आप शिवशर्मा की अर्धाङ्गी (पतिकुले) आपके कुल में (ध्रुवा) निश्चल जैसे कि आप (ध्रुवम्) दृढ़ निश्चय वाले मेरे स्थिर पति (असि) हैं, वैसे मैं भी आपकी स्थिर दृढ़ पत्नी (भूयासम्) होऊं[3] ।। द० स०

* (अमुष्य) इस पद के स्थान में पति का नाम षष्ठचन्त, और (असौ) इसके स्थान में वधू का प्रथमान्त नाम जोड़कर बोले ।। द० स०

†हे वरानने ! जैसे (द्यौः) सूर्य की कान्ति वा विद्युत् (ध्रुवा) सूर्य-लोक वा पृथिव्यादि में निश्चल, जैसे (पृथिवी) भूमि अपने स्वरूप में (ध्रुवा) स्थिर, जैसे (इदम्) यह (विश्वम्) सब (जगत्) संसार प्रवाह स्वरूप में (ध्रुवम्) स्थिर है, जैसे (इमे) ये प्रत्यक्ष (पर्वताः) पहाड़ (ध्रुवासः) अपनी स्थिति में स्थिर हैं, वैसे (इयम्) यह तू मेरी (स्त्री) [पत्नी] (पति-कुले) मेरे कुल में (ध्रुवा) सदा स्थिर रह ।। द० स०

---

१. द्र० गो० गृ० २।३।१०,११।। २. मन्त्रब्रा० १।३।७।।

३. यह मन्त्रार्थ १७वें संस्करण तक 'अरुन्धत्यसि' मन्त्र की टिप्पणी के अन्त में छपा हुआ मिलता है । १८वें संस्करण में 'अरुन्धत्यसि' मन्त्र की टिप्पणी '(अमुष्य)... होऊं' हटा दी गई । और अन्त में तू अरुन्धती नक्षत्र के तुल्य है, मैं भी रुकी हुई हूं । आपकी मैं' इतना अंश बढ़ा दिया । २१ वें संस्करण में उक्त मन्त्रार्थ 'ध्रुवा द्यौः' की टिप्पणी के अन्त में यथास्थान जोड़ दिया गया । परन्तु 'अरुन्धत्यसि' मन्त्र की ग्रन्थकार की अपनी टिप्पणी अभी (२५वें संस्करण) तक नष्ट है, और परिवर्धित टिप्पणी छप रही है ।

ओं ध्रुवमसि ध्रुवं त्वा पश्यामि ध्रुवैधि पोष्ये मयि ।
मह्यं त्वादाद् बृहस्पतिर्मया पत्या प्रजावती संजीव शरदः शतम्*॥[1]

इन दोनों मन्त्रों को बोले ।

पश्चात् वधू और वर दोनों यज्ञकुण्ड के पश्चिम भाग में पूर्वाभिमुख होके कुण्ड के समीप बैठें । और पृष्ठ २९ में लिखे प्रमाणे (**ओम् अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा**)इत्यादि ३ तीन मन्त्रों से एक-एक से एक-एक आचमन करके तीन-तीन आचमन दोनों करें । पश्चात् पृष्ठ २०,३०में लिखी हुई समिधाओं से यज्ञकुण्ड में अग्नि को प्रदीप्त करके, पृष्ठ २०,२१ में लिखे प्रमाणे घृत और स्थालीपाक अर्थात् भात को उसी समय बनावें । पृष्ठ ३१ में लिखे प्रमाणे "**ओम् अयन्त इध्म०**" इत्यादि ४ चार मन्त्रों से समिधा होम दोनों जने करके, पश्चात् पृष्ठ ३३ में लिखे प्रमाणे **आघारावाज्यभागाहुति**[2] ४ चार, और पृष्ठ ३४ में लिखे प्रमाणे **व्याहृति**[3] **आहुति** ४ चार, दोनों मिलके ८ आठ आज्याहुति वर-वधू देवें ।

[ओदन-आहुति]

तत्पश्चात् जो ऊपर सिद्ध किया हुआ ओदन अर्थात् भात [है,] उसको एक पात्र में निकालके उसके ऊपर स्रुवा से घृत सेंचन करके,

*हे स्वामिन् ! जैसे आप मेरे समीप (ध्रुवम्) दृढ़ संकल्प करके स्थिर (असि) हैं, या जैसे मैं (त्वा)आपको (ध्रुवम्) स्थिर दृढ़ (पश्यामि) देखती हूं, वैसे ही सदा के लिये मेरे साथ आप दृढ़ रहियेगा । क्योंकि मेरे मन के अनुकूल (त्वा) आपको (बृहस्पतिः) परमात्मा (अदात्) समर्पित कर चुका है । वैसे मुझ पत्नी के साथ उत्तम प्रजायुक्त होके (शतं शरदः) सौ वर्ष पर्यन्त (सम् जीव) जीविये । तथा हे वरानने पत्नी ! (पोष्ये) धारण और पालन करने योग्य (मयि) मुझ पति के निकट (ध्रुवा) स्थिर (एधि) रह । (मह्यम्) मुझको अपनी मनसा के अनुकूल तुझे परमात्मा ने दिया है । तू (मया) मुझ (पत्या) पति के साथ (प्रजावती) बहुत उत्तम प्रजायुक्त होकर सौ वर्ष पर्यन्त आनन्दपूर्वक जीवन धारण कर। वधू वर ऐसी दृढ़ प्रतिज्ञा करें कि जिससे कभी उलटे विरोध में न चलें ॥ द० स०

१. पार० गृह्य १।८।१९॥
२. 'ओम् अग्नये स्वाहा' आदि चार मन्त्रों से ।
३. 'ओं भूरग्नये स्वाहा' आदि चार मन्त्रों से ।

घृत और भात को अच्छे प्रकार मिलाकर दक्षिण हाथ से थोड़ा-थोड़ा भात दोनों जने लेके—

ओम् अग्नये स्वाहा ॥ इदमग्नये—इदन्न मम ॥
ओं प्रजापतये स्वाहा ॥ इदं प्रजापतये—इदन्न मम ॥
ओं विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा ॥ इदं विश्वेभ्यो देवेभ्यः—इदन्न मम ॥

ओम् अनुमतये स्वाहा ॥ इदमनुमतये—इदन्न मम ॥[1]

इनमें से प्रत्येक मन्त्र से एक-एक करके ४ चार स्थालीपाक अर्थात् भात की आहुति देनी। तत्पश्चात् पृष्ठ ३५ में लिखे प्रमाणे (ओं यदस्य कर्मणो०) इस मन्त्र से १ एक स्विष्टकृत् आहुति देनी। तत्पश्चात् पृष्ठ ३४ में लिखे प्रमाणे व्याहृति आहुति[2] ४ चार, और पृष्ठ ३६-३७ में लिखे प्रमाणे अष्टाज्याहुति[3] ८ आठ, दोनों मिलके १२ बारह आज्याहुति देनी।

[ओदन-प्राशन]

तत्पश्चात् शेष रहा हुआ भात एक पात्र में निकालके उस पर घृत-सेचन, और दक्षिण हाथ रखके—

ओम् अन्नपाशेन मणिना प्राणसूत्रेण पृश्निना।
बध्नामि सत्यग्रन्थिना मनश्च हृदयं च ते* ॥१॥
ओं यदेतद्धृदयं तव तदस्तु हृदयं मम।
यदिदᳪ हृदयं मम तदस्तु हृदयं तव† ॥२॥

*हे वधू वा वर! जैसे अन्न के साथ प्राण, प्राण के साथ अन्न, तथा अन्न और प्राण का अन्तरिक्ष के साथ सम्बन्ध है, वैसे (ते) तेरे (हृदयम्) हृदय (च) और (मनः) मन (च) और चित्त आदि को (सत्यग्रन्थिना) सत्यता की गांठ से (बध्नामि) बांधती वा बांधता हूं॥ द० स०

†हे वर! हे स्वामिन् वा पत्नी! (यदेतत्) जो यह (तव) तेरा (हृदयम्) आत्मा वा अन्तःकरण है, (तत्) वह (मम) मेरा (हृदयम्) आत्मा

१. द्र०—गो० गृह्य २।३।२०॥
२. 'ओं भूरग्नये स्वाहा' आदि ४ मन्त्रों से।
३. 'ओं त्वन्नो अग्ने०' आदि ८ मन्त्रों से।

ओम् अन्नं प्राणस्य षड्विंशस्तेन बध्नामि त्वा असौ† ॥३॥[1]

इन तीनों मन्त्रों को मन से जपके **वर** उस भात में से प्रथम थोड़ासा भक्षण करके, जो उच्छिष्ट शेष भात रहे वह अपनी वधू के लिये खाने को देवे। और जब वधू उसको खा चुके, तब **वधू-वर** यज्ञ-मण्डप में सन्नद्ध हुये शुभासन पर नियम प्रमाणे पूर्वाभिमुख बैठें। और पृष्ठ ३८-३९ में लिखे प्रमाणे सामवेदोक्त **महावामदेव्यगान** करें।

तत्पश्चात् पृष्ठ ७-१८ में लिखे प्रमाणे ईश्वर की **स्तुतिप्रार्थनोपासना, स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण** कर्म करके क्षार[2] लवण रहित मिष्ट दुग्ध घृतादि सहित भोजन करें।

तत्पश्चात् पृष्ठ ६९ में लिखे प्रमाणे पुरोहितादि सद्धर्मी और कार्यार्थ इकट्ठे हुये लोगों को सन्मानार्थ उत्तम भोजन कराना।

अन्तःकरण के तुल्य प्रिय (अस्तु) हो। और (मम) मेरा (यदिदम्) जो यह (हृदयम्) आत्मा प्राण और मन है, (तत्) सो (तव) तेरे (हृदयम्) आत्मादि के तुल्य प्रिय (अस्तु) सदा रहे॥ द० स०

†(असौ) हे यशोदे![3] जो (प्राणस्य) प्राण का पोषण करनेहारा (षड्विंशः) २६ छब्बीसवां[4] तत्त्व (अन्नम्) अन्न है, (तेन) उस से (त्वा) तुझको (बध्नामि) दृढ़ प्रीति से बांधता वा बांधती हूं॥ द० स०

---

१. मन्त्रब्रा० १।३।८-१०॥ मन्त्र में पाठ 'पड्विंशः' है। ये तीन मन्त्र हैं, ऐसा गुणविष्णु का मत है। दूसरे तीसरे को एक करके दो मन्त्र हैं, ऐसा सायण कहता है। पांच अवसानोंवाला एक ही मन्त्र है, ऐसा गो० गृह्य के टीकाकार भट्टनारायण का मन्तव्य है।

२. 'क्षार' शब्द से 'सज्जी' का ग्रहण होता है। कुछ आचार्य 'क्षार' शब्द से 'माष, राजमाष, मुद्ग, मसूर, अरहर' आदि का ग्रहण करते हैं (द्र० —आश्व० गृह्य टीका १।८।१०)।

३. 'असौ' के स्थान पर पत्नी के नाम का उच्चारण करना चाहिए। यह गो० गृह्य के टीकाकार भट्टनारायण और तर्कालंकार प्रभृति का मत है। मन्त्रब्रा० के व्याख्याता गुणविष्णु और सायण 'असौ' के स्थान पर वर का नाम उच्चारणीय है, ऐसा मानते हैं।

४. मन्त्र का पाठ 'पड्विंशः' है। इसका अर्थ है—'बन्धन रज्जू' अर्थात् अन्न प्राण का बांधनेवाला है, उस अन्न से मैं तुझे बांधता हूं।

तत्पश्चात् यथायोग्य पुरुषों का पुरुष और स्त्रियों का स्त्री आदर-सत्कार करके विदा कर देवें।

[त्रिरात्र ब्रह्मचर्य तथा चतुर्थी कर्म]

तत्पश्चात् दश घटिका रात जाय, तब वधू और वर पृथक्-पृथक् स्थान में भूमि में बिछौना करके तीन रात्रिपर्यन्त ब्रह्मचर्य व्रत सहित रहकर शयन करें। और ऐसा भोजन करें कि स्वप्न में भी वीर्यपात न होवे। तत्पश्चात् चौथे दिवस विधिपूर्वक गर्भाधानसंस्कार करे। यदि चौथे दिवस कोई अड़चन आवे, तो अधिक दिन ब्रह्मचर्यव्रत में दृढ़ रह कर जिस दिन दोनों की इच्छा हो, और पृष्ठ ५४ में लिखे प्रमाणे गर्भाधान की रात्रि भी हो, उस रात्रि में यथाविधि गर्भाधान करें।

[प्रतियात्रा=वापसी]

तत्पश्चात्[1] दूसरे वा तीसरे दिन प्रातःकाल वर पक्षवाले लोग वधू और वर को रथ में बैठाके बड़े सम्मान से अपने घर में लावें। और जो वधू अपने माता-पिता के घर को छोड़ते समय आंख में अश्रु भर लावे, तो—

जीवं रुदन्ति वि मयन्ते अध्वरे दीर्घामनु प्रसितिं दीधियुर्नरः।
वामं पितृभ्यो य इदं समेरिरे मयः पतिभ्यो जनयः परिष्वजे॥[2]

इस मन्त्र को वर बोले। और रथ में बैठते समय वर अपने साथ दक्षिण बाजू वधू को बैठावे। उस समय में वर—

पूषा त्वेतो नयतु हस्तगृह्याश्विना त्वा प्र वहतां रथेन।
गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथासो वशिनी त्वं विदथमा वदासि॥१॥[3]

---

१. 'तत्पश्चात्' के स्थान पर वै० य० के १८ वें संस्करण में 'यदि किसी विशेष कारण से श्वसुरगृह में गर्भाधान संस्कार न हो सके, तो' इतना पाठ बढ़ाया गया है, और वह आगे के संस्करणों में छप रहा है। यह पाठ हस्तलेख में तथा सं० ८-१७ तक नहीं है। श्री पं० जयदेव जी ने इस संस्कार के अन्त में पठित पाठ को यहां विनो आधार लाकर जोड़ा है।

२. ऋ० १०।४०।१०॥ ३. ऋ० १०।८५।२६॥

सुकिंꣳशुकꣳ शल्मलिं विश्वरूपꣳ हिरण्यवर्णꣳ सुवृतꣳ सुचक्रम्।
आ रोह सूर्ये अमृतस्य लोकꣳ स्योनं पत्ये वहतुꣳ कृणुष्व ॥२॥[1]

इन दो मन्त्रों को बोलके रथ को चलावे।

यदि वधू को वहां से अपने घर लाने के समय नौका पर बैठना पड़े, तो इस निम्नलिखित मन्त्र को पूर्व बोलके नौका पर बैठें—

अश्मन्वती रीयते सं रभध्वमुत्तिष्ठत प्र तरता सखायः।[2]

और नाव से उतरते समय—

अत्रा जहाम ये असन्नशेवाः शिवान्वयमुत्तरेमाभि वाजान्॥[3]

इस उत्तरार्द्ध मन्त्र को बोलके नाव से उतरें।

पुनः इसी प्रकार मार्ग में चार मार्गों का[4] संयोग, नदी व्याघ्र चोर आदि से भय, वा भयंकर स्थान, ऊंचे-नीचे खाढ़ावाली पृथिवी, बड़े-बड़े वृक्षों का झुण्ड, वा श्मशानभूमि आवे, तो—

मा विदन् परिपन्थिनो य आसीदन्ति दम्पती।
सुगेभिर्दुर्गमतीतामप द्रान्त्वरातयः॥[5]

इस मन्त्र को बोले।

---

१. द्र०—ऋ० १०।८५।२०॥ यह पाठ ऋग्वेद से मिलता है, परन्तु ऋग्वेद में ꣳकार का प्रयोग नहीं होता। मन्त्रब्राह्मण में क्वचित् ꣳकार देखा जाता है, परन्तु उसमें (१।३।११ में) 'सवृतं' के स्थान पर 'सुवृत्त' और 'लोकं' के स्थान पर 'नाभिं' पाठ हैं। आप० गृह्य में मन्त्र में पूर्वोक्त दोनों पाठ ऋग्वेद के समान हैं, परन्तु 'आ रोह सूर्यं' के स्थान पर 'आरोह वध्व०' पाठ मिलता है। ग्रन्थकार ने ꣳकार युक्त पाठ कहां से उद्धृत किया है, यह अन्वेषणीय है। वै० यं० के ७वें संस्करण में ꣳ छापते हुए भी ऋग्वेद का पता दिया है। उत्तरवर्ती संस्करणों में ꣳ हटाकर ऋग्वेदवत् अनुस्वार कर दिया है।

२. ऋ० १०।५३।८ (पूर्वार्ध)॥ ३. ऋ० १०।५३।८ (उत्तरार्ध)॥

४. द्वि० संस्करण में 'मार्ग चार में मार्गों का' अशुद्ध छपे पाठ का संशोधनपत्र में 'मार्ग में चार मार्गों का' शोधन कर देने पर भी संस्करण १७ तक अशुद्ध पाठ ही छपता रहा। ५. ऋ० १०।८५।३२॥

तत्पश्चात् वधू-वर जिस रथ में बैठके जाते हों, उस रथ का कोई अङ्ग टूट जाय, अथवा किसी प्रकार का अकस्मात् उपद्रव होवे, तो मार्ग में कोई अच्छा स्थान देखके निवास करना। और साथ रक्खे हुए विवाहाग्नि को प्रगट करके[1] उसमें पृष्ठ ३४ में लिखे प्रमाणे ४ चार व्याहृति[2] आज्याहुति देनी। पश्चात् पृष्ठ ३८-३९ में लिखे प्रमाणे वामदेव्यगान करना।

[वधू का रथ से अवतारण तथा आशीर्वाद]

पश्चात् जब वधू-वर का रथ वर के घर के आगे आ पहुंचे, तब कुलीन पुत्रवती सौभाग्यवती, वा कोई ब्राह्मणी वा अपने कुल की स्त्री आगे सामने आकर वधू का हाथ पकड़के वर के साथ रथ से नीचे उतारे, और वर के साथ सभामण्डप में ले जावे। सभामण्डप द्वारे आते ही वर वहां कार्यार्थ आये हुये लोगों की ओर अवलोकन करके—

सुमङ्गलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत।
सौभाग्यमस्यै दत्वायाथास्तं वि परेतन॥[3]

इस मन्त्र को बोले। और आये हुए लोग—

ओं सौभाग्यमस्तु। ओं शुभं भवतु॥

इस प्रकार आशीर्वाद देवें। तत्पश्चात् वर—

इह प्रियं प्रजया ते समृध्यतामस्मिन् गृहे गार्हपत्याय जागृहि।
एना पत्या तन्वं१ सं सृजस्वाधा जिव्री विदथमा वदाथः॥[4]

इस मन्त्र को बोलके वधू को सभामण्डप[5] में ले जावे।

तत्पश्चात् वधू-वर पूर्व-स्थापित यज्ञकुण्ड के समीप जावें। उस समय वर—

ओम् इह गावः प्रजायध्वमिहाश्वा इह पूरुषाः।
इहो सहस्रदक्षिणोऽपि पूषा नि षीदतु॥[6]

---

१. अर्थात् प्रज्वलित करके।

२. 'ओं भूरग्नये स्वाहा' आदि मन्त्रों से।

३. ऋ० १०।८५।३३॥ ४. १०।८५।२७॥

५. 'यज्ञमण्डप'? ६. अथर्व० २०।१२७।१२; मन्त्रब्रा० १।३।१३॥

इस मन्त्र को बोलके यज्ञकुण्ड के पश्चिम भाग में पीठासन अथवा तृणासन पर वधू को अपने दक्षिण भाग में पूर्वाभिमुख बैठावे।

[वर-गृह में यज्ञ]

तत्पश्चात् पृष्ठ २९ में लिखे प्रमाणे (ओम् अमृतोपस्तरणमसि [स्वाहा]) इत्यादि ३ तीन मन्त्रों से एक-एक से एक-एक करके तीन-तीन आचमन करें। तत्पश्चात् पृष्ठ ३० में लिखे प्रमाणे कुण्ड में यथाविधि समिधाचयन अग्न्याधान करें। जब उसी कुण्ड में अग्नि प्रज्वलित हो, तब उस पर घृत सिद्ध[1] करके पृष्ठ ३१ में लिखे प्रमाणे समिदाधान करके प्रदीप्त हुये अग्नि में पृष्ठ ३३ में लिखे प्रमाणे आघारावाज्यभागाहुति[2] ४ चार, और व्याहृति आहुति[3] ४ चार, अष्टाज्याहुति[4] ८ आठ, सब मिलके १६ सोलह आज्याहुति वधू-वर करके प्रधानहोम का प्रारम्भ निम्नलिखित मन्त्रों से करें—

ओम् इह धृतिः स्वाहा ॥ इदमिह धृत्यै—इदन्न मम ॥
ओम् इह स्वधृतिः स्वाहा ॥ इदमिह स्वधृत्यै—इदन्न मम ॥
ओम् इह रन्तिः स्वाहा ॥ इदमिह रन्त्यै—इदन्न मम ॥
ओम् इह रमस्व स्वाहा ॥ इदमिह रमाय—इदन्न मम ॥
ओं मयि धृतिः स्वाहा ॥ इदं मयि धृत्यै—इदन्न मम ॥
ओं मयि स्वधृतिः स्वाहा ॥ इदं मयि स्वधृत्यै—इदन्न मम ॥
ओं मयि रमः स्वाहा ॥ इदं मयि रमाय—इदन्न मम ॥
ओं मयि रमस्व वाहा ॥ इदं मयि रमाय—इदन्न मम ॥[5]

इनप्रत्येक मन्त्रों से एक-एक करके ८ आठ आज्याहुति देके—

ओम् आ नः प्रजां जनयतु प्रजापतिराजरसाय समन-

---

१. अर्थात् उष्ण। २. 'ओम् अग्नये स्वाहा' आदि मन्त्रों से।
३. 'ओं भूरग्नये स्वाहा' आदि मन्त्रों से।
४. 'ओं त्वं नो अग्ने०' आदि मन्त्रों से।
५. मन्त्रब्रा० १।३।१३ निर्दिष्ट मन्त्र की 'आज्याहुतिर्जुहोत्यष्टाविह धृतिरिति' गो० गृह्य (२।४।६) के अनुसार आठ आहुतियां कल्पित की गई हैं।

क्त्वर्यमा । अदुर्मङ्गलीः पतिलोकमा विश शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे स्वाहा† ॥ इदं सूर्यायै सावित्र्यै--इदन्न मम ॥१॥

ओम् अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि शिवा पशुभ्यः सुमनाः सुवर्चाः । वीरसूर्देवकामा स्योना शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे स्वाहा§ ॥ इदं सूर्यायै सावित्र्यै—इदन्न मम ॥२॥

ओम् इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु । दशास्यां पुत्राना धेहि पतिमेकादशं कृधि स्वाहा* ॥ इदं सूर्यायै सावित्र्यै--इदन्न मम ॥३॥

---

†हे वधू ! (अर्यमा) न्यायकारी दयालु (प्रजापतिः) परमात्मा कृपा करके (आजरसाय) जरावस्था पर्यन्त जीने के लिये (नः) हमारी (प्रजाम्) उत्तम प्रजा को शुभ गुण कर्म और स्वभाव से (आजनयतु) प्रसिद्ध करे, (समनक्तु) उससे उत्तम सुख को प्राप्त करे। और वे शुभगुणयुक्त (मङ्गलीः) स्त्रीलोग सब कुटुम्बियों को आनन्द (अदुः) देवें। उनमें से एक तू हे वरानने ! (पतिलोकम्) पति के घर वा सुख को (आविश) प्रवेश वा प्राप्त हो। (नः) हमारे (द्विपदे) पिता आदि मनुष्यों के लिये (शम्) सुखकारिणी, और (चतुष्पदे) गौ आदि को (शम्) सुखकर्त्री (भव) हो ॥ द० स०

§इस मन्त्र का अर्थ पृष्ठ १९३ में लिखे प्रमाणे जानना ॥ द० स०

*ईश्वर पुरुष और स्त्री को आज्ञा देता है कि हे (मीढ्वः) वीर्य-सेचन करनेहारे (इन्द्र) परमैश्वर्ययुक्त इस वधू के स्वामिन् ! (त्वम्) तू (इमाम्) इस वधू को (सुपुत्राम्) उत्तम पुत्रयुक्त (सुभगाम्) सुन्दर सौभाग्य भोगवाली (कृणु) कर। (अस्याम्) इस वधू में (दश) दश (पुत्रान्) पुत्रों को (आधेहि) उत्पन्न कर, अधिक नहीं। और हे स्त्री ! तू भी अधिक कामना मत कर, किन्तु दश पुत्र और (एकादशम्) ग्यारहवें (पतिम्) पति को प्राप्त होकर सन्तोष (कृधि) कर। यदि इससे आगे सन्तानोत्पत्ति का लोभ करोगे, तो तुम्हारे दुष्ट अल्पायु निर्बुद्धि सन्तान होंगे। और तुम भी अल्पायु रोगग्रस्त हो जाओगे। इसलिए अधिक सन्तानोत्पत्ति न करना ॥

तथा (पतिमेकादशं कृधि) इस पाद[1] का अर्थ नियोग में दूसरा होगा—

---

१. संस्करण २, ३, ४ में 'पाद' पाठ है, जो कि युक्त है। कोष्ठक में

ओं सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव। ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधि देवृषु स्वाहा* ॥ इदं सूर्यायै सावित्र्यै—इदन्न मम ॥४॥[1]

इन ४ चार मन्त्रों से एक-एक से एक-एक करके ४ चार आज्याहुति देके, पृष्ठ ३५ में लिखे प्रमाणे स्विष्टकृत्[2] होमाहुति १ एक,

---

अर्थात् जैसे पुरुष को विवाहित स्त्री में दश पुत्र उत्पन्न करने की आज्ञा परमात्मा की है, वैसी ही आज्ञा स्त्री को भी है कि दश पुत्र तक चाहे विवाहित पति से अथवा विधवा हुए पश्चात् नियोग से करे करावे। वैसे ही एक स्त्री के लिये एक पति से एक वार विवाह, और पुरुष के लिये भी एक स्त्री से एक वार विवाह करने की आज्ञा है। जैसे विधवा हुए पश्चात् स्त्री नियोग से सन्तानोत्पत्ति करके पुत्रवती होवे, वैसे पुरुष भी विगतस्त्री होवे तो नियोग से पुत्रवान् होवे ॥ द० स०

*हे वरानने ! तू (श्वशुरे) मेरा पिता जो कि तेरा श्वशुर है, उस में प्रीति करके (सम्राज्ञी) सम्यक् प्रकाशमान चक्रवर्ती राजा की राणी के समान पक्षपात छोड़के प्रवृत्त (भव) हो। (श्वश्र्वाम्) मेरी माता जो कि तेरी सासु है, उसमें प्रेमयुक्त होके उसी की आज्ञा में (सम्राज्ञी) सम्यक् प्रकाशमान (भव) रहा कर। (ननान्दरि) जो मेरी बहिन और तेरी ननन्द है, उसमें भी (सम्राज्ञी) प्रीतियुक्त, और (देवृषु) मेरे भाई जो तेरे देवर और ज्येष्ठ अथवा कनिष्ठ हैं, उनमें भी (सम्राज्ञी) प्रीति से प्रकाशमान (अधि भव) अधिकारयुक्त हो, अर्थात् सब से अविरोधपूर्वक प्रीति से वर्ता कर ॥ द० स०

निर्दिष्ट भाग मन्त्र का १ पाद=चरण है। छठे संस्करण में 'पद' अशुद्ध छपा है, (पांचवां संस्करण हमारे पास नहीं है)। यही अशुद्ध पाठ वै० यं० के संस्करणों में अभी [२५वें संस्करण] तक छप रहा है।

१. ऋ० १०.८५।४३-४६॥ 'स्वाहा' तथा 'इदं—मम' मन्त्रों से बहिर्भूत पद हैं। दूसरे मन्त्र में पढ़े 'देवृकामा' पद के विषय में पृष्ठ १६३, टि० १ देखें।

२. 'ओं यदस्य कर्मणो०' मन्त्र से।

व्याहृति[1] आज्याहुति ४ चार, और प्राजापत्याहुति[2] १ एक, ये सब मिलके ६ छः आज्याहुति देकर—

समञ्जन्तु विश्वे देवाः समापो हृदयानि नौ ।
सं मातरिश्वा सं धाता समु देष्ट्री दधातु नौ† ॥[3]

इस मन्त्र को बोलके दोनों दधिप्राशन करें ।

तत्पश्चात्—

अहं भो अभिवादयामि* ॥[4]

इस वाक्य को बोलके दोनों वधू-वर, वर की माता पिता आदि वृद्धों को प्रीतिपूर्वक नमस्कार करें ।

पश्चात् सुभूषित होकर शुभासन पर बैठके पृष्ठ ३८-३९ में लिखे प्रमाणे वामदेव्यगान करके, उसी समय पृष्ठ ७-१० में लिखे प्रमाणे ईश्वरोपासना करनी । उस समय कार्यार्थ आये हुए सब स्त्री-पुरुष ध्यानावस्थित होकर परमेश्वर का ध्यान करें ।

[स्वस्ति-वाचन]

तथा वधू-वर पिता आचार्य और पुरोहित आदि को कहें कि—

ओं स्वस्ति भवन्तो ब्रुवन्तु ॥[5]

---

†इस मन्त्र का अर्थ पृष्ठ १६२ में लिखे प्रमाणे समझ लेना ॥ द० स०

*इससे उत्तम (नमस्ते) यह वेदोक्त वाक्य अभिवादन के लिये नित्यप्रति स्त्री-पुरुष पिता-पुत्र अथवा गुरु-शिष्य आदि के लिये है । प्रातः सायं अपूर्व समागम में जब-जब मिलें, तब-तब इसी वाक्य से परस्पर वन्दन करें ॥ द० स०

---

१. 'ओं भूरग्नये स्वाहा' आदि मन्त्रों से ।

२. 'ओं प्रजापतये स्वाहा' मन्त्र से ।

३. ऋ० १०।८५।४७॥

४. द्र०—गोभिल गृह्य २।४।१०॥

५. द्र०—आश्व० गृह्य १।८।५॥ 'अथ स्वस्त्ययनं वाचयीत' सूत्र का अभिप्राय टीकाकार के मत में 'ओं स्वस्ति भवन्तो ब्रुवन्तु' प्रयोग से है । उपस्थित जन 'ओं स्वस्ति' ऐसा प्रत्युत्तर देवें । स्वामी दयानन्द सरस्वती ने स्वस्तिवाचन का पाठरूप जो अभिप्राय समझा है, वह भी यहां सम्यग्रूप से उपपन्न होता है ।

आप लोग स्वस्तिवाचन करें।

तत्पश्चात् पिता आचार्य पुरोहित जो विद्वान् हों, अथवा उनके अभाव में यदि वधू-वर विद्वान् वेदवित् हों, तो वे ही दोनों पृ० ११–१४ में लिखे प्रमाणे स्वस्तिवाचन का पाठ बड़े प्रेम से करें।

पाठ हुए पश्चात् कार्यार्थ आए हुये स्त्रीपुरुष सब—

ओं स्वस्ति ओं स्वस्ति ओं स्वस्ति ॥

इस वाक्य को बोलें।

[अभ्यागत-सत्कार]

तत्पश्चात् कार्यकर्त्ता पिता चाचा भाई आदि पुरुषों को, तथा माता चाची भगिनी आदि स्त्रियों को यथावत् सत्कार करके विदा करें।

[गर्भाधान का दूसरा काल]

तत्पश्चात् यदि किसी विशेष कारण से श्वशुरगृह में गर्भाधान संस्कार न हो सके, तो वधू-वर क्षार आहार और विषय-तृष्णा रहित व्रतस्थ होके पृष्ठ ४०-५७ में लिखे प्रमाणे विवाह के चौथे दिवस में गर्भाधान संस्कार करें। अथवा उस दिन ऋतुकाल न हो, तो किसी दूसरे दिन गर्भस्थापन करें। और जो वर दूसरे देश से विवाह के लिये आया हो, तो वह जहां जिस स्थान में विवाह करने के लिये जाकर उतरा हो, उसी स्थान में गर्भाधान करे।

[वधू और वर के पारिवारिक जनों का व्यवहार]

पुनः अपने घर आके पति सासु श्वशुर नणन्द[1] देवर देवराणी[1] ज्येष्ठ जेठाणी[1] आदि कुटुम्ब के मनुष्य वधू को पूजा अर्थात् सत्कार करें। सदा प्रीतिपूर्वक परस्पर वर्त्तें, और मधुरवाणी वस्त्र आभूषण आदि से सदा प्रसन्न और सन्तुष्ट वधू को रक्खें, तथा वधू भी सब को प्रसन्न रक्खे। और वर उस वधू के साथ पत्नीव्रतादि सद्धर्म से वर्ते, तथा पत्नी भी पति के साथ पतिव्रतादि सद्धर्म चाल-चलन से सदा पति की आज्ञा में तत्पर और उत्सुक रहे। तथा वर भी स्त्री की सेवा प्रसन्नता में तत्पर रहे॥

इति विवाहसंस्कारविधिः समाप्तः॥



---

१. ये पाठ संस्करण २,३ में हैं। अगले संस्करणों में 'ननन्द, देवरानी, जेटानी' बना दिया है।

अथ गृहाश्रमसंस्कारविधिं वक्ष्यामः

'गृहाश्रम-संस्कार'[1] उसको कहते हैं कि जो ऐहिक और पारलौकिक सुख-प्राप्ति के लिये विवाह करके अपने सामर्थ्य के अनुसार परोपकार करना, और नियत काल में यथाविधि ईश्वरोपासना और गृहकृत्य करना, और सत्य धर्म में ही अपना तन-मन-धन लगाना, तथा धर्मानुसार सन्तानों की उत्पत्ति करनी ।

अत्र प्रमाणानि—

सोमो॑ व॒धूयु॑रभवद॒श्विना॑स्तामु॒भा व॒रा ।
सू॒र्यां॒ यत्पत्ये॒ शंस॑न्तीं॒ मन॑सा सवि॒ताद॑दात् ॥१॥
इ॒हैव स्तं॒ मा वि यौ॑ष्टं॒ विश्व॒मायु॒र्व्य॑श्नुतम् ।
क्रीड॑न्तौ पु॒त्रैर्नप्तृ॑भि॒र्मोद॑मानौ स्वस्त॒कौ ॥२॥[2]

---

१. गृहाश्रम-संस्कार कर्म नहीं है, अतः 'अथ गृहाश्रमविधिं वक्ष्यामः' इतना ही पाठ होना चाहिए । जैसे वेदारम्भ के अन्त में ब्रह्मचर्याश्रम के कर्तव्यों का उल्लेख है, वैसे ही यह प्रकरण भी विवाह-संस्कार का परिशिष्ट स्वरूप है । इसमें विवाह के पश्चात् गृहस्थ के क्रियमाण धर्मों का उपदेश है ।

२. अथर्व १४।१।३,२२।। वै. यं० के ७ वें संस्करण में मन्त्रों के पते देनेवाले व्यक्ति ने इन मन्त्रों पर ऋग्वेद का पता देकर द्वितीय मन्त्र में अथर्व० के पाठ 'स्वस्तकौ' को हटाकर ऋग्वेद का पाठ 'स्वे गृहे' बना दिया । परन्तु उसकी दृष्टि इस के भाषार्थ पर नहीं पड़ी, जहां 'स्वस्तकौ' का अर्थ किया हुआ है । अतः मन्त्रपाठ में 'स्वे गृहे' परिवर्तन कर देने पर भी २१ वें सस्करण तक भाषार्थ में (स्वस्तकौ) पद ही छपता रहा। २२ वें संस्करण में भाषार्थ में भी (स्वस्तकौ) हटाकर (स्वे गृहे) पाठ बना दिया गया । यह परिवर्तन स्वामी स्वतन्त्रानन्दजी ने किया, परन्तु कोष्ठक में (स्वस्तकौ) हटा देने पर भी भाषार्थ २४ संस्करण तक (स्वस्तकौ) पद का ही छपता रहा । अज्ञान से, उत्तरोत्तर कैसे पाठ परिवर्तित किए गए, इसका यह एक विशिष्ट उदाहरण है ।

अर्थः—(सोमः) सुकुमार शुभगुणयुक्त, (वधूयुः) वधू की कामना करनेहारा पति, तथा वधू पति की कामना करनेहारी (अश्विना) दोनों ब्रह्मचर्य से विद्या को प्राप्त (अभवत्) होवें। और (उभा) दोनों (वरा) श्रेष्ठ तुल्य गुण कर्म स्वभाववाले (आस्ताम्) होवें। ऐसी (यत्) जो (सूर्याम्) सूर्य की किरणवत् सौन्दर्य गुणयुक्त, (पत्ये) पति के लिये (मनसा) मन से (शंसन्तीम्) गुण-कीर्त्तन करनेवाली वधू है उसको पुरुष, और इसी प्रकार के पुरुष को स्त्री (सविता) सकल जगत् का उत्पादक परमात्मा (ददात्) देता है, अर्थात् बड़े भाग्य से दोनों स्त्रीपुरुषों का, जो कि तुल्य गुण कर्म स्वभाव हों, जोड़ा मिलता है ॥ १ ॥

हे स्त्री और पुरुष! मैं परमेश्वर आज्ञा देता हूं कि जो तुम्हारे लिये पूर्व विवाह में प्रतिज्ञा हो चुकी है, जिसको तुम दोनों ने स्वीकार किया है, (इहैव) इसी में (स्तम्) तत्पर रहो, (मा वियौष्टम्) इस प्रतिज्ञा से वियुक्त मत होओ। (विश्वमायुर्व्यश्नुतम्)[1] ऋतुगामी होके वीर्य का अधिक नाश न करके संपूर्ण आयु, जो १०० सौ वर्षों से कम नहीं है, उसको प्राप्त होओ। और पूर्वोक्त धर्मरीति से (पुत्रैः) पुत्रों और (नप्तृभिः) नातियों के साथ (क्रीडन्तौ) क्रीड़ा करते हुए (स्वस्तकौ) उत्तम गृहवाले (मोदमानौ) आनन्दित होकर गृहाश्रम में प्रीतिपूर्वक वास करो ॥२॥

सुमङ्गली प्रतरणी गृहाणां सुशेवा पत्ये श्वशुराय शंभूः।
स्योना श्वश्र्वै प्र गृहान् विशेमान् ॥३॥

स्योना भव श्वशुरेभ्यः स्योना पत्ये गृहेभ्यः।
स्योनास्यै सर्वस्यै विशे स्योना पुष्टायैषां भव ॥४॥

या दुर्हार्दो युवतयो याश्चेह जरतीरपि।
वर्चो न्व१स्यै सं दत्ताथास्तं विपरेतन ॥५॥[2]

---

१. 'विश्वमायुः' पद से कई शङ्का करते है कि वेद के अनुसार आयु-पर्यन्त गृहस्थ में ही रहना है, वानप्रस्थ संन्यास की कल्पना अवैदिक है। इसका समाधान परिशिष्ट १ में देखें। २. अथर्व० १४।२।२६,२७,२९॥

आ रोह तल्पं सुमनस्यमानेह प्रजां जनय पत्ये अस्मै ।
इन्द्राणीव सुबुधा बुध्यमाना ज्योतिरग्रा उषसः प्रति जागरासि ॥६॥[1]

अर्थः—हे वरानने ! तू (सुमङ्गली) अच्छे मङ्गलाचरण करने, तथा (प्रतरणी) दोष और शोकादि से पृथक् रहनेहारी, (गृहाणाम्) गृह-कार्यों में चतुर और तत्पर रहकर (सुशेवा) उत्तम सुखयुक्त होके (पत्ये) पति (श्वशुराय) श्वशुर और (श्वश्र्वै) सासु के लिये (शम्भूः) सुखकर्त्ता[2], और (स्योना) स्वयं प्रसन्न हुई (इमान्) इन (गृहान्) घरों में सुखपूर्वक (प्रविश) प्रवेश कर ॥ ३ ॥

हे वधू ! तू (श्वशुरेभ्यः) श्वशुरादि के लिये (स्योना) सुखदाता, (पत्ये) पति के लिये (स्योना) सुखदाता, और (गृहेभ्यः) गृहस्थ सम्बन्धियों के लिये (स्योना) सुखदायक (भव) हो । और (अस्यै) इस (सर्वस्यै) सब (विशे) प्रजा के अर्थ (स्योना) सुखप्रद, और (एषाम्) इनके (पुष्टाय) पोषण के अर्थ तत्पर (भव) हो ॥४॥

(याः) जो (दुर्हार्दः) दुष्ट हृदयवाली अर्थात् दुष्टात्मा (युवतयः) जवान स्त्रियां, (च) और (याः) जो (इह) इस स्थान में (जरतीः) बुड्ढी=वृद्ध स्त्रियां हों, वे (अपि) भी (अस्यै) इस वधू को (नु) शीघ्र (वर्चः) तेज (सं दत्त) देवें । (अथ) इसके पश्चात् (अस्तम्) अपने-अपने घर को (विपरेतन) चली जावें, और फिर इसके पास कभी न आवें ॥ ५ ॥

हे वरानने ! तू (सुमनस्यमाना) प्रसन्नचित होकर (तल्पम्) पर्यङ्क पर (आरोह) चढ़के शयन कर । और (इह) इस गृहाश्रम में स्थिर रह कर (अस्मै) इस (पत्ये) पति के लिये (प्रजां जनय) प्रजा को उत्पन्न कर । (सुबुधा) सुन्दर ज्ञानी (बुध्यमाना) उत्तम शिक्षा को प्राप्त (इन्द्राणीव) सूर्य की कान्ति के समान तू (उषसः) उषःकाल से (अग्रा) पहिली (ज्योतिः) ज्योति के तुल्य (प्रति जागरासि) प्रत्यक्ष सब कामों में जागती रह ॥ ६ ॥

देवा अग्रे न्यपद्यन्त पत्नीः समस्पृशन्त तन्वस्तनूभिः ।
सूर्येव नारि विश्वरूपा महित्वा प्रजावती पत्या सं भवेह ॥७॥[3]

१. अथर्व० १४।२।३१॥ २. 'सुखकर्त्री' तृतीय संस्करण में परिवर्तित पाठ ।
३. अथर्व० १४।२।३२॥

सं पितरावृत्विये सृजेथां माता पिता च रेतसो भवाथः ।
मर्यइव योषामधि रोहयैनां प्रजां कृण्वाथामिह पुष्यतं रयिम् ॥८॥
तां पूषञ्छिवतमामेरयस्व यस्यां बीजं मनुष्या३ वपन्ति ।
या न ऊरू उशती विश्रयाति यस्यामुशन्तः प्रहरेम शेपः ॥९॥[1]

अर्थः—हे सौभाग्यप्रदे (नारि) [नारी !]तू जैसे (इह) इस गृहाश्रम में (अग्रे) प्रथम (देवाः) विद्वान् लोग (पत्नीः) उत्तम स्त्रियों को (न्यपद्यन्त) प्राप्त होते हैं, और (तनूभिः) शरीरों से (तन्वः) शरीरों को (समस्पृशन्त) स्पर्श करते हैं, वैसे (विश्वरूपा) विविध सुन्दररूप को धारण करनेहारी, (महित्वा) सत्कार को प्राप्त होके (सूर्येव) सूर्य की कान्ति के समान (पत्या) अपने स्वामी के साथ मिलके (प्रजावती) प्रजा को प्राप्त होनेहारी (संभव) अच्छे प्रकार हो ॥७॥

हे स्त्रीपुरुषो ! तुम (पितरौ) बालकों के जनक (ऋत्विये) ऋतु-समय में सन्तानों को (संसृजेथाम्) अच्छे प्रकार उत्पन्न करो। (माता) जननी (च) और (पिता) जनक दोनों (रेतसः) वीर्य को मिलाकर गर्भाधान करनेहारे (भवाथः) हूजिये। हे पुरुष ! (एनाम्) इस (योषाम्) अपनी स्त्री को (मर्य इव) प्राप्त होनेवाले पति के समान (अधि रोहय) सन्तानों से बढ़ा। और दोनों (इह) इस गृहाश्रम में मिलके (प्रजाम्) प्रजा को (कृण्वाथाम्) उत्पन्न करो, (पुष्यतम्) पालन-पोषण करो, और पुरुषार्थ से (रयिम्) धन को प्राप्त होओ ॥ ८ ॥

हे (पूषन्) वृद्धिकारक पुरुष ! (यस्याम्) जिसमें (मनुष्याः) मनुष्य लोग (बीजम्) वीर्य को (वपन्ति) बोते हैं, (या) जो (नः) हमारी (उशती) कामना करती हुई (ऊरू) ऊरू को सुन्दरता से (विश्रयाति) विशेषकर आश्रय करती है, (यस्याम्) जिस में (उशन्तः) सन्तानों की कामना करते हुए हम (शेपः) उपस्थेन्द्रिय का (प्रहरेम) प्रहरण करते हैं, (ताम्) उस (शिवतमाम्) अतिशय कल्याण करनेहारी स्त्री को सन्तानोत्पत्ति के लिये (एरयस्व) प्रेम से प्रेरणा कर ॥ ९ ॥

१. अथर्व० १४।२।३७,३८॥

स्योनाद् योनेरधि बुध्यमानौ हसामुदौ महसा मोदमानौ ।
सुगू सुपुत्रौ सुगृहौ तराथो जीवावुषसो विभातीः ॥१०॥
इहेमाविन्द्र सं नुद चक्रवाकेव दम्पती ।
प्रजयैनौ स्वस्तकौ विश्वमायुर्व्यश्नुताम् ॥११॥
जनियन्ति नावग्रवः पुत्रियन्ति सुदानवः ।
अरिष्टासू सचेवहि बृहते वाजसातये ॥१२॥[1]

अर्थः—हे स्त्री और पुरुष ! जैसे सूर्य (विभातीः) सुन्दर प्रकाशयुक्त (उषसः) प्रभात वेला को प्राप्त होता है, वैसे (स्योनात्) सुख से (योनेः) घर के मध्य में (अधि बुध्यमानौ) सन्तानोत्पत्ति आदि की क्रिया को अच्छे प्रकार जाननेहारे, सदा (हसामुदौ) हास्य और आनन्दयुक्त, (महसा) बड़े प्रेम से (मोदमानौ) अत्यन्त प्रसन्न हुए, (सुगू) उत्तम चाल चलने से धर्मयुक्त व्यवहार में अच्छे प्रकार चलनेहारे, (सुपुत्रौ) उत्तम पुत्रवाले, (सुगृहौ) श्रेष्ठ गृहादि सामग्रीयुक्त (जीवौ) उत्तम प्रकार जीवों को धारण करते हुए (तराथः) गृहाश्रम के व्यवहारों के पार होओ ॥१०॥

हे (इन्द्र) परमैश्वर्ययुक्त विद्वान् राजन ! आप (इह) इस संसार में (इमौ) इन स्त्रीपुरुषों को समय पर विवाह करने की आज्ञा और ऐसी व्यवस्था दीजिये कि जिससे कोई स्त्रीपुरुष पृष्ठ ११८-१२३ में लिखे प्रमाण से पूर्व वा अन्यथा विवाह न कर सकें, वैसे (सं नुद) सब को प्रसिद्धि से प्रेरणा कीजिये। जिससे ब्रह्मचर्य-पूर्वक शिक्षा को पाके (दम्पती) जाया और पति (चक्रवाकेव) चकवा चकवी के समान एक-दूसरे से प्रेमबद्ध रहें। और गर्भाधान-संस्कारोक्तविधि से (प्रजया) उन्नत[2] हुई प्रजा से (एनौ) ये दोनों (स्वस्तकौ) सुखयुक्त होके (विश्वम्) सम्पूर्ण १०० सौ वर्षपर्यन्त (आयुः) आयु को (व्यश्नुताम्) प्राप्त होवें ॥११॥

हे मनुष्यो ! जैसे (सुदानवः) विद्यादि उत्तम गुणों के दान करनेहारे (अग्रवः) उत्तम स्त्री-पुरुष (जनियन्ति) पुत्रोत्पत्ति

१. अथर्व० १४।२।४३,६४,७२॥
२. 'उत्पन्न पाठ चाहिये ।

करते, और (पुत्रियन्ति)[1] पुत्र की कामना करते हैं, वैसे (नौ) हमारे भी सन्तान उत्तम होवें। तथा (अरिष्टासू) बल प्राण का नाश न करनेहारे होकर (बृहते) बड़े (वाजसातये) परोपकार के अर्थ विज्ञान और अन्न आदि के दान के लिये (सचेवहि) कटिबद्ध सदा रहें, जिससे हमारे सन्तान भी उत्तम होवें।। १२ ।।

बुध्यस्व सुबुधा बुध्यमाना दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ।
गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथासो दीर्घं त आयुः सविता कृणोतु १३।।[2]

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः ।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ।।१४।।[3]

अर्थः—हे पत्नी ! तू (शतशारदाय) शतवर्ष पर्यन्त (दीर्घायुत्वाय) दीर्घकाल जीने के लिये (सुबुधा) उत्तम बुद्धियुक्त, (बुध्यमाना) सज्ञान होकर (गृहान्) मेरे घरों को (गच्छ) प्राप्त हो। और (गृहपत्नी) मुझ घर के स्वामी की स्त्री (यथा) जैसे (ते) तेरा (दीर्घम्) दीर्घकाल पर्यन्त (आयुः) जीवन (आसः) होवे, वसे (प्रबुध्यस्व) प्रकृष्ट ज्ञान और उत्तम व्यवहार को यथावत् जान। इस अपनी आशा को (सविता) सब जगत् की उत्पत्ति और सम्पूर्ण ऐश्वर्य को देनेहारा परमात्मा (कृणोतु) अपनी कृपा से सदा सिद्ध करे। जिससे तू और मैं सदा उन्नतिशील होकर आनन्द में रहें ।।१३।।

हे गृहस्थो ! मैं ईश्वर तुमको जैसी आज्ञा देता हूं, वैसा ही वर्त्तमान करो, जिससे तुमको अक्षय सुख हो । अर्थात् (वः) तुम्हारा (सहृदयम्) जैसी अपने लिये सुख की इच्छा करते और दुःख नहीं चाहते हो, वैसे माता-पिता सन्तान स्त्री-पुरुष भृत्य मित्र पड़ोसी[4] और अन्य सब से समान हृदय रहो। (सांमनस्यम्)

---

१. सब संस्करणों में (पुत्रीयन्ति) पाठ है, परन्तु मन्त्र में (पुत्रियन्ति) ह्रस्व इकारवाला पाठ होने से हमने यहां भी वही पाठ रखा है ।

२. अथर्व० १४।२।७५।। यहां तक के मन्त्रों का पता संस्करण २ में नहीं दिया गया।

३. अथर्व० ३।३०।१।। यहां से आगे के मन्त्रों का पता संस्करण २ में २०वें मन्त्र के अन्त में दिया है ।

४. 'पाड़ोसी' संस्करण २ में, 'पड़ोसी' सं० ३ में शोधित ।

मन से सम्यक् प्रसन्नता, और (अविद्वेषम्) वैर-विरोधादिरहित व्यवहार को तुम्हारे लिये (कृणोमि) स्थिर करता हूं। तुम (अघ्न्या) हनन न करने योग्य गाय (वत्सं जातमिव) उत्पन्न हुए बछड़े पर वात्सल्यभाव से जैसे वर्तती है, वैसे (अन्यो अन्यम्) एक-दूसरे से (अभि हर्यत) प्रेमपूर्वक कामना से वर्त्ता करो ॥ १४ ॥

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवान् ॥१५॥[1]
मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ॥१६॥[2]

अर्थः—हे गृहस्थो ! जैसे तुम्हारा (पुत्रः) पुत्र (मात्रा) माता के साथ (संमनाः) प्रीतियुक्त मनवाला, (अनुव्रतः) अनुकूल आचरणयुक्त, (पितुः) और पिता के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार का प्रेमवाला (भवतु) होवे, वैसे तुम भी पुत्रों के साथ सदा वर्त्ता करो। जैसे (जाया) स्त्री (पत्ये) पति की प्रसन्नता के लिये (मधुमतीम्) माधुर्य-गुणयुक्त (वाचम्) वाणी को (वदतु) कहे, वैसे पति भी (शन्तिवान्) शान्त होकर अपनी पत्नी से सदा मधुर भाषण किया करे ॥ १५ ॥

हे गृहस्थो ! तुम्हारे में (भ्राता) भाई (भ्रातरम्) भाई के साथ (मा द्विक्षन्) द्वेष कभी न करे। (उत) और (स्वसा) बहिन (स्वसारम्) बहिन से द्वेष कभी (मा) न करे। तथा बहिन भाई भी परस्पर द्वेष मत करो, किन्तु (सम्यञ्चः) सम्यक् प्रेमादि गुणों से युक्त, (सव्रताः) समान गुण कर्म स्वभाववाले (भूत्वा) होकर (भद्रया) मङ्गलकारक रीति से एक-दूसरे के साथ (वाचम्) सुखदायक वाणी को (वदत) बोला करो ॥१६॥

येन देवा वियन्ति नो च विद्विषते मिथः।
तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः ॥१७॥[3]

---

१. अथर्व० ३।३०।२॥ 'शन्तिवान्' द्र०—राथह्विटनी संस्करण। अन्यत्र छपा पाठ 'शन्तिवाम्'। 'शन्तिवाम्' पाठ होने पर यह 'वाच' का विशेषण बनता है। शन्तिवान् पाठ वर का विशेषण होकर स्वतन्त्र वाक्य बनता है। यही पक्ष ग्रन्थकार ने स्वीकार किया है।

२. अथर्व० ३।३०।३॥ ३. अथर्व० ३।३०।४॥

अर्थ—हे गृहस्थो ! मैं ईश्वर (येन) जिस प्रकार के व्यवहार से (देवाः) विद्वान् लोग (मिथः) परस्पर (न वियन्ति) पृथक् भाववाले नहीं होते, (च) और (नो विद्विषते) परस्पर में द्वेष कभी नहीं करते, (तत्) वही कर्म (वः) तुम्हारे (गृह) घर में (कृण्मः) निश्चित करता हूं । (पुरुषेभ्यः) पुरुषों को (संज्ञानम्) अच्छे प्रकार चिताता हूं कि तुम लोग परस्पर प्रीति से वर्त्त कर बड़े (ब्रह्म) धनैश्वर्य को प्राप्त होओ ।। १७ ।।

ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः ।
अन्योअन्यस्मै वल्गु वदन्त एत सध्रीचीनान्वःसंमनसस्कृणोमि।१८[1]

अर्थः—हे गृहस्थादि मनुष्यो ! तुम (ज्यायस्वन्तः) उत्तम विद्यादिगुणयुक्त, (चित्तिनः) विद्वान् सज्ञान, (सधुराः) धुरंधर होकर (चरन्तः) विचरते, और (संराधयन्तः) परस्पर मिलके धन धान्य राज्यसमृद्धि को प्राप्त होते हुए (मा वियौष्ट) विरोधी वा पृथक्-पृथक् भाव मत करो । (अन्यः) एक (अन्यस्मै) दूसरे के लिये (वल्गु) सत्य मधुर भाषण (वदन्तः) कहते हुए एक-दूसरे को (एत) प्राप्त होओ । इसीलिये (सध्रीचीनान्) समान लाभाऽलाभ से एक-दूसरे के सहायक, (संमनसः) ऐकमत्य-वाले (वः) तुम को (कृणोमि) करता हूं । अर्थात् मैं ईश्वर तुम को जो आज्ञा देता हूं, इस को आलस्य छोड़कर किया करो ।।१८।।

समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि ।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः ॥१९॥
सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोम्येकश्रुष्टीन्त्संवननेन सर्वान् ।
देवा इवामृतं रक्षमाणाः सायंप्रातः सौमनसो वो अस्तु ।।२०।।[2]
अथर्व० कां० ३ । वर्ग ३० । मन्त्र १—७।।[3]

---

१. अथर्व० ३।३०।५।।

२. अथर्व ३।३०।६-७।। ७वें मन्त्र में '०म्येकश्रुष्टी० पाठ राथह्विटनी के संस्करणानुसार है । भाष्यार्थ में भी (एकश्रुष्टीन्) पद ही रखा है । अन्यत्र मुद्रित पाठ '०म्येकश्नुष्टी०' है । वै० यं० के ७वें संस्करण में पता देनेवाले व्यक्ति ने मन्त्र और भाषार्थ दोनों में 'एकश्नुष्टीन्' पाठ बना दिया है ।

३. यह पता संस्करण २ में छपा है ।

अर्थः—हे गृहस्थादि मनुष्यो ! मुझ ईश्वर की आज्ञा से तुम्हारा (प्रपा) जलपान स्नानादि का स्थान आदि व्यवहार (समानी) एकसा हो। (वः)तुम्हारा (अन्नभागः)खान-पान (सह) साथ हुआ करे। (वः)तुम्हारे (समाने) एक से (योक्त्रे) अश्वादि यान के जोते (सह) संगी हों। और तुम को मैं धर्म्मादि व्यवहार में भी एकीभूत करके (युनज्मि) नियुक्त करता हूं। जैसे (आराः) चक्र के आरे (अभितः) चारों ओर से (नाभिमिव) बीच के नालरूप काष्ठ में लगे रहते हैं, अथवा जैसे ऋत्विज् लोग और यजमान यज्ञ में मिलके (अग्निम्) अग्नि आदि के सेवन से जगत् का उपकार करते हैं, वैसे (सम्यञ्चः)सम्यक् प्राप्तिवाले तुम मिलके धर्मयुक्त कर्मों से[1] (सपर्यत) एक-दूसरे का हित सिद्ध किया करो ॥ १९ ॥

हे गृहस्थादि मनुष्यो ! मैं ईश्वर (वः) तुम को (सध्रीचीनान्) सह वर्त्तमान, (संमनसः) परस्पर के लिये हितैषी, (एकश्रुष्टीन्) एक ही धर्मकृत्य में शीघ्र प्रवृत्त होनेवाले (सर्वान्) सब को (संवननेन) धर्मकृत्य के सेवन के साथ एक-दूसरे के उपकार में नियुक्त (कृणोमि) करता हूं। तुम (देवा इव) विद्वानों के समान (अमृतम्) व्यावहारिक वा पारमार्थिक सुख की (रक्षमाणाः) रक्षा करते हुए (सायंप्रातः) सन्ध्या और प्रातःकाल अर्थात् सब समय में एक-दूसरे से प्रेमपूर्वक मिला करो। ऐसे करते हुए (वः) तुम्हारा (सौमनसः) मन का आनन्दयुक्त शुद्धभाव (अस्तु) सदा बना रहे[2] ॥ २० ॥

श्रमेण तपसा सृष्टा ब्रह्मणा वित्त ऋते श्रिताः[3] ॥२१॥
सत्येनावृताः श्रिया प्रावृता यशसा परीवृताः ॥२२॥

---

१. संस्करण २ में 'को' पाठ है। २. 'रहो' संस्करण २ का पाठ।

३. इस मन्त्र में 'वित्त ऋते' पाठ राथह्विटनी संस्करण के अनुसार है। अन्य संस्करणों में 'वित्तर्ते' पाठ मिलता है। वै० यं० के ७वें संस्करण में पता देनेवाले व्यक्ति ने 'वित्त ऋते' पाठ को बदल कर 'वित्तर्ते' बना दिया था, परन्तु संशोधनपत्र में पुनः 'वित्त ऋते' शोधन कर दिया। अगले संस्करण में संशोधनपत्र पर ध्यान न देने से अशुद्ध पाठ ही छप रहा है। ग्रन्थकार ने 'वित्ते

स्वधया परिहिताः श्रद्धया पर्यूढा दीक्षया गुप्ता यज्ञे प्रतिष्ठिता लोको निधनम् ॥२३॥[1]

अर्थः—हे स्त्रीपुरुषो ! मैं ईश्वर तुम को आज्ञा देता हूं कि तुम सब गृहस्थ मनुष्य लोग (श्रमेण) परिश्रम तथा (तपसा) प्राणायाम से (सृष्टाः) संयुक्त, (ब्रह्मणा) वेदविद्या परमात्मा और धनादि से (वित्ते) भोगने योग्य धनादि के प्रयत्न में, और (ऋते) यथार्थ पक्षपातरहित न्यायरूप धर्म में (श्रिताः) चलनेहारे सदा बने रहो ॥ २१ ॥

(सत्येन) सत्यभाषणादि कर्मों से (आवृताः) चारों ओर से युक्त, (श्रिया) शोभा तथा लक्ष्मी से (प्रावृताः) युक्त, (यशसा) कीर्ति और धन से (परीवृताः) सब ओर से संयुक्त रहा करो ॥२२॥

(स्वधया) अपने ही अन्नादि पदार्थ के धारण से (परिहिताः) सब के हितकारी, (श्रद्धया) सत्य धारण में श्रद्धा से (पर्यूढाः) सब ओर से सब को सत्याचरण प्राप्त करानेहारे, (दीक्षया) नाना प्रकार के ब्रह्मचर्य सत्यभाषणादि व्रत धारण से (गुप्ताः) सुरक्षित, (यज्ञे) विद्वानों के सत्कार शिल्पविद्या और शुभ गुणों के दान में (प्रतिष्ठिताः) प्रतिष्ठा को प्राप्त हुआ करो। और इन्हीं कर्मों से (निधनम् लोकः) इस मनुष्यलोक को प्राप्त होके मृत्युपर्यन्त सदा आनन्द में रहो ॥ २३ ॥

ओजश्च तेजश्च सहश्च बलं च वाक् चेन्द्रियं च श्रीश्च धर्मश्च ॥२४॥[2]

अर्थः—हे मनुष्यो ! तुम जो (ओजः) पराक्रम (च) और इस की सामग्री, (तेजः) तेजस्वीपन (च) और इसकी सामग्री, (सहः) स्तुति-निन्दा हानि लाभ तथा शोकादि का सहन (च) और इसके साधन, (बलं च) बल और इसके साधन, (वाक् च)

ऋते' यह पदच्छेद माना है। यह पदच्छेद 'वित्त ऋते' पाठ में ही उपपन्न हो सकता है, 'वित्तते' पाठ में नहीं। पदकार ने 'वित्ता ऋते' पदच्छेद किया है।

१. तु०—अथर्व० १२।५।१-३।। इन तीनों मन्त्रों में ग्रन्थकार के मत में 'सृष्टाः' आदि पद बहुवचनान्त हैं। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में भी यही पाठ माना है (द्र०—पृष्ठ ११४-११५ ट्रस्ट सं०)

२. अथर्व० १२।५।७।।

सत्य प्रिय वाणी और इसके अनुकूल व्यवहार, (इन्द्रियं च) शान्त धर्मयुक्त अन्तःकरण और शुद्धात्मा तथा जितेन्द्रियता, (श्रीश्च) लक्ष्मी सम्पत्ति और इसकी प्राप्ति का धर्मयुक्त उद्योग, (धर्मश्च) पक्षपातरहित न्यायाचरण वेदोक्त धर्म, और जो इस के साधन वा लक्षण हैं, उन को तुम प्राप्त होके इन्हीं में सदा वर्त्ता करो ॥ २४ ॥

ब्रह्म च क्षत्रं च राष्ट्रं च विशश्च त्विषिश्च यशश्च वर्चश्च द्रविणं च ॥२५॥

आयुश्च रूपं च नाम च कीर्तिश्च प्राणश्चापानश्च चक्षुश्च श्रोत्रं च ॥२६॥

पयश्च रसश्चान्नं चान्नाद्यं च ऋतं[1] च सत्यं चेष्टं च पूर्तं च प्रजा च पशवश्च ॥२७॥[2]

अथर्व० कां० १२, अ० ५, वर्ग १–२॥[3]

अर्थः—हे गृहस्थादि मनुष्यो ! तुम को योग्य है कि (ब्रह्म च) पूर्ण विद्यादि शुभ गुणयुक्त मनुष्य, और सब के उपकारक शम-दमादि गुणयुक्त ब्रह्मकुल, (क्षत्रं च) विद्यादि उत्तम गुणयुक्त तथा विनय और शौर्यादि गुणों से युक्त क्षत्रियकुल, (राष्ट्रं च) राज्य और उसका न्याय से पालन, (विशश्च) उत्तम प्रजा और उसकी उन्नति, (त्विषिश्च) सद्विद्यादि से तेज आरोग्य शरीर और आत्मा के बल से प्रकाशमान, और इसकी उन्नति से (यशश्च) कीर्तियुक्त तथा इसके साधनों को प्राप्त हुआ करो। (वर्चश्च) पढ़ी हुई विद्या का विचार और उसका नित्य पढ़ना, (द्रविणं च) द्रव्योपार्जन उस की रक्षा और धर्मयुक्त परोपकार में व्यय करने आदि कर्मों को सदा किया करो ॥ २५ ॥

---

१. यह पाठ राथह्विटनी के संस्करण के अनुसार है। ७वें संस्करण में 'चर्तं' छपा था, परन्तु उसका संशोधन अन्त में कर दिया। तथापि संशोधनपत्र पर ध्यान न देने से ८वें संस्करण में अशुद्ध छपा और २४ संस्करण तक अशुद्ध पाठ ही छपता रहा।

२. अथर्व० १२।१।८-१०॥ ३. यह पता संस्करण २ में छपा है।

हे स्त्रीपुरुषो ! तुम अपना (आयुः) जीवन बढ़ाओ, (च) और सब जीवन में धर्मयुक्त उत्तम कर्म ही किया करो । (रूपं च) विषयासक्ति कुपथ्य रोग और अधर्माचरण को छोड़के अपने स्वरूप को अच्छा रक्खो, और वस्त्राभूषण भी धारण किया करो, (नाम च) नामकरण के पृष्ठ ७७-८१ में लिखे प्रमाणे शास्त्रोक्त संज्ञाधारण और उसके नियमों को भी । (कीर्तिश्च) सत्याचरण से प्रशंसा का धारण, और गुणों में दोषारोपणरूप निन्दा छोड़ दो । (प्राणश्च) चिरकालपर्यन्त जीवन का धारण, और उसके युक्ताहार विहारादि साधन, (अपानश्च) सब दुःख दूर करने का उपाय और उसकी सामग्री, (चक्षुश्च) प्रत्यक्ष और अनुमान उपमान, (श्रोत्रं च) शब्दप्रमाण और उसकी सामग्री को धारण किया करो ॥२६॥

हे गृहस्थ लोगो ! (पयश्च) उत्तम जल दूध और इसका शोधन और युक्ति से सेवन, (रसश्च) घृत दूध मधु आदि और इस का युक्ति से आहार-विहार, (अन्नं च) उत्तम चावल आदि अन्न और उसके उत्तम संस्कार किये (अन्नाद्यं च) खाने के योग्य पदार्थ और उसके साथ उत्तम दाल शाक कढ़ी आदि, (ऋतं च) सत्य मानना और सत्य मनवाना, (सत्यं च) सत्य बोलना और बुलवाना (इष्टं च) यज्ञ करना और कराना, (पूर्त्तं च) यज्ञ की सामग्री पूरी करना, तथा जलाशय और आरामवाटिका आदि का बनाना और बनवाना, (प्रजा च) प्रजा की उत्पत्ति पालन और उन्नति सदा करनी तथा करानी, (पशवश्च) गाय आदि पशुओं का पालन और उन्नति सदा करनी तथा करानी चाहिये ॥ २७ ॥

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥१॥
य० अ० ४० । मन्त्र २ ॥

अर्थः—मैं परमात्मा सब मनुष्यों के लिये आज्ञा देता हूं कि सब मनुष्य (इह) इस संसार में शरीर से समर्थ होके (कर्माणि) सत्कर्मों को (कुर्वन्नेव) करता ही करता (शतं समाः) १०० सौ वर्ष पर्यन्त (जिजीविषेत्) जीने की इच्छा करे, आलसी और प्रमादी कभी न होवे । (एवम्) इसी प्रकार[1] उतम कर्म करते हुए

१. यह पाठ संस्करण २ के अनुसार है । संस्करण ३ में 'इस प्रकार' छपा है । यही पाठ आज तक छप रहा है ।

(त्वयि) तुझ (नरे) मनुष्य में (इतः) इस हेतु से (अन्यथा) उलटा पापरूप[1] (कर्म) दुःखद कम (न लिप्यते) लिप्यमान कभी नहीं होता, और तुम पापरूप कर्म में लिप्त कभी मत होओ। इस उत्तम कर्म से कुछ भी दुःख (नास्ति) नहीं होता। इसलिये तुम स्त्रीपुरुष सदा पुरुषार्थी होकर उत्तम कर्मों से अपनी और दूसरों की सदा उन्नति किया करो ॥१॥

पुनः स्त्रीपुरुष सदा निम्नलिखित मन्त्रों के अनुकूल इच्छा और आचरण किया करें। वे मन्त्र ये हैं—

भूर्भुवः स्वः सुप्रजाः प्रजाभिः स्याᳪ सुवीरो वीरैः सुपोषः पोषैः।
नर्य प्रजां मे पाहि शᳪस्य पशून् मे पाह्यथर्य पितुं मे पाहि ॥२॥
गृहा मा बिभीत मा वेपध्वमूर्जं बिभ्रतऽ एमसि ।
ऊर्जं बिभ्रद्वः सुमनाः सुमेधा गृहानैमि मनसा मोदमानः ॥३॥

यजु० अ० ३। मन्त्र ३७,४१॥

अर्थः—हे स्त्री वा पुरुष ! मैं तेरा वा अपने के सम्बन्ध से (भूर्भुवः स्वः) शारीरिक वाचिक और मानस अर्थात् त्रिविध सुख से युक्त होके (प्रजाभिः) मनुष्यादि उत्तम प्रजाओं के साथ (सुप्रजाः) उत्तम प्रजायुक्त (स्याम्) होऊं। (वीरैः) उत्तम पुत्र बन्धु सम्बन्धी और भृत्यों से सह वर्तमान (सुवीरः) उत्तम वीरों से सहित होऊं। (पोषैः) उत्तम पुष्टिकारक व्यवहारों से (सुपोषः) उत्तम पुष्टियुक्त होऊं। हे (नर्य) मनुष्यों में सज्जन वीर स्वामिन् ! (मे) मेरी (प्रजाम्) प्रजा की (पाहि) रक्षा कीजिये। हे (शंस्य) प्रशंसा करने योग्य स्वामिन् ! आप (मे) मेरे (पशून्) पशुओं की (पाहि) रक्षा कीजिये। हे (अथर्य) अहिंसक दयालो स्वामिन् ! (मे) मेरे (पितुम्) अन्न आदि की (पाहि) रक्षा कीजिये। वैसे हे नारी ! प्रशंसनीय गुणयुक्त तू मेरी प्रजा, मेरे पशु और मेरे अन्न की सदा रक्षा किया कर ॥२॥

हे (गृहाः) गृहस्थ लोगो ! तुम विधिपूर्वक गृहाश्रम में प्रवेश करने से (मा बिभीत) मत डरो, (मा वेपध्वम्) मत कंपायमान

---

१. यह पाठ संस्करण २ के अनुसार है, यही पाठ शुद्ध है। संस्करण ३ में 'उलटापनरूप' पाठ अशुद्ध छप गया। यही अपपाठ आज तक छप रहा है।

होओ। (ऊर्ज्जम्) अन्न पराक्रम तथा विद्यादि शुभ गुण से युक्त होकर गृहाश्रम को (बिभ्रतः) धारण करते हुए तुम लोगों को हम सत्योपदेशक विद्वान् लोग (एमसि) प्राप्त होते और सत्योपदेश करते हैं, और अन्नपानाच्छादन-स्थान से तुम्हीं हमारा निर्वाह करते हो। इस लिये तुम्हारा गृहाश्रम व्यवहार में निवास सर्वोत्कृष्ट है। हे वरानने! जैसे मैं तेरा पति (मनसा) अन्तःकरण से (मोदमानः) आनन्दित (सुमनाः) प्रसन्न मन (सुमेधाः) उत्तम बुद्धि से युक्त तुझको[1], और हे मेरे पूजनीयतम पिता आदि लोगो! (वः) तुम्हारे लिये (ऊर्ज्जम्) पराक्रम तथा अन्नादि ऐश्वर्य को (बिभ्रत्) धारण करता हुआ तुम (गृहान्) गृहस्थों को (आ एमि) सब प्रकार से प्राप्त होता हूं, उसी प्रकार तुम लोग भी मुझ से प्रसन्न होके वर्ता करो ॥३॥

[2]येषामध्येति प्रवसन् येषु सौमनसो बहुः।
गृहानुपह्वयामहे ते नो जानन्तु जानतः ॥४॥

उपहूताऽ इह गावऽ उपहूताऽ अजावयः।
अथोऽअन्नस्य कीलालऽ उपहूतो गृहेषु नः।
क्षेमाय वः शान्त्यै प्रपद्ये शिवꣳ शग्मꣳ शंयोः शंयोः ॥५॥

यजु० अध्याय ३। मं० ४२, ४३॥

अर्थः—हे गृहस्थो! (प्रवसन्) परदेश को गया हुआ मनुष्य (येषाम्) जिनका[3] (अध्येति) स्मरण करता है, (येषु) जिन गृहस्थों में (बहुः) बहुत (सौमनसः) प्रीति होती है, उन (गृहान्) गृहस्थों की हम विद्वान् लोग (उपह्वयामहे) प्रशंसा करते और प्रीति से समीपस्थ बुलाते हैं। (ते) वे गृहस्थ लोग (जानतः) उनको जाननेवाले (नः) हम लोगों को (जानन्तु) सुहृद् जानें। वैसे तुम गृहस्थ और हम संन्यासी लोग आपस में मिलके पुरुषार्थ से व्यवहार और परमार्थ की उन्नति सदा किया करें ॥४॥

---

१. संस्करण २ में 'मुझको' पाठ है।

२. संस्करण २,३ में 'एषामध्येति' पाठ है। यजुः के मन्त्रपाठ तथा ऋषि दयानन्द के भाष्य में 'येषां०' पाठ ही है।

३. संस्करण २,३ में '(एषाम्) इनका' पाठ मूल मन्त्रपाठ के विपरीत अपपाठ है।

हे गृहस्थो ! (नः) अपने (गृहेषु) घरों में जिस प्रकार (गावः) गौ आदि उत्तम पशु (उपहूताः) समीपस्थ हों, तथा (अजावयः) वकरी भेड़ आदि दूध देनेवाले पशु (उपहूताः) समीपस्थ हों, (अथो) इसके अनन्तर (अन्नस्य) अन्नादि पदार्थों के मध्य में उत्तम (कीलालः) अन्नादि पदार्थ (उपहूतः) प्राप्त होवे, हम लोग वैसा प्रयत्न किया करें । हे गृहस्थो ! मैं उपदेशक वा राजा (इह) इस गृहाश्रम में (वः) तुम्हारे (क्षेमाय) रक्षण तथा (शान्त्यै) निरुपद्रवता करने के लिये (प्रपद्ये) प्राप्त होता हूं । मैं और आप लोग प्रीति से मिलके (शिवम्) कल्याण (शग्मम्) व्यावहारिक सुख, और (शंयोः शंयो) पारमार्थिक सुख को प्राप्त होके अन्य सव लोगों को सदा सुख दिया करें ।।५।।

सन्तुष्टो भार्यया भर्त्ता भर्त्रा भार्या तथैव च ।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम् ।।१।।
यदि हि स्त्री न रोचेत पुमांसं न प्रमोदयेत् ।
अप्रमोदात् पुनः पुंसः प्रजनं न प्रवर्त्तते ।।२।। मनु० ।।[1]

अर्थः—हे गृहस्थो ! जिस कुल में भार्या से प्रसन्न पति और पति से भार्या सदा प्रसन्न रहती है, उसी कुल में निश्चित कल्याण होता है । और दोनों परस्पर अप्रसन्न रहें, तो उस कुल में नित्य कलह वास करता है ।।१।।

यदि स्त्री पुरुष पर रुचि न रखे, वा पुरुष को प्रहर्षित न करे, तो अप्रसन्नता से पुरुष के शरीर में कामोत्पत्ति कभी न होके सन्तान नहीं होते, और यदि होते हैं तो दुष्ट होते हैं ।।२।।

स्त्रियां तु रोचमानायां सर्वं तद् रोचते कुलम् ।
तस्यां त्वरोचमानायां सर्वमेव न रोचते ।।३।। मनु०।।[2]

अर्थः—और जो पुरुष स्त्री को प्रसन्न नहीं करता, तो उस स्त्री के अप्रसन्न रहने से सब कुलभर अप्रसन्न=शोकातुर रहता है । और जब पुरुष से स्त्री प्रसन्न रहती है, तब सब कुल आनन्दरूप दीखता है ।।३।।

पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरैस्तथा ।
पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः ।।४।।

---

१. मनु० ३।६०-६१।।   २. मनु० ३।६२।।

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः ।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः ।।५।।

शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम् ।
न शोचन्ति तु यत्रैता वर्द्धते तद्धि सर्वदा ।।६।।

जामयो यानि गेहानि शपन्त्यप्रतिपूजिताः ।
तानि कृत्याहतानीव विनश्यन्ति समन्ततः ।।७।। मनु० ।।[1]

अर्थः–पिता भ्राता पति और देवर को योग्य है कि अपनी कन्या बहिन स्त्री और भौजाई आदि स्त्रियों की सदा पूजा करें, अर्थात् यथायोग्य मधुर भाषण भोजन वस्त्र आभूषण आदि से प्रसन्न रक्खें। जिनको कल्याण की इच्छा हो, वे स्त्रियों को क्लेश कभी न देवें ।।४।।

जिस कुल में नारियों की पूजा अर्थात् सत्कार होता है, उस कुल में दिव्य गुण दिव्य भोग और उत्तम सन्तान होते हैं। और जिस कुल में स्त्रियों की पूजा नहीं होती, वहां जानो उनकी सब क्रिया निष्फल हैं ।।५।।

जिस कुल में स्त्रीलोग अपने-अपने पुरुषों के वेश्यागमन वा व्यभिचारादि दोषों से शोकातुर रहती हैं, वह कुल शीघ्र नाश को प्राप्त हो जाता है। और जिस कुल में स्त्रीजन पुरुषों के उत्तमाचरणों से प्रसन्न रहती हैं, वह कुल सर्वदा बढ़ता रहता है ।।६।।

जिन कुल और घरों में अपूजित अर्थात् सत्कार को न प्राप्त होकर स्त्रीलोग जिन गृहस्थों को शाप देती हैं, वे कुल तथा गृहस्थ जैसे विष देकर बहुतों को एक बार नाश कर देवें, वैसे चारों ओर से नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं ।।७।।

तस्मादेताः सदा पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः ।
भूतिकामैर्नरैर्नित्यं सत्कारेषूत्सवेषु च ।।८।। मनु० ।।[2]

अर्थः—इस कारण ऐश्वर्य की इच्छा करनेवाले पुरुषों को योग्य है कि इन स्त्रियों को सत्कार के अवसरों और उत्सवों में भूषण वस्त्र खान-पान आदि से सदा पूजा अर्थात् सत्कारयुक्त प्रसन्न रक्खें ।।८।।

---

१. मनु० ३।५५-५८।। २. मनु० ३।५९।।

सदा प्रहृष्टया भाव्यं गृहकार्येषु दक्षया ।
सुसंस्कृतोपस्करया व्यये चामुक्तहस्तया ॥९॥ मनु० ॥[1]

अर्थः—स्त्री को योग्य है कि सदा आनन्दित होके चतुरता से गृहकार्यों में वर्तमान रहे । तथा अन्नादि के उत्तम संस्कार, पात्र वस्त्र गृह आदि के संस्कार, और घर के भोजनादि में जितना नित्य धन आदि लगे, उस [व्यय] के यथायोग्य करने में सदा प्रसन्न रहे ॥९॥

एताश्चान्याश्च लोकेऽस्मिन्नपकृष्टप्रसूतयः ।
उत्कर्षं योषितः प्राप्ताः स्वैः स्वैर्भर्तृगुणैः शुभैः ॥१०॥[2]

अर्थः—यदि स्त्रियां दुष्टाचारयुक्त भी हों, तथापि इस संसार में बहुत स्त्रियां अपने-अपने पतियों के शुभ गुणों से उत्कृष्ट हो गईं, होती हैं, और होंगी भी । इसलिए यदि पुरुष श्रेष्ठ हों तो स्त्रियां श्रेष्ठ, दुष्ट हों तो दुष्ट हो जाती हैं । इससे प्रथम मनुष्यों को उत्तम होके अपनी स्त्रियों को उत्तम करना चाहिए ॥१०॥

प्रजनार्थं महाभागाः पूजार्हा गृहदीप्तयः ।
स्त्रियः श्रियश्च गेहेषु न विशेषोऽस्ति कश्चन ॥११॥

उत्पादनमपत्यस्य जातस्य परिपालनम् ।
प्रत्यहं लोकयात्रायाः प्रत्यक्षं स्त्रीनिबन्धनम् ॥१२॥

अपत्यं धर्मकार्याणि शुश्रूषा रतिरुत्तमा ।
दाराधीनस्तथा स्वर्गः पितॄणामात्मनश्च ह ॥१३॥[3]

यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः ।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्व आश्रमाः ॥१४॥ मनु० ॥[4]

अर्थः—हे पुरुषो ! सन्तानोत्पत्ति के लिये महाभाग्योदय करनेहारी, पूजा के योग्य, गृहाश्रम को प्रकाश करती, सन्तानोत्पत्ति करने-करानेहारी घरों में स्त्रियां हैं, वे श्री अर्थात् लक्ष्मीस्वरूप होती हैं । क्योंकि लक्ष्मी शोभा धन और स्त्रियों में कुछ भेद नहीं है ॥११॥

हे पुरुषो ! अपत्यों की उत्पत्ति, उत्पन्न का पालन करने आदि लोकव्यवहार को नित्यप्रति, जो कि गृहाश्रम का कार्य होता है, उसका निबन्ध करनेवाली प्रत्यक्ष स्त्री है ॥१२॥

---

१. मनु० ५।१५०॥ २. मनु० ९।२४॥
३. मनु० ९।२६-२८॥ ४. मनु० ३।७७॥

सन्तानोत्पत्ति, धर्म कार्य, उत्तम सेवा और रति तथा अपना और पितरों का जितना सुख है,वह सब स्त्री ही के आधीन होता है ॥१३॥

जैसे वायु के आश्रय से सब जीवों का वर्तमान सिद्ध होता है, वैसे ही गृहस्थ के आश्रय से ब्रह्मचारी वानप्रस्थ और संन्यासी अर्थात् सब आश्रमों का निर्वाह गृहस्थ के आश्रय से होता है ॥१४॥

यस्मात् त्रयोऽप्याश्रमिणो दानेनान्नेन[1] चान्वहम् ।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही ॥१५॥

स संधार्यः प्रयत्नेन स्वर्गमक्षयमिच्छता ।
सुखं चेहेच्छता नित्यं योऽधार्यो दुर्बलेन्द्रियैः ॥१६॥[2]
सर्वेषामपि चैतेषां वेदस्मृतिविधानतः ।
गृहस्थ उच्यते श्रेष्ठः स त्रीनेतान् बिभर्ति हि ॥१७॥[3]

अर्थः—जिससे ब्रह्मचारी वानप्रस्थ और संन्यासी इन तीन आश्रमियों को अन्नवस्त्रादि दान से नित्यप्रति गृहस्थ धारण पोषण करता है, इसलिये व्यवहार में गृहाश्रम सब से बड़ा है ॥१५॥

हे स्त्रीपुरुषो ! जो तुम अक्षय* मुक्ति-सुख और इस संसार के

*अक्षय इतना ही मात्र है कि जितना समय मुक्ति का है, उतने समय में दुःख का संयोग, जैसा विषयेन्द्रिय के संयोगजन्य सुख में होता है, वैसा नहीं होता ।[4] द० स०

१. स० प्र० समु० ४ के अन्त में उद्धृत इस श्लोक में 'दानेनान्नेन' ही पाठ है । मनु० के संवत् १९२६ के काशी संस्करण में 'ज्ञानेनान्नेन' पाठ पर ऋषि ने स्वहस्ताक्षर से 'ज्ञा' को काटकर 'दा' बनाया है ।

२. मनु० ३।७८-७९॥ ३. मनु० ६।८९॥

४. मोक्ष वा स्वर्ग के लिये 'अक्षय' 'अपरिमित' अपुनरावृत्ति 'न च पुनरावर्तते' आदि शब्दों का प्रयोग होता है । इन सब का तात्पर्य मोक्ष वा स्वर्ग-सुख का लौकिक-सुख से वैशिष्ट्य दर्शनिमात्र में है, न कि सर्वथा नाशराहित्य द्योतन में, यह शास्त्रकारों का निश्चित मत है । यथा—

भगवान् कात्यायन ने श्रौतसूत्र २।६।१ तथा अन्यत्र भी बहुधा प्रयुक्त 'अपरिमित' शब्द का अर्थ 'अपरिमितं परिमाणाद् भूयः' [शुल्व० १।२३] (अपरिमित अर्थात् नियत प्रमाण से अधिक) सूत्र द्वारा स्वयं बताया है । आप० श्रौत २।१।१ की टीका में रुद्रदत्त ने कात्यायन के उक्त वचन को

सुख की इच्छा रखते हो, तो जो दुर्बलेन्द्रिय और निर्बुद्धि पुरुषों के धारण करने योग्य नहीं है, उस गृहाश्रम को नित्य प्रयत्न से धारण करो ॥१६॥

वेद और स्मृति के प्रमाण से सब आश्रमों के बीच में गृहाश्रम श्रेष्ठ है। क्योंकि यहीं आश्रम ब्रह्मचारी आदि तीनों आश्रमों का धारण और पालन करता है ॥१७॥

यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम् ।
तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम् ॥१८॥[1]
उपासते ये गृहस्थाः परपाकमबुद्धयः ।
तेन ते प्रेत्य पशुतां व्रजन्त्यन्नादिदायिनाम् ॥१९॥
आसनावसथौ शय्यामनुव्रज्यामुपासनाम् ।
उत्तमेषूत्तमं कुर्याद्धीनं हीने समे समम् ॥२०॥[2]
पाषण्डिनो विकर्मस्थान् वैडालव्रतिकान् शठान् ।
हैतुकान् बकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत् ॥२१॥[3]

अर्थः—हे मनुष्यो ! जैसे सब बड़े-बड़े नद और नदी सागर में जाकर स्थिर होते हैं, वैसे ही सब आश्रमी गृहस्थ ही को प्राप्त होके स्थिर होते हैं ॥१८॥

उद्धृत करके भरद्वाज मुनि का 'अपरिमितशब्दे संख्याया ऊर्ध्वमिति भरद्वाजः' वचन भी उद्धृत किया है।

यही अक्षय शब्द का अभिप्राय है। क्षय=नष्ट होने की सामान्य सीमा से अधिक देर में नष्ट होनेवाला। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने कहा है कि 'नञ्' उत्तरपद के सादृश्य अर्थ को प्रकट करता है—'नञिवयुक्तमन्यसदृशाधिकरणे तथा ह्यर्थगतिः।' इसलिए 'अब्राह्मणमानय' कहने पर यदि कोई मिट्टी का ढेला या पत्थर ले आवे, तो वह वक्ता के अभिप्राय के प्रतिकूल होता है—'नासौ लोष्टमानीय कृती भवति' (महा० ३।१।१२)। इस नियम के अनुसार भी तात्कालिक क्षय वा पुनरावृत्ति अथवा नियत परिमाणमात्र अंश का प्रतिषेध दर्शाया जाता है, न कि उसका अत्यन्ताभाव। 'न च पुनरावर्तते' ब्राह्मणश्रुति का भी इसी में तात्पर्य है। इसी शास्त्रीय व्यवस्था के अनुसार ऊपर अक्षय शब्द का जो अर्थ ग्रन्थकार ने दर्शाया है, वह सर्वथा ठीक है।

---

१. मनु० ६।९०॥
२. मनु० ३।१०४,१०७॥ १०७ में 'कुर्याद्धीने हीनं' पाठ है।
३. मनु० ४।३०॥

यदि गृहस्थ होके पराये घर में भोजनादि की इच्छा करते हैं, तो वें बुद्धिहीन गृहस्थ अन्य से प्रतिग्रहरूप पाप करके जन्मान्तर में अन्नादि के दाताओं के पशु बनते हैं। क्योंकि अन्य से अन्नादि का ग्रहण करना अतिथियों का काम है, गृहस्थों का नहीं ॥१९॥

जब गृहस्थ के समीप अतिथि आवें, तब आसन निवास शय्या पश्चात्गमन और समीप में बैठना आदि सत्कार जैसे का वैसा, अर्थात् उत्तम का उत्तम, मध्यम का मध्यम और निकृष्ट का निकृष्ट करे। ऐसा न हो कि [इस नियम को] कभी न समझे ॥२०॥

किन्तु जो पाखण्डी वेदनिन्दक नास्तिक ईश्वर वेद और धर्म को न मानें, अधर्माचरण करनेहारे, हिंसक शठ मिथ्याभिमानी कुतर्की और बकवृत्ति, अर्थात् पराये पदार्थ हरने वा बहकाने में बगुले के समान अतिथिवेशधारी बनके आवें, उनका वचनमात्र से भी सत्कार गृहस्थ कभी न करे ॥२१॥

दशसूनासमं चक्रं दशचक्रसमो ध्वजः।
दशध्वजसमो वेषो दशवेषसमो नृपः ॥२२॥[1]
न लोकवृत्तं वर्तेत वृत्तिहेतोः कथंचन।
अजिह्मामशठां शुद्धां जीवेद् ब्राह्मणजीविकाम् ॥२३॥[2]
सत्यधर्मार्यवृत्तेषु शौचे चैवारमेत् सदा।
शिष्यांश्च शिष्याद् धर्मेण वाग्बाहूदरसंयतः ॥२४॥
परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ।
धर्मं चाप्यसुखोदर्कं लोकविक्रुष्टमेव च ॥२५॥ मनु० ॥[3]

अर्थः—दश हत्या के समान चक्र अर्थात् कुम्हार, गाड़ी से जीविका करनेहारे, दश चक्र के समान ध्वज अर्थात् धोबी, मद्य को निकाल कर बेचनेहारे, दश ध्वज के समान वेष अर्थात् वेश्या, भड़ुआ भांड, दूसरे की नकल अर्थात् पाषाणमूर्तियों के पूजक (पुजारी) आदि, और दश वेष के समान जो अन्यायकारी राजा होता है, उनके अन्न आदि का ग्रहण अतिथि लोग कभी न करें ॥२२॥

गृहस्थ जीविका के लिये भी कभी शास्त्रविरुद्ध लोकाचार का वर्त्ताव न वर्त्ते, किन्तु जिसमें किसी प्रकार की कुटिलता मूर्खता मिथ्यापन वा अधर्म न हो, उस वेदोक्त कर्म-सम्बन्धी जीविका को करे ॥२३॥

१. मनु० ४।८५॥ २. मनु० ४।११॥ ३. मनु० ४।१७५-१७६॥

किन्तु सत्य धर्म आर्य अर्थात् आप्त पुरुषों के व्यवहार, और शौच=पवित्रता ही में सदा गृहस्थ लोग प्रवृत्त रहें। और सत्यवाणी भोजनादि के लोभरहित हस्तपादादि की कुचेष्टा छोड़कर धर्म से शिष्यों और सन्तानों को उत्तम शिक्षा सदा किया करें ।।२४।।

यदि वहुतसा धन राज्य और अपनी कामना अधर्म से सिद्ध होती हो, तो भी अधर्म सर्वथा छोड़ देवें। और वेदविरुद्ध धर्माभास जिसके करने से उत्तरकाल में दुःख, और संसार की उन्नति का नाश हो, वैसा नाममात्र धर्म और कर्म कभी न किया करें ।।२५।।

सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परं स्मृतम् ।
योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्न मृद्वारिशुचिः शुचिः ।।२६।।
क्षान्त्या शुध्यन्ति विद्वांसो दानेनाकार्यकारिणः ।
प्रच्छन्नपापा जप्येन तपसा वेदवित्तमाः ।।२७।।
अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति ।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति ।।२८।।[1]
दशावरा वा परिषद् यं धर्मं परिकल्पयेत् ।
त्र्यवरा वापि वृत्तस्था त धर्मं न विचालयेत् ।।२९।।[2]
दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति ।
दण्डः सुप्तेषु जागर्त्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः ।।३०।।
तस्याहुः संप्रणेतारं राजानं सत्यवादिनम् ।
समीक्ष्यकारिणं प्राज्ञं धर्मकामार्थकोविदम् ।। ३१।। मनु०।।[3]

अर्थः—जो धर्म ही से पदार्थों का संचय करना है, वही सब पवित्रताओं में उत्तम पवित्रता, अर्थात् जो अन्याय से किसी पदार्थ का ग्रहण नहीं करता, वही पवित्र है। किन्तु जल-मृत्तिकादि से जो पवित्रता होती है, वह धर्म के सदृश उत्तम नहीं है ।।२६।।

विद्वान् लोग क्षमा से, दुष्टकर्मकारी सत्संग और विद्यादि शुभ गुणों के दान से, गुप्त पाप करनेहारे विचार से त्याग कर, और ब्रह्मचर्य तथा सत्यभाषणादि से वेदवित् उत्तम विद्वान् शुद्ध होते हैं।।२७।।

किन्तु जल से ऊपर के अङ्ग पवित्र होते हैं आत्मा और मन नहीं, मन तो सत्य मानने सत्य बोलने और सत्य करने से शुद्ध, और

---

१. मनु० ५।१०६,१०७,१०९।। २. मनु० १२।११०।।
३. मनु० ७।१८,२६ ।।

जीवात्मा विद्या योगाभ्यास और धर्माचरण ही से पवित्र, तथा बुद्धि ज्ञान से ही शुद्ध होती है, जल मृत्तिकादि से नहीं ॥२८॥

गृहस्थ लोग छोटों बड़ों वा राजकार्यों के सिद्ध करने में कम से कम १० दश अर्थात्[1] ऋग्वेदज्ञ, यजुर्वेदज्ञ, सामवेदज्ञ, हैतुक (नैयायिक), तर्क-कर्त्ता[2], नैरुक्त (निरुक्तशास्त्रज्ञ), धर्माध्यापक, ब्रह्मचारी, स्नातक और वानप्रस्थ विद्वानों, अथवा अतिन्यूनता करे तो तीन वेदवित् (ऋग्वेदज्ञ, यजुर्वेदज्ञ और सामवेदज्ञ) विद्वानों की सभा से कर्त्तव्याकर्त्तव्य धर्म और अधर्म का जैसा निश्चय हो, वैसा ही आचरण किया करें ॥२९॥

और जैसा विद्वान् लोग दण्ड ही को धर्म जानते हैं, वैसा सब लोग जानें। क्योंकि दण्ड ही प्रजा का शासन अर्थात् नियम में रखनेवाला, दण्ड ही सब का सब ओर से रक्षक, और दण्ड ही सोते हुओं में जागता है। चोरादि दुष्ट भी दण्ड ही के भय से पापकर्म नहीं कर सकते ॥३०॥

उस दण्ड को अच्छे प्रकार चलानेहारे उस राजा को कहते हैं

---

१. यह दश संख्या मनु के—'त्रैविद्यो हैतुकस्तर्की नैरुक्तो धर्मपाठकः। त्रयश्चाश्रमिणः पूर्वे परिषत् स्याद्दशावरा' (१२।१११) वचन के अनुसार गिनाई है।

२. 'तर्ककर्त्ता' शब्द से यहां मीमांसा-शास्त्र के जाननेवाले का ग्रहण होता है, क्योंकि 'हैतुक' से नैयायिक का ग्रहण पूर्व कर चुके हैं। मनु के श्लोक में 'हैतुक' से चार्वाक का ग्रहण नहीं हो सकता, क्योंकि धर्मनिर्णय में श्रुति-स्मृति का ही प्रमाण मनु ने स्वीकार किया है। अतः टीकाकारों ने यहां 'हैतुक' का अर्थ 'श्रुतिस्मृत्यविरुद्धन्यायशास्त्रज्ञः' दर्शाया है। मीमांसा शास्त्र भी तर्कशास्त्र कहाता है। उसका प्रथम पाद 'तर्क-पाद' नाम से व्यवहृत होता है। मीमांसा में १००० एक सहस्र न्यायों का वर्णन है। मीमांसा के प्रत्येक अधिकरण के लिये मीमांसक 'न्याय' शब्द का व्यवहार करते हैं। जैसे—विश्वजिन्न्याय, तत्प्रख्यन्याय। वै० यं० मुद्रित सं० वि० के 'शताब्दी सं०' में पं० विश्वनाथ जी ने तर्ककर्त्ता शब्द के आगे (मीमांसाशास्त्रज्ञ) ऐसा पाठ कोष्ठ में बढ़ा दिया है, जो युक्त होते हुए भी मिलावट के रूप में बढ़ाना अनुचित है। ग्रन्थकार ने मनु का 'त्रैविद्यो हैतुक०' श्लोक सत्यार्थप्रकाश समु० ६ में उद्धृत किया है। वहां हैतुक का अर्थ 'न्यायशास्त्र…के वेत्ता' ही

कि जो सत्यवादी, विचार ही करके कार्य का कर्त्ता, बुद्धिमान् विद्वान्, धर्म काम और अर्थ का यथावत् जाननेहारा हो ॥३१॥

सोऽसहायेन मूढेन लुब्धेनाकृतबुद्धिना ।
न शक्यो न्यायतो नेतुं सक्तेन विषयेषु च ॥३२॥

शुचिना सत्यसन्धेन यथाशास्त्रानुसारिणा ।
प्रणेतुं शक्यते दण्डः सुसहायेन धीमता ॥३३॥[1]

अदण्ड्यान् दण्डयन् राजा दण्ड्याँश्चैवाप्यदण्डयन् ।
अयशो महदाप्नोति नरकं चैव गच्छति ॥३४॥[2]

अर्थः—जो राजा उत्तम सहायरहित, मूढ़ लोभी, जिसने ब्रह्मचर्यादि उत्तम कर्मों से विद्या और बुद्धि की उन्नति नहीं की, विषयों में फंसा हुआ है, उससे वह दण्ड कभी न्यायपूर्वक नहीं चल सकता ॥३२॥

इसलिये जो पवित्र, सत्पुरुषों का संगी, राजनीतिशास्त्र के अनुकूल चलनेहारा, धार्मिक पुरुषों के सहाय से युक्त, बुद्धिमान् राजा हो, वही इस दण्ड को धारण करके चला सकता है ॥३३॥

जो राजा अनपराधियों को दण्ड देता, और अपराधियों को दण्ड नहीं देता है, वह इस जन्म में बड़ी अपकीर्ति को प्राप्त होता, और मरे पश्चात् नरक अर्थात् महादुःख को पाता है ॥३४॥

मृगयाक्षा[3] दिवास्वप्नः परिवादः स्त्रियो मदः ।
तौर्यत्रिकं वृथाट्या च कामजो दशको गणः ॥३५॥

पैशुन्यं साहसं द्रोह ईर्ष्याऽसूयार्थदूषणम् ।
वाग्दण्डजं च पारुष्यं क्रोधजोऽपि गणोऽष्टकः ॥३६॥

किया है। परन्तु वहां 'तर्की' का अर्थ नहीं लिखा है। यह श्लोक संस्कारविधि में भी आगे उद्धृत किया है। वहां "चौथा हैतुक अर्थात् कारण अकारण का ज्ञाता, पांचवां तर्की न्यायशास्त्रवित्" ऐसा अर्थ किया है।

१. मनु० ७।३०-३१॥ २. मनु० ८।१२८॥

३. 'मृगयाक्षा दि०' जौली सं०। यही पाठ सं० विधि संस्करण १ (सं० १९३२, पृष्ठ १२७) में है। इस पाठ में 'अक्षाः' बहुवचन है। सं० १९२६ के काशी में छपे मनु० संस्करण में 'मृगयाक्षा' को काटकर ऋषि दयानन्द ने 'मृगयाक्षो' बनाया है। स० प्र० संस्करण १,२ में 'मृगयाक्षो' पाठ ही है।

द्वयोरप्येतयोर्मूलं यं सर्वे कवयो विदुः ।
तं यत्नेन जयेल्लोभं तज्जावेतावुभौ गणौ ॥३७॥[1]

अर्थः— मृगया अर्थात् शिकार[2] खेलना, द्यूत और प्रसन्नता के लिये भी चौपड़ आदि खेलना, दिन में सोना, हंसी ठट्ठा मिथ्यावाद करना, स्त्रियों के साथ सदा अधिक निवास में मोहित होना, मद्यपानादि नशाओं का करना, गाना-वजाना, नाचना वा इनको देखना, और वृथा इधर-उधर घूमते फिरना, ये दश दुर्गुण काम से होते हैं ॥३५॥

और चुगली खाना, विना विचारे काम कर बैठना, जिस-किसी से वृथा वैर बांधना, दूसरे की स्तुति सुन वा बढ़ती देखके हृदय में जला करना, दूसरों के गुणों में दोष और दोषों में गुण स्थापन करना, बुरे कामों में धन का लगाना, क्रूर वाणी और विना विचारे पक्षपात से किसी को करडा दण्ड देना, ये आठ दोष क्रोधी पुरुष में उत्पन्न होते हैं। ये १८ अठारह दुर्गुण हैं, इनको राजा अवश्य छोड़ देवे ॥३६॥

और जो इन कामज और क्रोधज १८ अठारह दोषों के मूल जिस लोभ को सब विद्वान् लोग जानते हैं, उसको प्रयत्न से राजा जीते। क्योंकि लोभ ही से पूर्वोक्त १८ अठारह और अन्य दोष भी वहुत से होते हैं।[3] इसलिये हे गृहस्थ लोगो ! चाहे वह राजा का ज्येष्ठ पुत्र क्यों न हो, परन्तु ऐसे दोषवाले मनुष्य को राजा कभी न करना। यदि भूल से हुआ हो, तो उसको राज्य से च्युत करके किसी योग्य पुरुष को, जो कि राजा के कुल का हो, राज्याधिकारी करना, तभी प्रजा में आनन्द मङ्गल सदा बढ़ता रहेगा ॥३७॥

सैन्यापत्यं[4] च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च ।

---

१. मनु० ७।४७-४९॥

२. 'जिस राजा में शिकार' पाठ संस्करण २ में है। 'जिस राजा में' यह अंश वाक्य में समन्वित नहीं होता है। इसके स्थान में संस्करण ३ में 'मृगया अर्थात् शिकार' ऐसा संशोधन किया है, यह ठीक है। इस कारण हमने इसे ही स्वीकार किया है। ३. इसीलिये कहा है—'लोभश्चेदगुणेन किम् ?' भर्तृहरि ।

४. 'सैन्यापत्यं च' पाठ संस्कारविधि संस्करण १, २, ३ तथा स० प्र० समु० ६ संस्करण २, ३ में है। द्र०-ऋग्भाष्य १।१०० ।६, तथा यजुः ६।२ के भावार्थों में भी 'सैन्यापत्य' का प्रयोग मिलता है (सेनां समवैति=सैन्यः, 'सेनाया वा' अष्टा० ४।४।४५ इति ण्यः, तेषां पतिः—सैन्यापतिः)। मनु० के सं०१९२९

सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति ॥३८॥[1]

मौलान् शास्त्रविदः शूरान् लब्धलक्षान् कुलोद्गतान्[2] ।
सचिवान् सप्त चाष्टौ वा प्रकुर्वीत परीक्षितान् ॥३९॥

अन्यानपि प्रकुर्वीत शुचीन् प्राज्ञानवस्थितान् ।
सम्यगर्थसमाहर्तॄन् अमात्यान् सुपरीक्षितान् ॥४०॥[3]

अर्थः—जो वेदशास्त्रवित् धर्मात्मा जितेन्द्रिय न्यायकारी और आत्मा के बल से युक्त पुरुष होवे, उसी को सेना राज्य दण्डनीति और प्रधान पद का अधिकार देना, अन्य क्षुद्राशयों को नहीं ॥३८॥

और जो अपने राज्य में उत्पन्न, शास्त्रों के जाननेहारे, शूरवीर, जिनका विचार निष्फल न होवे, कुलीन धर्मात्मा, स्वराज्य भक्त हों, उन ७ सात वा ८ आठ पुरुषों को अच्छी प्रकार परीक्षा करके मन्त्री करे। और इन्हीं की सभा में आठवां वा नववां राजा हो। ये सब मिलके कर्त्तव्याकर्त्तव्य कामों का विचार किया करें ॥३९॥

इसी प्रकार अन्य भी राज्य और सेना के अधिकारी जितने पुरुषों से राज्यकार्य[4] सिद्ध हो सके, उतने ही पवित्र धार्मिक विद्वान् चतुर स्थिरबुद्धि पुरुषों को राज्य-सामग्री के वर्धक नियत करे ॥४०॥

दूतं चैव प्रकुर्वीत सर्वशास्त्रविशारदम् ।
इङ्गिताकारचेष्टज्ञं शुचिं दक्षं कुलोद्गतम् ॥४१॥

अलब्धमिच्छेद् दण्डेन लब्धं रक्षेदवेक्षया ।
रक्षितं वर्धयेद् वृद्धया वृद्धं पात्रेषु निःक्षिपेत् ॥४२॥ मनु०॥[5]

अर्थः—तथा जो सब शास्त्र में निपुण, नेत्रादि के संकेत स्वरूप तथा चेष्टा से दूसरे के हृदय की बात को जाननेहारा, शुद्ध बड़ा स्मृति-

---

के काशी संस्करण में और स० प्र० प्रथम संस्करणमें पृष्ठ १८५ पर 'सैनापत्यं च' पाठ है। मनुस्मृति का भी यही मूल पाठ है। 'सैनापत्यं' पाठ उत्तरकालीन पाणिनीय व्याकरणानुसार परिवर्तित है। 'सैनापत्य' शब्द का प्रयोग दया० ऋग्भाष्य १।३२।३ के अन्वय में मिलता है।

१. मनु० १२।१००॥ २. द्र०—मेधातिथि टीका। अन्यत्र 'कुलोद्भवान्' पाठ मिलता है। ३. मनु० ७।४५, ६०॥ ४. संस्करण २, ३ का पाठ। अन्यों में 'राजकार्य'। ५. मनु० ७।६३, १०१॥

मान् देश काल जाननेहारा, सुन्दर जिसका स्वरूप, बड़ा वक्ता और अपने कुल में मुख्य हो, उस और स्वराज्य और परराज्य के समाचार देनेहारे अन्य दूतों को भी नियत करे ॥४१॥

तथा राजादि राजपुरुष अलब्ध राज्य की प्राप्ति की[1] इच्छा दण्ड से, और प्राप्त राज्य की रक्षा संभाल से, रक्षित राज्य और धन को व्यापार और ब्याज से बढ़ा, और सुपात्रों के द्वारा सत्य विद्या और सत्य धर्म के प्रचार आदि उत्तम व्यवहारों में बढ़े हुये धन आदि पदार्थों का व्यय करके सबकी उन्नति सदा किया करें ॥४२॥

[नैत्यिक-कर्म]

विधिः—सदा स्त्रीपुरुष १० दश वजे शयन, और रात्रि के पिछले[2] प्रहर वा ४ बजे उठके प्रथम हृदय में परमेश्वर का चिन्तन करके धर्म और अर्थ का विचार किया करें। और धर्म और अर्थ के अनुष्ठान वा उद्योग करने में यदि कभी पीड़ा भी हो, तथापि धर्मयुक्त पुरुषार्थ को कभी न छोड़ें। किन्तु सदा शरीर और आत्मा की रक्षा के लिये युक्त आहार-विहार औषधसेवन सुपथ्य आदि से निरन्तर उद्योग करके व्यावहारिक और पारमार्थिक कर्त्तव्य कर्म की सिद्धि के लिये ईश्वर की स्तुति प्रार्थना उपासना भी किया करें, कि जिस [से] परमेश्वर की कृपादृष्टि और सहाय से महाकठिन कार्य भी सुगमता से सिद्ध हो सकें। इसके लिये निम्नलिखित मन्त्र हैं—

प्रातर॒ग्निं प्रा॒तरिन्द्रं॑ हवामहे प्रा॒तर्मि॒त्रावरु॑णा प्रा॒तर॒श्विना॑ ।
प्रा॒तर्भगं॑ पू॒षणं॒ ब्रह्म॑ण॒स्पतिं॑ प्रा॒तः सोम॑मु॒त रु॒द्रं हु॑वेम* ॥१॥

*हे स्त्रीपुरुषो ! जैसे हम विद्वान् उपदेशक लोग (प्रातः) प्रभात वेला में (अग्निम्) स्वप्रकाशस्वरूप, (प्रातः) (इन्द्रम्) परमैश्वर्य के दाता और परमैश्वर्ययुक्त, (प्रातः) (मित्रावरुणा) प्राण उदान के समान प्रिय और सर्वशक्तिमान्, (प्रातः) (अश्विना) सूर्य चन्द्र को जिसने उत्पन्न किया है, उस परमात्मा की (हवामहे) स्तुति करते हैं, और (प्रातः) (भगम्)

१. 'प्राप्ति की' संस्करण ३ में छूटा, इसी कारण अगले संस्करण में नहीं मिलता।

२. 'पिछले' संस्करण २, ३, ४ में शुद्ध पाठ है। संस्करण ५ हमारे पास नहीं है। सं० ६ से उत्तरवर्ती सभी संस्करणों में 'पहिले' पाठ छप रहा है, यह अशुद्ध है। पहले प्रहर के अन्त में १० बजे तो सोने का ही विधान किया है।

प्रातर्जितं भगमुग्रं हुवेम वयं पुत्रमदितेर्यो विधर्ता ।
आध्रश्चिद्यं मन्यमानस्तुरश्चिद्राजा चिद्यं भगं भक्षीत्याह† ॥२॥
भग प्रणेतर्भग सत्यराधो भगेमां धियमुदवा ददन्नः ।
भग प्र णो जनय गोभिरश्वैर्भग प्र नृभिर्नृवन्तः स्याम* ॥३॥

भजनीय सेवनीय ऐश्वर्ययुक्त, (पूषणम्) पुष्टिकर्त्ता, (ब्रह्मणस्पतिम्) अपने उपासक वेद और ब्रह्माण्ड के पालन करनेहारे, (प्रातः) (सोमम्) अन्तर्यामि प्रेरक (उत) और (रुद्रम्) पापियों को रुलानेहारे और सर्वरोगनाशक जगदीश्वर की (हुवेम) स्तुति प्रार्थना करते हैं, वैसे प्रातः समय में[1] तुम लोग भी किया करो ॥१॥ द० स०

† (प्रातः) पांच घड़ी रात रहे (जितम्) जयशील (भगम्) ऐश्वर्य के दाता, (उग्रम्) तेजस्वी, (अदितेः) अन्तरिक्ष के (पुत्रम्) पुत्ररूप[2] सूर्य की उत्पत्ति करनेहारे, और (यः) जो कि सूर्यादि लोकों का (विधर्त्ता) विशेष करके धारण करनेहारा, (आध्रः) सब ओर से धारणकर्ता, (यं चित्) जिस किसी का भी (मन्यमानः) जाननेहारा, (तुरश्चित्) दुष्टों को भी दण्डदाता, और (राजा) सब का प्रकाशक है, (यम्) जिस (भगम्) भजनीयस्वरूप को (चित्) भी (भक्षीति) इस प्रकार सेवन करता हूं, और इसी प्रकार भगवान् परमेश्वर सब को (आह) उपदेश करता है कि तुम, जो मैं सूर्यादि जगत् को बनाने और धारण करनेहारा हूं, उस मेरी उपासना किया, और मेरी आज्ञा में चला करो । इससे (वयम्) हम लोग[3] उसकी (हुवेम) स्तुति करते हैं ॥२॥ द० स०

*हे (भग) भजनीयस्वरूप, (प्रणेतः) सबके उत्पादक, सत्याचार में प्रेरक, (भग) ऐश्वर्यप्रद, (सत्यराधः) सत्य धन को देनेहारे, (भग) सत्याचरण करनेहारों को ऐश्वर्यदाता ! आप परमेश्वर (नः) हमको (इमाम्) इस (धियम्) प्रज्ञा को (ददत्) दीजिए । और उसके दान से हमारी (उदव)

---

१. 'में' संस्करण ७ में छूटा, अतः सभी उत्तरवर्ती संस्करणों में भी नहीं मिलता ।

२. 'पुत्ररूप' संस्करण ३ में छूटा, अतः सभी उत्तरवर्ती संस्करणों में नहीं मिलता ।

३. 'हम लोग' संस्करण ६ में छूटा, अतः सभी उत्तरवर्ती संस्करणों में नहीं मिलता ।

उतेदानीं भगवन्तः स्यामोत प्रपित्व उत मध्ये अह्नाम् ।
उतोदिता मघवन्त्सूर्यस्य वयं देवानां सुमतौ स्याम ॥४॥
भग एव भगवाँ अस्तु देवास्तेन वयं भगवन्तः स्याम ।
तं त्वा भग सर्व इज्जोहवीति स नो भग पुरएता भवेह* ॥५॥
ऋ० मं० ७ । सू० ४१॥[1]

इस प्रकार परमेश्वर की प्रार्थना उपासना करनी ।

[अथ सन्ध्योपासन-विधिः]

तत्पश्चात् शौच दन्तधावन मुखप्रक्षालन करके स्नान करें। पश्चात् एक कोश वा डेढ़ कोश एकान्त जङ्गल में जाके योगाभ्यास की रीति से परमेश्वर की उपासना कर, सूर्योदय-पर्यन्त अथवा घड़ी आध घड़ी दिन चढ़े तक घर में आके, सन्ध्योपासनादि नित्यकर्म नीचे लिखे प्रमाणे यथाविधि उचित समय में किया करें। इन नित्य करने के योग्य कर्मों में लिखे हुए **मन्त्रों का अर्थ और प्रमाण पञ्च-**

रक्षा कीजिए। हे (भग) आप (गोभिः) गाय आदि और (अश्वैः) घोड़े आदि उत्तम पशुओं के योग से राज्यश्री को (नः) हमारे लिये (प्रजनय) प्रकट कीजिए। हे (भग) आपकी कृपा से हम लोग (नृभिः) उत्तम मनुष्यों से (नृवन्तः) बहुत वीर मनुष्यवाले (प्र स्याम) अच्छे प्रकार होवें ॥३॥ द० स०

†हे भगवन् ! आपकी कृपा (उत) और अपने पुरुषार्थ से हम लोग (इदानीम्) इसी समय (प्रपित्वे) प्रकर्षता उत्तमता की प्राप्ति में, (उत) और (अह्नाम्) इन दिनों के (मध्ये) मध्य में (भगवन्तः) ऐश्वर्ययुक्त और शक्तिमान् (स्याम) होवें। (उत) और हे (मघवन्) परमपूजित असंख्य धन देनेहारे ! (सूर्यस्य) सूर्यलोक के (उदिता) उदय में (देवानाम्) पूर्ण विद्वान् धार्मिक आप्त लोगों की (सुमतौ) अच्छी उत्तम प्रज्ञा (उत) और सुमति में (वयम्) हम लोग (स्याम) सदा प्रवृत्त रहें ॥४॥ द० स०

*हे (भग) सकलैश्वर्यसंपन्न जगदीश्वर ! जिससे (तम्) उस (त्वा) आपकी (सर्वः) सब सज्जन (इज्जोहवीति) निश्चय करके प्रशंसा करते हैं, (सः) सो आप हे (भग) ऐश्वर्यप्रद ! (इह) इस संसार और (नः) हमारे

---

१. मन्त्र १-५ ॥

महायज्ञविधि में देख लेवें ।[1] प्रथम शरीरशुद्धि अर्थात् स्नान-पर्यन्त कर्म करके सन्ध्योपासन का आरम्भ करें ।

आरम्भ में दक्षिण हस्त में जल लेके—

ओम् अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा ॥१॥

ओम् अमृतापिधानमसि स्वाहा ॥२॥

ओं सत्यं यशः श्रीर्मयि श्रीः श्रयतां स्वाहा ॥३॥[2]

इन ३ तीन मन्त्रों में से एक-एक से एक-एक आचमन कर, दोनों हाथ धो, कान आंख नासिका आदि का शुद्ध जल से स्पर्श करके, शुद्ध देश पवित्रासन पर जिधर की ओर का वायु हो उधर को मुख करके, नाभि के नीचे से मूलेन्द्रिय को ऊपर संकोच करके हृदय[3] के वायु को बल से बाहर निकालके यथाशक्ति रोके। पश्चात् धीरे-धीरे भीतर लेके भीतर[4] थोड़ा सा रोके। यह एक प्राणायाम हुआ। इसी प्रकार कम से कम तीन प्राणायाम करे। नासिका को हाथ से न पकड़े। इस समय परमेश्वर की स्तुतिप्रार्थनोपासना हृदय में करके—

ओं शन्नो देवीरभिष्टयऽ आपो भवन्तु पीतये ।

शंयोरभि स्रवन्तु नः ॥ यजुः अ० ३६ । मं० १२ ॥

गृहाश्रम में (पुरएता) अग्रगामी और आगे-आगे सत्य कर्मों में बढ़ानेहारे (भव) हूजिये। और जिससे (भग एव) सम्पूर्ण ऐश्वर्ययुक्त और समस्त ऐश्वर्य के दाता होने से आप ही हमारे (भगवान्) पूजनीय देव (अस्तु) हूजिए, (तेन) उसी हेतु से (देवाः वयम्) हम विद्वान् लोग (भगवन्तः) सकलैश्वर्यसम्पन्न होके सब संसार के उपकार में तन मन धन से प्रवृत्त (स्याम)[1] होवें ॥५॥ द० स०

---

१. पञ्चमहायज्ञों के मन्त्रों के पदार्थ और भावार्थ को जानने के लिये रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित 'वैदिक-नित्यकर्म-विधि' ग्रन्थ भी उपयोगी है। २. इन मन्त्रों के पते के लिये देखो पृष्ठ २६ टि० ३ ।

३. यहां 'उदर' पाठ होना चाहिए, अथवा 'उदर और हृदय' ।

४. 'लेके भीतर' पाठ संस्करण ६ में छूटा, और सं० १२ तक छूटता रहा। शताब्दी संस्करण में पूरा किया गया।

इस मन्त्र को एक वार पढ़के तीन **आचमन** करे।[1] पश्चात् पात्र में से मध्यमा अनामिका अंगुलियों से जलस्पर्श करके प्रथम दक्षिण और पश्चात् वाम निम्नलिखित मन्त्रों से **स्पर्श**[2] करें—

ओं वाक् वाक् ॥ इस मन्त्र से मुख का दक्षिण और वाम पार्श्व।

ओं प्राणः प्राणः ॥ इससे दक्षिण और वाम नासिका के छिद्र।

ओं चक्षुश्चक्षुः ॥ इससे दक्षिण और वाम नेत्र।

ओं श्रोत्रं श्रोत्रम् ॥ इससे दक्षिण और वाम श्रोत्र।

ओं नाभिः ॥ इससे नाभि।

ओं हृदयम् ॥ इससे हृदय।

ओं कण्ठः ॥ इससे कण्ठ।

ओं शिरः ॥ इससे मस्तक।

ओं बाहुभ्यां यशोबलम् ॥ इससे दोनों भुजाओं के मूल स्कन्ध। और—

ओं करतलकरपृष्ठे ॥ इससे दोनों हाथों के ऊपर तले स्पर्श करके, [निम्नलिखित मन्त्रों से] **मार्जन**[2] करे—

ओं भूः पुनातु शिरसि ॥ इस मन्त्र से शिर पर।

ओं भुवः पुनातु नेत्रयोः ॥ इस मन्त्र से दोनों नेत्रों पर।

ओं स्वः पुनातु कण्ठे ॥ इस मन्त्र से कण्ठ पर।

ओं महः पुनातु हृदये ॥ इस मन्त्र से हृदय पर।

---

१. संस्करण २ से १७ तक यही पाठ छपा है। परन्तु १८वें सं० में पं० जयदेवजी ने 'इस मन्त्र को एक-एक वार पढ़के एक दो और तीन आचमन करे' ऐसा शोधन किया है, वह ठीक नहीं। कहां प्रतिकर्म मन्त्र की आवृत्ति होती है, और कहां मन्त्र की आवृत्ति नहीं होती, इसके लिये रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित 'वैदिक-नित्यकर्मविधि' पृष्ठ ३० देखें।

२. अङ्ग-स्पर्श और मार्जन के मन्त्र 'त्रिकालसन्ध्या', 'सन्ध्यात्रयम' (ये हस्तलेख विश्वेश्वरानन्द शोध-संस्थान होशियारपुर में सुरक्षित हैं) में मिलते हैं। विशेष द्र०—'वैदिक-नित्यकर्म-विधि' प्रकाशकीय पृष्ठ २१।

ओं जनः पुनातु नाभ्याम् ॥ इससे नाभि पर।

ओं तपः पुनातु पादयोः ॥ इससे दोनों पगों पर।

ओं सत्यं पुनातु पुनः शिरसि ॥ इससे पुनः मस्तक पर।

ओं खं ब्रह्म पुनातु सर्वत्र ॥ इस मन्त्र से सब अङ्गों पर छींटा देवे।

पुनः पूर्वोक्त[1] रीति से प्राणायाम की क्रिया करता जावे, और नीचे लिखे मन्त्र का जप भी करता जाय—

ओं भूः, ओं भुवः, ओं स्वः, ओं महः, ओं जनः, ओं तपः, ओं सत्यम् ॥[2]

इसी रीति से कम से कम ३ तीन और अधिक से अधिक २१ इक्कीस प्राणायाम करे।

तत्पश्चात् सृष्टिकर्त्ता परमात्मा और सृष्टिक्रम का विचार नीचे लिखित मन्त्रों से करे। और जगदीश्वर को सर्वव्यापक न्यायकारी सर्वथा सर्वदा सब जीवों के कर्मों के द्रष्टा को निश्चित मानके पाप की ओर अपने आत्मा और मन को कभी न जाने देवे, किन्तु सदा धर्मयुक्त कर्मों में वर्तमान रक्खे—

ओम् ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत।
ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः ॥१॥

समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत।
अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी ॥२॥

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः ॥३॥

ऋ० मं० १०। सू० १९०॥

इन मन्त्रों को पढ़के पुनः (शन्नो देवी०) इस मन्त्र से ३ तीन

---

१. पृष्ठ २२५ पर लिखित।

२. तै० आ० १०।२७॥

आचमन करके, निम्नलिखित मन्त्रों से सर्वव्यापक परमात्मा की स्तुति प्रार्थना करे—

ओं प्राची दिगग्निरधिपतिरसितो रक्षितादित्या इषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥१॥

दक्षिणा दिगिन्द्रोऽधिपतिस्तिरश्चिराजी रक्षिता पितर इषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥२॥

प्रतीची दिग्वरुणोऽधिपतिः पृदाकू रक्षितान्नमिषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥३॥

उदीची दिक् सोमोऽधिपतिः स्वजो रक्षिताशनिरिषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥४॥

ध्रुवा दिग् विष्णुरधिपतिः कल्माषग्रीवो रक्षिता वीरुध इषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥५॥

ऊर्ध्वा दिग बृहस्पतिरधिपतिः श्वित्रो रक्षिता वर्षमिषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्या नमो रक्षितृभ्यो नम

इषुंभ्यो नमं एभ्यो अस्तु । योॎस्मान् द्वेष्टि यं वयं
द्विष्मस्तं वो जम्भें दध्मः ॥६॥

अथर्व का० ३ । सू० २७ । मं० १-६ ॥

इन मन्त्रों को पढ़ते जाना, और अपने मन से चारों ओर बाहर भीतर परमात्मा को पूर्ण जान कर निर्भय निश्शङ्क उत्साही आनन्दित पुरुषार्थी रहना।

तत्पश्चात् परमात्मा का उपस्थान, अर्थात् परमेश्वर के निकट मैं और मेरे अतिनिकट परमात्मा है ऐसी बुद्धि करके, करे—

जातवेदसे सुनवाम सोमंमरातीयतो नि दहाति वेदः ।
स नः पर्षदति दुर्गाणि विश्वा नावेव सिन्धुं दुरितात्यग्निः ॥१॥

ऋ० मं० १ । सू० ९९ । मं० १॥

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः ।
आप्रा द्यावापृथिवीऽअन्तरिक्षꣳ सूर्यऽ आत्मा जगतस्तस्थुषश्च।१।

यजुः अ० १३ । मं० ४६ ॥

उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः ।
दृशे विश्वाय सूर्यम् ॥२॥ यजुः अ० ३३ । मन्त्र ३१॥

उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्तऽ उत्तरम् ।
देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम् ॥३॥

य० अ० ३५। मन्त्र १४॥

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् । पश्येम शरदः शतं
जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतं प्र ब्रवाम शरदः शतम-
दीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् ॥४॥

यजु० अ० ३६ । मं० २४ ॥

इन मन्त्रों से परमात्मा का उपस्थान करके, पुनः (शन्नो देवी०) इससे तीन आचमन करके, पृष्ठ १११ में लिखे प्रमाणे, अथवा पञ्चमहायज्ञविधि में लिखे प्रमाणे गायत्री मन्त्र का अर्थ विचारपूर्वक परमात्मा की स्तुतिप्रार्थनोपासना करे । पुनः—

"हे परमेश्वर दयानिधे ! आपकी कृपा से जपोपासनादि कर्मों को करके हम धर्म अर्थ काम और मोक्ष की सिद्धि को शीघ्र प्राप्त होवें ।"

पुनः--

ओं नमः शम्भवाय च मयोभवाय च नमः शङ्कराय च मयस्कराय च नमः शिवाय च शिवतराय च ॥८॥

यजु० अ० १६ । मं० ४१ ॥

इससे परमात्मा को नमस्कार करके, (शन्नो देवी०) इस मन्त्र से तीन आचमन करके अग्निहोत्र का आरम्भ करे ॥

इति संक्षेपतः सन्ध्योपासनविधिः समाप्तः ॥१॥

अथाग्निहोत्रम्

जैसे सायं प्रातः दोनों सन्धिवेलाओं में सन्ध्योपासन करें, इसी प्रकार दोनों स्त्रीपुरुष* अग्निहोत्र भी दोनों समय में नित्य किया करें। पृष्ठ ३०-३१ में लिखे प्रमाणे अग्न्याधान समिदाधान, और पृष्ठ ३२ में लिखे प्रमाणे (ओम् अदितेऽनुमन्यस्व) इत्यादि ४ चार मन्त्रों से यथाविधि कुण्ड के चारों ओर जल प्रोक्षण करके, शुद्ध किये हुये सुगन्ध्यादियुक्त घी को तपाके पात्र में लेके, कुण्ड से पश्चिम भाग में पूर्वाभिमुख बैठके पृष्ठ ३३ में लिखे प्रमाणे आघारावाज्यभागाहुति[1] ४ चार देके, नीचे लिखे हुए मन्त्रों से प्रातःकाल अग्निहोत्र करें—

ओं सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा ॥१॥

ओं सूर्यो वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा ॥२॥

---

*किसी विशेष कारण से स्त्री वा पुरुष अग्निहोत्र के समय दोनों साथ उपस्थित न हो सकें, तो एक ही स्त्री वा पुरुष दोनों की ओर का कृत्य कर लेवे । अर्थात् एक-एक मन्त्र को दो-दो वार पढ़के दो-दो आहुति करे ॥ द० स०

१. 'ओम् अग्नये स्वाहा' इत्यादि ४ मन्त्रों से ।

ओं ज्योतिः सूर्यः सूर्यो ज्योतिः स्वाहा ॥३॥[1]

ओं सजूर्देवेन सवित्रा सजूरुषसेन्द्रवत्या ।
जुषाणः सूर्यो वेतु स्वाहा ॥४॥[2]

अब नीचे लिखे हुए मन्त्र सायंकाल में अग्निहोत्र के जानो—

ओम् अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा ॥१॥

ओम् अग्निर्वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा ॥२॥

ओम् अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा ॥३॥[2]

इस मन्त्र को मन से उच्चारण करके तीसरी आहुति देनी ।

ओं सजूर्देवेन सवित्रा सजू रात्र्येन्द्रवत्या ।
जुषाणोऽअग्निर्वेतु स्वाहा ॥४॥[3]

अब निम्नलिखित मन्त्रों से प्रातःसायं आहुति देना चाहिये—[3]

ओं भूरग्नये प्राणाय स्वाहा ॥ इदमग्नये प्राणाय—इदन्न मम ॥१॥

ओं भुवर्वायवेऽपानाय स्वाहा ॥ इदं वायवेऽपानाय—इदन्न मम॥२॥

ओं स्वरादित्याय व्यानाय स्वाहा ॥ इदमादित्याय व्यानाय—इदन्न मम ॥३॥

ओं भूर्भुवः स्वरग्निवाय्वादित्येभ्यः प्राणापानव्यानेभ्यः स्वाहा ॥ इदमग्निवाय्वादित्येभ्यः प्राणापानव्यानेभ्यः—इदन्न मम ॥४॥[4]

ओम् आपो ज्योतीरसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरों स्वाहा ॥५॥[5]

---

१. द्र०—यजु० ३।९॥ स्वरचिह्न हमने दिये हैं ।

२ द्र०— यजु० ३।१०॥ स्वरचिह्न हमने दिये हैं ।

३. जो व्यक्ति एक ही काल में दोनों समय का अग्निहोत्र करना चाहें, वे किस क्रम से मन्त्रों का उच्चारण करें, इसके लिये वैदिक-नित्यकर्म-विधि पृष्ठ, १२-१३ देखना चाहिये । सोलह आहुतियों की विवेचना के लिये भी इसी ग्रन्थ का पृष्ठ ११-१२ अवलोकनीय है । यह रा० क० ट्र० से छपा है ।

४. तु०—तै० आ० १०।२॥ ५. तु०— तै० आ० १०।१५॥

ओं यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते ।
तया मामद्य मेधयाऽग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा ॥६॥[1]

यजुः अ० ३२। मं० ४ ॥

ओं विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव ।
यद् भद्रन्तन्नऽ आ सुव स्वाहा ॥७॥ यजु० अ० ३० । मं० ३ ।[2]

ओम् अग्ने नय सुपथा रायेऽअस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठान्ते नमऽउक्तिं विधेम स्वाहा ॥८॥

यजु० अ० ४० । मं० १६ ।[2]

इन ८ आठ मन्त्रों से एक-एक मन्त्र करके एक-एक आहुति [देनी], ऐसे ८ आठ आहुति देके—

ओं सर्वं वै पूर्णं स्वाहा ॥

इस मन्त्र से ३ तीन पूर्णाहुति अर्थात् एक-एक वार पढ़के एक-एक करके ३ तीन आहुति देवे ॥

इत्यग्निहोत्रविधिः संक्षेपतः समाप्तः ॥२॥

अथ पितृयज्ञः

अग्निहोत्रविधि पूर्ण करके तीसरा पितृयज्ञ करे, अर्थात् जीते हुए माता-पिता आदि की यथावत् सेवा करनी 'पितृयज्ञ' कहाता है ॥३॥

अथ बलिवैश्वदेवविधिः

ओम् अग्नये स्वाहा ॥ ओं सोमाय स्वाहा ॥
ओम् अग्नीषोमाभ्यां स्वाहा ॥ ओं विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा ॥
ओं धन्वन्तरये स्वाहा ॥ ओं कुह्वै स्वाहा ॥
ओमनुमत्यै स्वाहा ॥ ओं प्रजापतये स्वाहा ॥

---

१. स्वर-चिह्न हमने दिये हैं।

२. मन्त्रपाठ में 'स्वाहा' पद नहीं है । स्वरचिह्न हमने दिये हैं ।

ओं द्यावापृथिवीभ्यां[1] स्वाहा ॥ ओं स्विष्टकृते[2] स्वाहा ॥[3]

इन १० दश मन्त्रों से घृतमिश्रित भात की, यदि भात न बना हो तो क्षार[4] और लवणान्न को छोड़के जो कुछ पाक में बना हो उसी की १० दश आहुति करे।

तत्पश्चात् निम्नलिखित मन्त्रों से बलि [प्र]दान करे—

ओं सानुगायेन्द्राय नमः ॥ इस से पूर्व।

ओं सानुगाय यमाय नमः ॥ इस से दक्षिण।

ओं सानुगाय वरुणाय नमः ॥ इस से पश्चिम।

ओं सानुगाय सोमाय नमः ॥[5] इस से उत्तर।

ओं मरुद्भ्यो नमः ॥ इस से द्वार।

ओम् अद्भ्यो नमः ॥ इस से जल।

ओं वनस्पतिभ्यो नमः ॥ इस से मूसल और ऊखल।

ओं श्रियै नमः ॥ इस से ईशान।

ओं भद्रकाल्यै नमः ॥ इस से नैर्ऋत्य।

---

१. पञ्चमहायज्ञविधि सं० १, ऋग्वे० भू० सं० १, स०प्र०सं० २ तथा संस्कारविधि के उत्तरवर्ती संस्करणों में 'सह द्यावापृथिवीभ्यां स्वाहा' पाठ मिलता है। संस्कारविधि संस्करण २, ३, ४ में 'सह' पद नहीं है। मनुस्मृति ३।८६ और उसकी व्याख्या के अनुसार भी 'सह' पद मन्त्र का अवयव नहीं है।

२. यद्यपि मनुस्मृति ३।८६ में केवल 'स्विष्टकृते' पद है, तथापि 'स्विष्टकृत्' अग्नि का विशेषण प्रसिद्ध होने से विशेष्य का आक्षेप करके 'अग्नये स्विष्टकृते स्वाहा' ऐसा मन्त्र-पाठ होना चाहिये। यह मनु के व्याख्याकारों का मत है।

३. मनु० ३।८५, ८६ के आधार पर ऊहित मन्त्र।

४. द्र०—पृष्ठ १८८, टि० २।

५. मनु० ३।८७ के 'सानुगेभ्यो बलिं हरेत्' वचन के अनुसार आरम्भिक चार मन्त्रों का पाठ ऊहित किया गया है। मनु के टीकाकार, आश्व० गृह्य १।२।५ के अनुसार 'इन्द्राय नमः, इन्द्रपुरुषेभ्यो नमः। यमाय नमः, यमपुरुषेभ्यो नमः। वरुणाय नमः, वरुणपुरुषेभ्यो नमः। सोमाय नमः, सोमपुरुषेभ्यो नमः।' इस प्रकार पाठ ऊहित करते हैं।

ओं ब्रह्मपतये नमः[1] । ओं वास्तुपतये नमः ॥ इनसे मध्य ।

ओं विश्वेभ्यो देवेभ्यो नमः ॥ [ओं दिवाचरेभ्यो भूतेभ्यो नमः ॥][2] ओं नक्तंचारिभ्यो भूतेभ्यो नमः ॥[3] इन से ऊपर ।

ओं सर्वात्मभूतये नमः ॥ इस से पृष्ठ ।

ओं पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः ॥[4] इस से दक्षिण ।[5]

इन मन्त्रों से एक पत्तल वा थाली में यथोक्त दिशाओं में भाग धरना । यदि भाग धरने के समय कोई अतिथि आजाय, तो उसी को दे देना, नहीं तो अग्नि में धर देना । तत्पश्चात् घृतसहित लवणान्न लेके—

शुनां च पतितानां च श्वपचां पापरोगिणाम् ।
वायसानां कृमीणां च शनकैर्निर्वपेद् भुवि ॥[6]

अर्थः—कुत्ता, पतित, चाण्डाल, पापरोगी, काक और कृमि इन

---

१. मनुस्मृति ३ । ८९ के अनुसार 'ओं ब्रह्मणे नमः' मन्त्र है । स० प्रकाश तथा पञ्चमहायज्ञविधि में 'ब्रह्मपतये नमः' ही पाठ है ।

२. पञ्चमहायज्ञविधि सं० १ तथा सं० प्र० समु० ४, संस्करण २ में "विश्वेभ्यो देवेभ्यो नमः । दिवाचरेभ्यो भूतेभ्यो नमः । नक्तंचारिभ्यो भूतेभ्यो नमः ।" ऐसा पाठ है, जो कि मनु० ३।९० के अनुसार ठीक है । अतः हमने यहां त्रुटित पाठ को पूरा कर दिया है ।

३. मनु० ३।९० के अनुसार 'विश्वेभ्यो देवेभ्यो नमः' मन्त्र के साथ 'दिवाचरेभ्यो·· ···' मन्त्र से दिन में ऊपर को, और 'नक्तंचारिभ्यो······' मन्त्र से रात्रि में भाग रखने का विधान है । द्र० — आश्व० गृह्य १।२।८,९॥

४. सं० वि० संस्करण २ में 'ओं पितृभ्यः स्वधा नमः' इतना ही पाठ छपा है । यही पाठ स० प्र० समु० ३, सं० १ (सं० १९३२) पृष्ठ ४४ पर भी मिलता है । सं०वि० सं० ३ में वर्त्तमान पाठ बनाया है । पञ्चमहायज्ञविधि स० १ के अनुसार तृतीय स० का पाठ युक्त है । स० प्र० समु० ४ संस्क० २ (सं० १९४१) में पूरा मन्त्र त्रुटित है, और आज तक इस ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया ।

५. ये सब मन्त्र मनु० ३।८७-९१ तक के प्रमाण से ऊहित हैं ।

६. मनु० ३।९२।

छः नामों[1] से ६ छः भाग पृथिवी में धरे। और वे ६ छः भाग जिस-जिस के नाम हैं, उस-उस को देना चाहिये ॥४॥

अथातिथियज्ञः

पांचवां—जो धार्मिक परोपकारी सत्योपदेशक पक्षपातरहित शान्त सर्वहितकारक विद्वानों की अन्नादि से सेवा, उन से प्रश्नोत्तर आदि करके विद्या प्राप्त होना 'अतिथियज्ञ' कहाता है, उस को नित्य किया करें। इस प्रकार पञ्च महायज्ञों को स्त्रीपुरुष प्रतिदिन करते रहें ॥५॥

[अथ पक्षेष्टिः]

इसके पश्चात् पक्षयज्ञ अर्थात् पौर्णमासी और अमावास्या के दिन नैत्यिक अग्निहोत्र की आहुति दिये पश्चात् पूर्वोक्त प्रकार पृष्ठ २०-२१ में लिखे प्रमाणे स्थालीपाक बनाके निम्नलिखित मन्त्रों से विशेष आहुति करें—

ओम् अग्नये स्वाहा ॥

ओम् अग्नीषोमाभ्यां स्वाहा ॥

ओं विष्णवे स्वाहा ॥[2]

इन ३ तीन मन्त्रों से स्थालीपाक की ३ तीन आहुति देनी। तत्पश्चात् पृष्ठ ३४ में लिखे प्रमाणे व्याहृति[3] आज्याहुति ४ चार देनी। परन्तु इस में इतना भेद है कि अमावास्या के दिन—

ओम् अग्नीषोमाभ्यां स्वाहा ॥ इस मन्त्र के वदले—

ओम् इन्द्राग्नीभ्यां स्वाहा ॥[4]

इस मन्त्र को वोलके स्थालीपाक की आहुति देवे।

---

१. स० प्र० समु० ३, सं० १, पृ० ४४ (संवत् १९३२) तथा समु० ४, सं० २, पृ० १०२ में निम्न ऊहित मन्त्र-पाठ मिलता है—

"श्वभ्यो नमः। पतितेभ्यो नमः। श्वपग्भ्यो नम.। पापरोगिभ्यो नमः। वायसेभ्यो नमः। कृमिभ्यो नमः॥"

पञ्चमहायज्ञविधि में केवल मनु का श्लोक उद्धृत है, मन्त्रपाठ नहीं है।

२. श्रौत पौर्णमास में अग्नि अग्नीषोम और विष्णु ये तीन देवता होते हैं। उन्हें ही यहां गृह्य पक्ष में भी ग्रहण किया है। गो० गृह्य १।८।२१, २२ के अनुसार अग्नि और अग्नीषोम का विकल्प कहा है।

३. 'ओं भूरग्नये स्वाहा' आदि मन्त्रों से। ४. द्र०—गो० गृह्य १।८।२३॥

इस प्रकार पक्षयाग अर्थात् जिसके घर में अभाग्य से अग्निहोत्र[1] न होता हो, तो सर्वत्र पक्षयागादि में पृष्ठ १६-२१ में लिखे प्रमाणे यज्ञकुण्ड, यज्ञसामग्री, यज्ञमण्डप; पृष्ठ ३०-३१ में लिखे प्रमाणे अग्न्याधान, समिदाधान; पृष्ठ ३३ में लिखे प्रमाणे आघारावाज्यभागाहुति; और पृष्ठ ३२ में लिखे प्रमाणे वेदी के चारों ओर जलसेचन करके[2], पृष्ठ ७-१८ में लिखे प्रमाणे ईश्वरोपासना स्वस्तिवाचन शान्तिकरण[3] भी यथायोग्य करे।

[अथ नवशस्येष्टिः संवत्सरेष्टिश्च]

और जब-जब नवान्न आवे, तब-तब नवशस्येष्टि और संवत्सर के आरम्भ में निम्नलिखित विधि करे, अर्थात् जब-जब नवीन अन्न आवे तब-तब शस्येष्टि करके नवीन अन्न के भोजन का आरम्भ करें।

नवशस्येष्टि और संवत्सरेष्टि करना हो, तो जिस दिन प्रसन्नता हो वही शुभ दिन जाने। ग्राम और शहर के बाहर किसी शुद्ध खेत में यज्ञमण्डप करके पृष्ठ ७-३६ तक लिखे प्रमाणे सब विधि करके प्रथम आघारावाज्यभागाहुति[4] ४ चार, और व्याहृति आहुति[5] ४ चार, तथा अष्टाज्याहुति[6] ८ आठ, ये १६ सोलह आज्याहुति करके, कार्यकर्त्ता—

ओं पृथिवी द्यौः प्रदिशो दिशो यस्मै द्युभिरावृताः।
तमिहेन्द्रमुपह्वये शिवा नः सन्तु हेतयः स्वाहा॥१॥

---

१. 'प्रतिदिन अग्निहोत्र' पाठ उचित है।

२. 'करके' पद से यहां पूर्वापर काल अभिप्रेत नहीं है, क्योंकि ईश्वरोपासना स्वस्तिवाचन शान्तिकरण होम से पूर्व विहित हैं। वस्तुतः यहां क्रियमाण पदार्थमात्र गिनाना अभीष्ट है, न कि कालक्रम का विधान करना।

३. मूल पाठ 'शान्तिकरण' का वै० यं० के संस्करणों में 'शान्तिप्रकरण' बना दिये जाने पर भी यहां वर्तमान २४ वें संस्करण तक मूल पाठ सुरक्षित है। २५ वें संस्करण में सामान्यप्रकरण में भी 'शान्तिकरण' पाठ शुद्ध कर दिया है।

४. 'ओम् अग्नये स्वाहा' आदि चार मन्त्रों से।

५. 'ओं भूरग्नये स्वाहा' आदि चार मन्त्रों से।

६. 'ओं त्वन्नो अग्ने०' आदि आठ मन्त्रों से।

ओं यन्मे किंचिदुपेप्सितमस्मिन् कर्मणि वृत्रहन् ।
तन्मे सर्वꣳ समृध्यतां जीवतः शरदः शतꣳ स्वाहा ॥२॥

ओं सम्पत्तिर्भूतिर्भूमिर्वृष्टिर्ज्यैष्ठ्यꣳ श्रैष्ठ्यꣳ श्रीः प्रजामिहावतु स्वाहा ॥ इदमिन्द्राय— इदन्न मम ॥३॥

ओं यस्या भावे वैदिकलौकिकानां भूतिर्भवति कर्मणाम् । इन्द्रपत्नीमुपह्वये सीताꣳ सा मे त्वनपायिनी भूयात् कर्मणि कर्मणि स्वाहा ॥—इदमिन्द्रपत्न्यै— इदन्न मम ॥४॥

ओम् अश्वावती गोमती सूनृतावती बिभर्त्ति या प्राणभृतो अतन्द्रिता । खलामालिनीमुर्वरामस्मिन् कर्मण्युपह्वये ध्रुवाꣳ सा मे त्वनपायिनी भूयात् स्वाहा ॥ इदं सीतायै—इदन्न मम॥५॥[1]

इन मन्त्रों से प्रधान होम की ५ पांच आज्याहुति करके—

ओं सीतायै स्वाहा ॥ ओं प्रजायै स्वाहा ॥
ओं शमायै स्वाहा ॥ ओं भूत्यै स्वाहा ॥[2]

इन ४ चार मन्त्रों से ४ चार, और पृष्ठ ३५ में लिखे प्रमाणे (यदस्य०) मन्त्र से स्विष्टकृत् होमाहुति १ एक, ऐसे ५ पांच स्थालीपाक की आहुति देके, पश्चात् पृष्ठ ३६-३७ में लिखे प्रमाणे अष्टाज्याहुति[3] [८ आठ], व्याहृति[4] आहुति ४ चार, ऐसे १२ बारह आज्याहुति देके,[5] पृष्ठ ३८-३९ में लिखे प्रमाणे वामदेव्यगान, ईश्वरोपासना, स्वस्तिवाचन और शान्तिकरण[6] करके यज्ञ की समाप्ति करें ॥

---

१. ये पाचों मन्त्र पार० गृह्य २।१७।९ में पठित हैं। पार० गृह्य के टीकाकारों के अनुसार पांचों मन्त्रों में 'इदं……न मम' अभिप्रेत है। सं० वि० में प्रथम दो मन्त्रों में 'इदं …न मम' का विधान नहीं है, उत्तर तीन मन्त्रों में विधान है। हमारे विचार में प्रथम दोनों मन्त्रों में भी 'इदमिन्द्राय—इदन्न मम' पाठ होना चाहिए। पार० गृह्य में तो पांचों स्वाहान्त मन्त्रों का ही पाठ है।

२. द्र०—पार० गृह्य २।१७।१०॥

३. 'ओं त्वन्नो अग्ने०' आदि आठ मन्त्रों से।

४. 'ओ भूरग्नये स्वाहा' आदि चार मन्त्रों से।

५. देखो—पृ० २३६ की टि० २॥ ६. देखो—पृ० २३६ की टि० ३॥

अथ शालाकर्मविधिं वक्ष्यामः

'शाला' उसको कहते हैं—जो मनुष्य और पश्वादि के रहने अथवा पदार्थ रखने के अर्थ गृह वा स्थानविशेष बनाते हैं। इस के दो विषय हैं—एक प्रमाण और दूसरा विधि। उस में से प्रथम प्रमाण और पश्चात् विधि लिखेंगे।

अत्र प्रमाणानि—

उपमितां प्रतिमितामथो परिमितामुत ।
शालाया विश्ववाराया नद्धानि वि चृतामसि ॥१॥
हविर्धानमग्निशालं पत्नीनां सदनं सदः ।
सदो देवानामसि देवि शाले ॥२॥[1]

अर्थः—मनुष्यों को योग्य है कि जो कोई किसी प्रकार का घर बनावें, तो वह (उपमिताम्) सब प्रकार की उत्तम उपमायुक्त कि जिस को देखके विद्वान् लोग सराहना करें। (प्रतिमिताम्) प्रतिमान अर्थात् एक द्वार के सामने दूसरा द्वार कोणे और कक्षा भी सम्मुख हों। (अथो) इसके अनन्तर (परिमिताम्) वह शाला चारों ओर के परिमाण से सम चौरस हो। (उत) और (शालायाः) शाला (विश्ववारायाः) अर्थात् उस घर के द्वार चारों ओर के वायु को स्वीकार करनेवाले हों। (नद्धानि) उसके बन्धन और चिनाई दृढ़ हों। हे मनुष्यो! ऐसी शाला को जैसे हम शिल्पी लोग (विचृतामसि) अच्छे प्रकार ग्रन्थित अर्थात् बन्धनयुक्त करते हैं, वैसे तुम भी करो ॥१॥

उस घर में एक (हविर्धानम्) होम करने के पदार्थ रखने का स्थान, (अग्निशालम्) अग्निहोत्र का स्थान, (पत्नीनाम्) स्त्रियों के (सदनम्) रहने का (सदः) स्थान, और (देवानाम्) पुरुषों और विद्वानों के रहने बैठने, मेल-मिलाप करने और सभा का (सदः) स्थान, तथा स्नान भोजन ध्यान आदि का भी पृथक्-पृथक् एक-एक घर बनावे। इस प्रकार की (देवि) दिव्य कमनीय (शाले) बनाई हुई शाला (असि) सुखदायक होती है ॥२॥

---

१. अथर्व० ९।३।१,७।

अन्तरा द्यां च पृथिवीं च यद्व्यचस्तेन शालां प्रति गृह्णामि त इमाम्।
यदन्तरिक्षं रजसो विमानं तत् कृण्वेऽहमुदरं शेवधिभ्यः।
तेन शालां प्रति गृह्णामि तस्मै ॥३॥

ऊर्जस्वती पयस्वती पृथिव्यां निमिता मिता।
विश्वान्नं बिभ्रती शाले मा हिंसीः प्रतिगृह्णतः ॥४॥[1]

अर्थः—उस शाला में (अन्तरा) भिन्न-भिन्न (पृथिवीम्) शुद्ध भूमि अर्थात् चारों ओर स्थान शुद्ध हों। (च) और (द्याम्) जिस में सूर्य का प्रतिभास आवे, वैसी प्रकाशस्वरूप भूमि के समान दृढ़ शाला बनावे। (च) और (यत्) जो (व्यचः) उसकी व्याप्ति अर्थात् विस्तार हे स्त्री! (ते) तेरे लिये है, (तेन) उसी से युक्त (इमाम्) इस (शालाम्) घर को बनाता हूं, तू इस में निवास कर, और मैं भी निवास के लिये इस को (प्रतिगृह्णामि) ग्रहण करता हूं। (यत्) जो उस के बीच में (अन्तरिक्षम्) पुष्कल अवकाश, और (रजसः) उस घर का (विमानम्) विशेष मान परिमाणयुक्त लम्बी ऊंची छत्त, और (उदरम्) भीतर का प्रसार विस्तारयुक्त होवे, (तत्) उसको (शेवधिभ्यः) सुख के आधाररूप अनेक कक्षाओं से सुशोभित (अहम्) मैं (कृण्वे) करता हूं। (तेन) उस पूर्वोक्त लक्षणमात्र से युक्त (शालाम्) शाला को (तस्मै) उस गृहाश्रम के सब व्यवहारों के लिये (प्रतिगृह्णामि) ग्रहण करता हूं ॥३॥

जो (शाले) शाला (ऊर्जस्वती) बहुत बलारोग्य पराक्रम को बढ़ानेवाली, और धन धान्य से पूरित सम्बन्धवाली, (पयस्वती) जल दूध रसादि से परिपूर्ण, (पृथिव्याम्) पृथिवी में (मिता) परिमाणयुक्त (निमिता) निर्मित की हुई (विश्वान्नम्) संपूर्ण अन्नादि ऐश्वर्य को (बिभ्रती) धारण करती हुई (प्रतिगृह्णतः) ग्रहण करनेहारों को रोगादि से (मा हिंसीः) पीड़ित न करे, वैसा घर बनाना चाहिये ॥४॥

ब्रह्मणा शालां निमितां कविभिर्निमितां मिताम्।
इन्द्राग्नी रक्षतां शालाममृतौ सोम्यं सदः ॥५॥[2]

१. अथर्व० ९।३।१५, १६॥ २. अथर्व० ९।३।१९॥

अर्थः—(अमृतौ) स्वरूप से नाशरहित (इन्द्राग्नी) वायु और पावक (कविभिः) उत्तम विद्वान् शिल्पियों ने (मिताम्) प्रमाणयुक्त अर्थात् माप में ठीक जैसी चाहिये वैसी (निमिताम्) बनाई हुई (शालाम्) शाला को, और (ब्रह्मणा) चारों वेदों के जाननेहारे विद्वान् ने सब ऋतुओं में सुख देनेहारी (निमिताम्) बनाई (शालाम्) शाला को प्राप्त होकर रहनेवालों को (रक्षताम्) रक्षा करें। अर्थात् चारों ओर का शुद्ध वायु आके अशुद्ध वायु को निकालता रहे, और जिसमें सुगन्ध्यादि घृत का होम किया जाय वह अग्नि दुर्गन्ध को निकाल सुगन्ध को स्थापन करे। वह (सोम्यम्) ऐश्वर्य आरोग्य सर्वदा सुखदायक (सदः) रहने के लिये उत्तम घर है, उसी को निवास के लिये ग्रहण करे ॥५॥

या द्विपक्षा चतुष्पक्षा षट्पक्षा या निमीयते ।
अष्टापक्षां दशपक्षां शालां मानस्य पत्नीमग्निर्गर्भइवा शये ॥६॥[1]

अर्थः—हे मनुष्यो ! (या) जो (द्विपक्षा) दो पक्ष अर्थात् मध्य में एक और पूर्व पश्चिम में एक-एक शालायुक्त घर, अथवा (चतुष्पक्षा) जिसके पूर्व पश्चिम दक्षिण और उत्तर में एक-एक शाला, और इन के मध्य में पाचवीं बड़ी शाला, वा (षट्पक्षा) एक बीच में बड़ी शाला और दो-दो पूर्व-पश्चिम तथा एक-एक उतर-दक्षिण में शाला हो, (या) जो ऐसी शाला (निमीयते) बनाई जाती है, वह उत्तम होती है। और इससे भी जो (अष्टापक्षाम्) चारों ओर दो-दो शाला और उन के बीच में एक नवमी शाला हो, अथवा (दशपक्षाम्) जिस के मध्य में दो शाला और उनके चारों दिशाओं में दो-दो शाला हों, उस (मानस्य) परिमाण के योग से बनाई हुई (शालाम्) शाला को जैसे (पत्नी) पत्नी को प्राप्त होके (अग्निः) अग्निमय आर्त्तव और वीर्य (गर्भ इव) गर्भरूप होके (आशये) गर्भाशय में ठहरता है, वैसे सब शालाओं के द्वार दो-दो हाथ पर सूधे बराबर हों।

और जिस की चारों ओर की शालाओं का परिमाण तीन-तीन गज और मध्य की शालाओं का छः छः गज से परिमाण न्यून न हो, और चार-चार गज चारों दिशाओं की, और आठ-आठ गज मध्य

१. अथर्व० ९।३।२१ ॥

की शालाओं का परिमाण हो, अथवा मध्य की शालाओं का दश-दश गज अर्थात् बीस-बीस हाथ से विस्तार अधिक न हो, बनाकर गृहस्थों को रहना चाहिये। यदि वह सभा का स्थान हो, तो बाहर की ओर द्वारों में चारों ओर कपाट और मध्य में गोल-गोल स्तम्भे बनाकर चारों ओर खुला बनाना चाहिये, कि जिस के कपाट खोलने से चारों ओर का वायु उस में आवे। और सब घरों के चारों ओर वायु आने के लिये अवकाश तथा वृक्ष फल और पुष्करणी कुण्ड भी होने चाहियें, वैसे घरों में सब लोग रहें ॥६॥

प्रतीचीं त्वा प्रतीचीनः शाले प्रैम्यहिंसतीम् ।
अग्निर्ह्यन्तरापश्च ऋतस्य प्रथमा द्वाः ॥७॥[1]

अर्थः—जो (शाले) शालागृह (प्रतीचीनः) पूर्वाभिमुख, तथा जो गृह (प्रतीचीम्) पश्चिम द्वार युक्त (अहिंसतीम्) हिंसादि दोष रहित, अर्थात् पश्चिम द्वार के सम्मुख पूर्व द्वार जिस में (हि) निश्चय कर (अन्तः) बीच में (अग्निः) अग्नि का घर (च) और (आपः) जल का स्थान (ऋतस्य) और सत्य के ध्यान के लिये एक स्थान (प्रथमा) प्रथम (द्वाः) द्वार है, मैं (त्वा) उस शाला को (प्रैमि) प्रकर्षता से प्राप्त होता हूं ॥७॥

मा नः पाशं प्रति मुचो गुरुर्भारो लघुर्भव ।
वधूमिव त्वा शाले यत्रकामं[2] भरामसि ॥८॥
अथर्व० कां० ९ । अ० २ । वर्ग ३ ॥[3]

अर्थः—हे शिल्पि लोगो ! जैसे (नः) हमारी (शाले) शाला अर्थात् गृह (पाशम्) बन्धन को (मा प्रतिमुचः) कभी न छोड़े, जिस में (गुरुर्भारः) बड़ा भार (लघुर्भव) छोटा होवे, वैसा बनाओ। (त्वा) उस शाला को (यत्रकामम्) जहां जैसी कामना हो वहां वैसी हम लोग (वधूमिव) स्त्री के समान (भरामसि) स्वीकार करते हैं[4], वैसे तुम भी ग्रहण करो ॥८॥

---

१. अथर्व० ९।३।२२॥ द्र०—राथह्विटनी सं०।

२. ' शाले यत्र कामं ' पाठान्तर। पदपाठानुसार 'यत्रकामम्' एक पद है। ग्रन्थकार ने भी एक ही पद माना है।

३. अथर्व० ९।३।२४॥

४. 'भरामसि' का दूसरा अर्थ 'दूसरे स्थान पर ले जाते हैं' भी है। इसी

इस प्रकार प्रमाणों के अनुसार जब घर बन चुके, तब प्रवेश करते समय क्या-क्या विधि करना, सो नीचे लिखे प्रमाणे जानो—

अथ विधिः—जब घर बन चुके, तब उसकी शुद्धि अच्छे प्रकार करा, चारों दिशाओं के बाहरले द्वारों में ४ चार वेदी, और एक वेदी घर के मध्य बनावे, अथवा तांबे का वेदी के समान कुण्ड बनवा लेवे, कि जिस से सब ठिकाने एक कुण्ड ही में काम हो जावे। सब प्रकार की सामग्री अर्थात् पृष्ठ २०-२१ में लिखे प्रमाणे समिधा घृत चावल मिष्ट सुगन्ध पुष्टिकारक द्रव्यों को लेके शोधन कर प्रथम दिन रख लेवे। जिस दिन गृहपति का चित्त प्रसन्न होवे, उसी शुभ दिन में गृहप्रतिष्ठा करे।

वहां ऋत्विज् होता अध्वर्यु और ब्रह्मा का वरण करे, जो कि धर्मात्मा विद्वान् हों। वे सब वेदी से पश्चिम दिशा में बैठें।[1] उन में से होता का आसन [पश्चिम में] और उस पर वह पूर्वाभिमुख, अध्वर्यु का आसन उत्तर में उस पर वह दक्षिणाभिमुख, उद्गाता का पूर्व दिशा में आसन उस पर वह पश्चिमाभिमुख, और ब्रह्मा का दक्षिण दिशा में उत्तमासन बिछा कर उत्तराभिमुख। इस प्रकार चारों आसनों पर चारों पुरुषों को बैठावे, और गृहपति सर्वत्र पश्चिम में पूर्वाभिमुख बैठा करे। ऐसे ही घर के मध्य वेदी के चारों ओर दूसरे आसन बिछा रक्खे।

पश्चात् निष्क्रम्यद्वार, जिस द्वार से मुख्य करके घर से निकलना और प्रवेश करना होवे, अर्थात् जो मुख्य द्वार हो, उसी द्वार के समीप ब्रह्मा सहित बाहर ठहर कर—

सूक्त के १७ वें मन्त्र में शाला का विशेषण 'पद्वति' (पैरोंवाली) भी है, और इसी पक्ष में 'गुरुर्भारो लघुर्भव' कथन युक्त होता है। इस प्रकार इस मन्त्र से गतिशील अर्थात् एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जा सकने योग्य शाला बनाने का भी विधान है।

१. 'वे बैठें' वाक्य सं० २ में है। सं० ३ में तथा अगले संस्करणों में नहीं है। यदि इस वाक्य का अभिप्राय यह है कि 'वरण के पूर्व चारों ऋत्विग् वेदी के पश्चिम में बैठें। वहां यजमान उनको वरण करके आगे कहे यथायोग्य स्थानों पर बैठावे' तो यह वाक्य युक्त है। हम इसका यही अभिप्राय समझते हैं। इससे वरण के समय ऋत्विग् कहां बैठें, इसका जो विधान अपेक्षित है, वह उपपन्न हो जाता है।

ओम् अच्युताय भौमाय स्वाहा ॥[1]

इससे एक आहुति देकर, ध्वजा का स्तम्भ जिसमें ध्वजा लगाई हो खड़ा करे। और घर के ऊपर चारों कोणों पर ४ चार ध्वजा खड़ी करे। तथा कार्यकर्त्ता गृहपति स्तम्भ खड़ा करके उसके मूल में जल से सेचन करे, जिससे वह दृढ़ रहे।

पुनः द्वार के सामने बाहर जाकर नीचे लिखे ४ चार मन्त्रों से जलसेचन करे—

ओम् इमामुच्छ्रयामि भुवनस्य नाभिं वसोर्धारां प्रतरणीं वसूनाम्।
इहैव ध्रुवां निमिनोमि शालां क्षेमे तिष्ठतु घृतमुक्षमाणा ॥१॥[2]

इस मन्त्र से पूर्व द्वार के सामने जल छिटकावे।

अश्वावती गोमती सूनृतावत्युच्छ्रयस्व महते सौभगाय।
आ त्वा शिशुराक्रन्दत्वा गावो धेनवो वाश्यमानाः ॥२॥[2]

इस मन्त्र से दक्षिण द्वार।

आ त्वा कुमारस्तरुण आ वत्सो जगदैः सह।
आ त्वा परिस्रुतः कुम्भ आ दध्नः कलशैरुप।
क्षेमस्य पत्नी बृहती सुवासा रयिं नो धेहि सुभगे सुवीर्यम् ॥३॥[2]

इस मन्त्र से पश्चिम द्वार।

अश्वावद् गोमदूर्जस्वत् पर्णं वनस्पतेरिव।
अभि नः पूर्यताᳬ रयिरिदमनुश्रेयो वसानः ॥४॥[2]

इस मन्त्र से उत्तर द्वार के सामने जल छिटकावे। तत्पश्चात् सब द्वारों पर पुष्प और पल्लव तथा कदली-स्तम्भ वा कदली के पत्ते भी द्वारों की शोभा के लिये लगाकर, पश्चात् गृहपति—

हे ब्रह्मन्! प्रविशामीति ॥[3] ऐसा वाक्य बोले। और ब्रह्मा—

वरं भवान् प्रविशतु ॥[4]

ऐसा प्रत्युत्तर देवे। और ब्रह्मा की अनुमति से—

१. पार० गृह्य ३।४।३॥ २. पार० गृह्य ३।४।४

३. द्र०—पार० गृह्य ३।४।५॥

४. द्र०—पार० गृह्य ३।४।६॥ ब्रह्मानुज्ञातः।

ओम् ऋचं प्रपद्ये शिवं प्रपद्ये ॥[1]

इस वाक्य को बोलके भीतर प्रवेश करे। और जो घृत गरम कर छान सुगन्ध मिलाकर रक्खा हो उसको पात्र में लेके, जिस द्वार से प्रथम प्रवेश करे, उसी द्वार से प्रवेश करके, पृष्ठ ३०-३२ में लिखे प्रमाणे अग्न्याधान, समिदाधान, जलप्रोक्षण, आचमन[2] करके पृष्ठ ३३-३५ में लिखे प्रमाणे घृत की आघारावाज्यभागाहुति[3] ४ चार, और व्याहृति[4] आहुति ४ चार, नवमी स्विष्टकृत[5] आज्याहुति एक, अर्थात् दिशाओं की द्वारस्थ वेदियों में अग्न्याधान से लेके स्विष्टकृत् आहुतिपर्यन्त विधि करके, पश्चात् पूर्वदिशा द्वारस्थ कुण्ड में—

ओं प्राच्या॑ दि॒शः शाला॑या॒ नमो॑ महि॒म्ने स्वाहा॑ ।

ओं दे॒वेभ्यः॑ स्वा॒ह्ये॒भ्यः॒ स्वाहा॑ ॥[6]

इन मन्त्रों से पूर्व द्वारस्थ वेदी में दो घृताहुति देवे। वैसे ही—

ओं दक्षि॑णाया दि॒शः शाला॑या॒ नमो॑ महि॒म्ने स्वाहा॑ ।

ओं दे॒वेभ्यः॑ स्वा॒ह्ये॒भ्यः॒ स्वाहा॑ ॥

इन दो मन्त्रों से दक्षिण द्वारस्थ वेदी में एक-एक मन्त्र करके दो आज्याहुति। और—

ओं प्र॒तीच्या॑ दि॒शः शाला॑या॒ नमो॑ महि॒म्ने स्वाहा॑ ।

ओं दे॒वेभ्यः॑ स्वा॒ह्ये॒भ्यः॒ स्वाहा॑ ॥

इन दो मन्त्रों से दो आज्याहुति पश्चिम दिशा द्वारस्थ कुण्ड में देवे।

ओम् उदी॑च्या दि॒शः शाला॑या॒ नमो॑ महि॒म्ने स्वाहा॑ ।

ओं दे॒वेभ्यः॑ स्वा॒ह्ये॒भ्यः॒ स्वाहा॑ ॥

इनसे उत्तर दिशास्थ वेदी में दो आज्याहुति देवे।

---

१. पार० गृह्य ३।४।६॥

२. यहां क्रम अभिप्रेत नहीं है। कार्यनिर्देश ही अभिप्रेत है। अतः आचमन पहले करना चाहिए।

३. 'ओम् अग्नये स्वाहा' आदि चार मन्त्रों से।

४. 'ओं भूरग्नये स्वाहा' आदि चार मन्त्रों से।

५. 'ओं यदस्य कर्मणो०' मन्त्र से।

६. देखो—पृष्ठ २४५, टि० १।

पुनः मध्यशालास्थ वेदी के समीप जाके स्व-स्व दिशा में बैठके—

ओं ध्रुवायां दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा ।
ओं देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः स्वाहा ॥

इनसे मध्य वेदी में दो आज्याहुति ।

ओं ऊर्ध्वायां दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा ।
ओं देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः स्वाहा ॥

इनसे भी दो आहुति मध्यवेदी में । और—

ओं दिशोदिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा ।
ओं देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः स्वाहा ॥[1]

इन से भी दो आज्याहुति मध्यस्थ वेदी में देके, पुनः पूर्व दिशास्थ द्वारस्थ वेदी में अग्नि को प्रज्वलित करके वेदी से दक्षिण भाग में ब्रह्मासन तथा होता आदि के पूर्वोक्त प्रकार आसन बिछवा, उसी वेदी के उत्तर भाग में एक कलश स्थापन कर, पृष्ठ २०-२१ में लिखे प्रमाणे स्थालीपाक बनाके, पृथक् निष्क्रम्यद्वार[2] के समीप जा ठहर कर ब्रह्मादि सहित गृहपति मध्यशाला में प्रवेश करके ब्रह्मादि को दक्षिणादि आसन पर बैठा, स्वयं पूर्वाभिमुख बैठके संस्कृत घी अर्थात् जो गरम कर छान, जिस में कस्तूरी आदि सुगन्ध मिलाया हो, पात्र में लेके सब के सामने एक-एक पात्र भरके रक्खे । और चमसा में लेके—

ओं वास्तोष्पते प्रति जानीह्यस्मान्त्स्वावेशो अनमीवो भवा नः ।
यत्त्वेमहे प्रति तन्नो जुषस्व शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे स्वाहा ।१॥
वास्तोष्पते प्रतरणो न एधि गयस्फानो गोभिरश्वेभिरिन्दो ।
अजरासस्ते सख्ये स्याम पितेव पुत्रान् प्रति नो जुषस्व स्वाहा ॥२॥

---

१. ये सब मन्त्र अथर्व० ९।३।२५-३१ तक द्रष्टव्य हैं । वेद में 'स्वाह्येभ्यः' पर्यन्त एक मन्त्र है । उसके यहां दो-दो विभाग किये हैं । 'स्वाह्येभ्यः' से आगे 'स्वाहा' पद मन्त्र से बहिर्भूत है ।

२. अर्थात् मुख्य निष्क्रम्यद्वार से भिन्न जो निष्क्रम्यद्वार हो उसके समीप ।

वास्तोष्पते शग्मया संसदा ते सक्षीमहि रण्वया गातुमत्या ।
पाहि क्षेम उत योगे वरं नो यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः स्वाहा ॥३॥
ऋ० मं० ७ । सू० ५४ ॥[1]

अमीवहा वास्तोष्पते विश्वा रूपाण्याविशन् ।
सखा सुशेव एधि नः स्वाहा ॥४।
ऋ० मं० ७ । सू० ५५ । मं० १ ॥[2]

इन ४ चार मन्त्रों से ४ चार आज्याहुति देके, जो स्थालीपाक अर्थात् भात बनाया हो उसको दूसरे कांसे के पात्र में लेके, उस पर यथायोग्य घृत सेचन करके अपने-अपने सामने रक्खें। और पृथक्-पृथक् थोड़ा-थोड़ा लेकर—

ओम् अग्निमिन्द्रं बृहस्पतिं विश्वाँश्च देवानुपह्वये ।
सरस्वतीञ्च वाजीञ्च वास्तु मे दत्त वाजिनः स्वाहा ॥१॥

सर्पदेवजनान्त्सर्वान् हिमवन्तꣳ सुदर्शनम् ।
वसूँश्च रुद्रानादित्यानीशानं जगदैः सह ।
एतान्त्सर्वान् प्रपद्येहं वास्तु मे दत्त वाजिनः स्वाहा ॥२॥

पूर्वाह्णमपराह्णं चोभौ मध्यन्दिना सह ।
प्रदोषमर्धरात्रं च व्युष्टां देवीं महापथाम् ।
एतान्त्सर्वान् प्रपद्येहं वास्तु मे दत्त वाजिनः स्वाहा ॥३॥

ओं कर्तारञ्च विकर्तारं विश्वकर्माणमोषधींश्च वनस्पतीन् ।
एतान्त्सर्वान् प्रपद्येहं वास्तु मे दत्त वाजिनः स्वाहा ॥४॥

धातारं च विधातारं निधीनां च पतिꣳ सह ।
एतान्त्सर्वान् प्रपद्येहं वास्तु मे दत्त वाजिनः स्वाहा ॥५॥

---

१. मन्त्र १—३॥ 'स्वाहा' पद मन्त्र से बहिर्भूत है। उसके योग में अन्तिम अक्षर में जो स्वरभेद होता है, तदनुसार यहां कर दिया है।

२. 'स्वाहा' पद मन्त्र से बहिर्भूत है। द्र०—इसी पृष्ठ की टि० १।

स्योन१ँ शिवमिदं वास्तु दत्तं ब्रह्मप्रजापती ।
सर्वाश्च देवताश्च स्वाहा ॥६॥[1]

स्थालीपाक अर्थात् घृतयुक्त भात की इन ६ छः मन्त्रों से ६ छः आहुति देकर कांस्यपात्र में उदुम्बर=गूलर [और][2] पलाश के पत्ते, शाड्वल=तृणविशेष[3], गोमय दही मधु घृत कुशा और यव को लेके, उन सब वस्तुओं को मिलाकर—

ओं श्रीश्च त्वा यशश्च पूर्वे सन्धौ गोपायेताम् ॥

इस मन्त्र से पूर्व द्वार ।

यज्ञश्च त्वा दक्षिणा च दक्षिणे सन्धौ गोपायेताम् ॥

इससे दक्षिण द्वार ।

अन्नञ्च त्वा ब्राह्मणश्च पश्चिमे सन्धौ गोपायेताम् ॥

इससे पश्चिम द्वार ।

ऊर्क् च त्वा सूनृता चोत्तरे सन्धौ गोपायेताम् ॥[4]

इससे उत्तर द्वार के समीप उनको बखेरे, और जलप्रोक्षण भी करे ।

केता च मा सुकेता च पुरस्ताद् गोपायेतामित्यग्निर्वै केताऽऽदित्यः सुकेता तौ प्रपद्ये ताभ्यां नमोऽस्तु तौ मा पुरस्ताद् गोपायेताम् ॥१॥[5]

इससे पूर्व दिशा में परमात्मा का उपस्थान करके दक्षिण द्वार के सामने दक्षिणाभिमुख होके—

---

१. पार० गृह्य ३।४।८॥ प्रथम मन्त्र में 'विश्वान् देवान्' पाठ है ।

२. 'और' शब्द के विना 'पत्ते' का सम्बन्ध केवल पलाश के साथ ही होता है, उदुम्बर के साथ भी उसका सम्बन्ध इष्ट है । 'गूलर' पद उदुम्बर के ही लौकिक नाम के रूप में उपस्थित किया गया है ।

३. शाड्वल का अभिप्राय ही 'तृणविशेष' से प्रकट किया है । पारस्कर ३।४।६ की व्याख्या में शाड्वल का अर्थ 'दूर्वा' अर्थात् 'दूब' किया है ।

४. पार० गृह्य ३।४।१०-१३ ॥ 'ब्राह्मणश्च पश्चिमे' यह पारस्कर में पाठान्तर भी है । ५. पार० गृह्य ३।४।१४ ॥

दक्षिणतो गोपायमानं च मा रक्षमाणा च दक्षिणतो गोपायेतामित्यहर्वै गोपायमानꣳ रात्री रक्षमाणा ते प्रपद्ये ताभ्यां नमोऽस्तु ते मा दक्षिणतो गोपायेताम् ॥२॥[1]

इस प्रकार जगदीश का उपस्थान करके पश्चिम द्वार के सामने पश्चिमाभिमुख होके—

दीदिविश्च मा जागृविश्च पश्चाद् गोपायेतामित्यन्नं वै दीदिविः प्राणो जागृविस्तौ प्रपद्ये ताभ्यां नमोऽस्तु तौ मा पश्चाद् गोपायेताम् ॥३॥[2]

इस प्रकार पश्चिम दिशा में सर्वरक्षक परमात्मा का उपस्थान करके, उत्तर दिशा में उत्तर द्वार के सामने उत्तराभिमुख खड़े रहके—

अस्वप्नश्च माऽनवद्राणश्चोत्तरतो गोपायेतामिति चन्द्रमा वा अस्वप्नो वायुरनवद्राणस्तौ प्रपद्ये ताभ्यां नमोऽस्तु तौ मोत्तरतो गोपायेताम् ॥४॥[3]

धर्मस्थूणाराजꣳ श्रीसूर्यमहोरात्रे[4] द्वारफलके । इन्द्रस्य गृहा वसुमन्तो वरूथिनस्तानहं प्रपद्ये सह प्रजया पशुभिस्सह । यन्मे किञ्चिदस्त्युपहूतः सर्वगणः सखा यः साधुसंमतस्तां[5] त्वा शाले अरिष्टवीरा गृहा नः सन्तु सर्वतः ॥५॥

---

१. पार० गृह्य ३।४।१५ ॥ २. पार० गृह्य ३।४।१६ ॥

३. पार० गृह्य ३।४।१७ ॥ संस्करण २ तथा अगले कुछ संस्करणों में 'गोपायेतामिति' अपपाठ है । पार० गृह्य में सर्वत्र 'इति' मन्त्रपूर्त्यर्थ है । इन चारों वचनों को पारस्कर गृह्य के टीकाकार मन्त्र मानते हैं । परन्तु इनमें केता सुकेता, गोपायमान रक्षमाण, दीदिवि जागृवि और अस्वप्न अनवद्राण पदों का क्रमशः व्याख्यान होने से ये शुद्ध रूप में मन्त्र नहीं हैं, अपि तु ब्राह्मण-मिश्रित पाठ हैं । ४. पार० गृह्य १।४।१८ से 'श्रीस्तूपमहोरात्रे' पाठ है ।

५. पार० गृह्य ३।४।१८ में 'सर्वगणसखायसाधुसंवृतः' पाठ मिलता है । ब्लूमफील्ड ने 'सर्वगणः सखायः साधुसंवृतः' पाठ उद्धृत किया है । इस पाठ में 'सखा यः' दो पदों का एकीकरण बहुवचनान्तरूप पाठ भ्रान्तिमूलक है । पारस्कर का मुद्रित पाठ अशुद्ध है, यह एकपद पक्ष में पद के मध्य में पठित 'सखाय' शब्द से ही स्पष्ट है ।

इस प्रकार उत्तर दिशा में सर्वाधिष्ठाता परमात्मा का उपस्थान करके, सुपात्र वेदवित् धार्मिक होता आदि सपत्नीक ब्राह्मण, तथा इष्ट मित्र और सम्बन्धियों को उत्तम भोजन कराके, यथायोग्य सत्कार करके, दक्षिणा दे, पुरुषों को पुरुष और स्त्रियों को स्त्री प्रसन्नतापूर्वक विदा करें। और वे जाते समय गृहपति और गृहपत्नी आदि को—

सर्वे भवन्तोऽत्राऽऽनन्दिताः सदा भूयासुः ॥

इस प्रकार आशीर्वाद देके अपने-अपने घर को जावें।

इसी प्रकार आराम[1] आदि की भी प्रतिष्ठा करें। इसमें इतना ही विशेष है कि जिस ओर का वायु बगीचे को जावे, उसी ओर होम करे कि जिसका सुगन्ध वृक्ष आदि को सुगन्धित करे। यदि उसमें घर बना हो, तो शाला के समान उसकी भी प्रतिष्ठा करे ॥

इति शालादि-संस्कारविधिः ॥

इस प्रकार गृहादि की रचना करके गृहाश्रम में जो-जो अपने-अपने वर्ण के अनुकूल कर्त्तव्य कर्म हैं, उन-उन को यथावत् करें।

अथ ब्राह्मणस्वरूपलक्षणम्

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहश्चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥ १ ॥ मनु०[2] ॥

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥२॥ गीता ॥[3]

अर्थः—१ एक—निष्कपट होके प्रीति से पुरुष पुरुषों को और स्त्री स्त्रियों को पढ़ावें। २ दो—पूर्ण विद्या पढ़ें। ३ तीन—अग्निहोत्रादि यज्ञ करें। ४ चौथा—यज्ञ करावें। ५ पांच—विद्या अथवा सुवर्ण आदि का सुपात्रों को दान देवें। ६ छठा—न्याय से धनोपार्जन करनेवाले गृहस्थों[4] से दान लेवें भी।

---

१. अर्थात् बगीचा। २. मनु १।८८ ॥ तु०—मनु० १०।७५ ॥
३. गीता १८।४२ ॥
४. द्र०—'विशुद्धाच्चैव प्रतिग्रहः' मनु० १०।७६ ॥ इसकी व्याख्या में 'द्विजातिभ्यो धनं लिप्सेत् प्रशस्तेभ्यो द्विजः'। यह वचन भी उद्धृत है।

इनमें से ३ तीन कर्म—पढ़ना, यज्ञ करना, दान देना *धर्म में[1]। और तीन कर्म—पढ़ाना, यज्ञ कराना, दान लेना जीविका हैं[2]। परन्तु—प्रतिग्रहः प्रत्यवरः ।। मनु० ।।[3]जो दान लेना है वह नीच कर्म है, किन्तु पढ़ाके और यज्ञ कराके जीविका करनी उत्तम है ।।१।।

(शमः) मन को अधर्म में न जाने दे, किन्तु अधर्म करने की इच्छा भी न उठने देवे। (दमः) श्रोत्रादि इन्द्रियों को अधर्माचरण से सदा दूर रक्खे, दूर रखके धर्म ही के बीच में प्रवृत्त रक्खे। (तपः) ब्रह्मचर्य विद्या योगाभ्यास की सिद्धि के लिये शीत-उष्ण निन्दा-स्तुति क्षुधा-तृषा मानापमान आदि द्वन्द्व का सहना। (शौचम्) राग-द्वेष-मोहादि[4] से मन और आत्मा को, तथा जलादि से शरीर को सदा पवित्र रखना। (क्षान्तिः) क्षमा, अर्थात् कोई निन्दा-स्तुति आदि से सतावे, तो भी उन पर कृपालु रहकर क्रोधादि का न करना। (आर्जवम्) निरभिमान रहना, दम्भ स्वात्मश्लाघा अर्थात् अपने मुख से अपनी प्रशंसा न करके नम्र सरल शुद्ध पवित्र भाव रखना। (ज्ञानम्) सब शास्त्रों को पढ़के, विचार कर उनके शब्दार्थ-सम्बन्धों को यथावत् जानकर पढ़ाने का पूर्ण सामर्थ्य करना। (विज्ञानम्) पृथिवी से लेके परमेश्वर-पर्यन्त पदार्थों को जान, और क्रियाकुशलता तथा योगाभ्यास से साक्षात् करके यथावत् उपकार ग्रहण करना कराना। (आस्तिक्यम्) परमेश्वर वेद धर्म परलोक परजन्म पूर्वजन्म कर्मफल और मुक्ति से विमुख कभी न होना। ये नव

---

*धर्म नाम न्यायाचरण। न्याय नाम पक्षपात छोड़के वर्त्तना। पक्षपात छोड़ना नाम सर्वदा अहिंसादि निर्वैरता सत्यभाषणादि में स्थिर रह कर हिंसा-द्वेषादि और मिथ्याभाषणादि से सदा पृथक् रहना। सब मनुष्यों का यही एक धर्म है। किन्तु जो-जो धर्म के लक्षण वर्ण-कर्मों में पृथक्-पृथक् आते हैं, इसी से चार वर्ण पृथक्-पृथक् गिने जाते हैं ।। द० स०

---

१. यहां 'में' शब्द अधिक अर्थात् व्यर्थ प्रतीत होता है, क्योंकि ६ कर्मों में से ३ कर्म अगले वाक्य में जीविकारूप बताये हैं। अतः पढ़ना आदि ३ कर्म ब्राह्मण के धर्म हैं। नीचे की टिप्पणी से भी यही अभिप्राय पुष्ट होता है।

२. द्र०--मनु० १०।७६—"षण्णां तु कर्मणामस्य त्रीणि कर्माणि जीविका। याजनाध्यापने चैव विशुद्धाच्च प्रतिग्रहः ।।"

३. मनु० १०।१०९ ।। ४. यहां 'मोहादि के त्याग से' पाठ चाहिये।

कर्म और गुण धर्म में[1] समझना। सब से उत्तम गुण कर्म स्वभाव को धारण करना। ये गुण कर्म जिन व्यक्तियों[2] में हों, वे ब्राह्मण और ब्राह्मणी होवें। विवाह भी इन्हीं वर्ण के गुण कर्म स्वभावों को मिला हीके करें। मनुष्यमात्र में से इन्हीं को ब्राह्मण वर्ण का अधिकार होवे ॥ २ ॥

अथ क्षत्रियस्वरूपलक्षणम्

प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः ॥१॥ मनु०॥[3]

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रकर्म स्वभावजम् ॥२॥ गीता[4]॥

अर्थः—दीर्घ ब्रह्मचर्य से (अध्ययनम्) साङ्गोपाङ्ग वेदादि शास्त्रों को यथावत् पढ़ना। (इज्या) अग्निहोत्रादि यज्ञों को करना। (दानम्) सुपात्रों को विद्या सुवर्ण आदि और प्रजा को अभयदान देना। (प्रजानां रक्षणम्) प्रजाओं का सब प्रकार से सर्वदा यथावत् पालन करना। यह धर्म क्षत्रियों के धर्म के लक्षणों में, और शस्त्रविद्या का पढ़ाना, न्यायघर और सेना में जीविका करना क्षत्रियों की जीविका है[5]। (विषयेष्वप्रसक्तिः) विषयों में अनासक्त होके सदा जितेन्द्रिय रहना। लोभ व्यभिचार मद्यपानादि नशा आदि दुर्व्यसनों से पृथक् रहकर विनय सुशीलतादि शुभ कर्मों में सदा प्रवृत्त रहना ॥१॥

(शौर्यम्) शस्त्र संग्राम मृत्यु और शस्त्र-प्रहारादि से न डरना। (तेजः) प्रगल्भता, उत्तम प्रतापी होकर किसी के सामने दीन वा भीरु न होना। (धृतिः) चाहे कितनी ही आपत् विपत् क्लेश दुःख प्राप्त हो, तथापि धैर्य रखके कभी न घबराना। (दाक्ष्यम्) संग्राम

---

१. यहां पाठ कुछ भ्रष्ट प्रतीत होता है। 'धर्म में' के स्थान पर 'ब्राह्मण धर्म में' पाठ हो तो वाक्यार्थ युक्त हो जाता है।

२. 'जिस व्यक्ति में' संस्करण २ में पाठ है। वर्तमान में मुद्र्यमाण पाठ संस्करण ३ के अनुसार है।

३. मनु० १।८९॥

४. गीता १८।४३॥

५. शस्त्रास्त्रभृत्वं क्षत्रस्य······आजीवनार्थम्। मनु० १०।७९॥

वाग्युद्ध दूतत्व न्याय[1] विचार आदि सब में अतिचतुर बुद्धिमान् होना। (युद्धे चाप्यपलायनम्) युद्ध में सदा उद्यत रहना, युद्ध से घबराकर शत्रु के वश में कभी न होना। (दानम्) इसका अर्थ प्रथम श्लोक में आ गया। (ईश्वरभावः) जैसे परमेश्वर सबके ऊपर दया करके पितृवत् वर्तमान, पक्षपात छोड़कर धर्माऽधर्म करनेवालों को यथायोग्य सुखदुःखरूप फल देता, और अपने सर्वज्ञता आदि साधनों से सबका अन्तर्यामी होकर सब के अच्छे बुरे कर्मों को यथावत् देखता है, वैसे प्रजा के साथ वर्तकर गुप्त दूत आदि से अपने को सब प्रजा वा राजपुरुषों के अच्छे बुरे कर्मों से सदा ज्ञात रखना, रात दिन न्याय करने और प्रजा को यथावत् सुख देने, श्रेष्ठों का मान और दुष्टों को दण्ड करने में सदा प्रवृत्त रहना, और सब प्रकार से अपने शरीर को रोगरहित बलिष्ठ दृढ़ तेजस्वी दीर्घायु रखके आत्मा को न्याय धर्म में चलाकर कृतकृत्य करना, आदि गुण-कर्मों का योग जिस व्यक्ति में हो, वह क्षत्रिय और क्षत्रिया होवे। इनका भी इन्हीं गुण-कर्मों के मेल से विवाह करना। और जैसे ब्राह्मण पुरुषों और ब्राह्मणी स्त्रियों को पढ़ावे, वैसे ही राजा पुरुषों राणी स्त्रियों का[2] न्याय तथा उन्नति सदा किया करे। जो क्षत्रिय राजा न हों, वे भी राज में ही यथाधिकार से नौकरी किया करें।।२।।

अथ वैश्यस्वरूपलक्षणम्

पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च ।।१।। मनु०[3]।।

अर्थः—(अध्ययनम्) वेदादि शास्त्रों का पढ़ना। (इज्या) अग्निहोत्रादि यज्ञों का करना। (दानम्) अन्नादि का दान देना। ये तीन धर्म के लक्षण। और (पशूनां रक्षणम्) गाय आदि पशुओं का पालन करना, उनसे[4] दुग्धादि का वेचना। (वणिक्पथम्) नाना देशों की भाषा हिसाब भूगर्भविद्या भूमि बीज आदि के गुण जानना, और

१. 'न्याय' शब्द हस्तलेख में है, संस्करण २ में मुद्रण में छूटा है।
२. संस्करण २, ३ में 'का'। उत्तरवर्ती संस्करणों में 'की' अपपाठ है।
३. मनु० १।१०।।
४. 'उन से प्राप्त दुग्धादि' अथवा 'उनके दुग्धादि' पाठ होना चाहिए।

सब पदार्थों के भावाभाव समझना। (कुसीदम्) व्याज का लेना*। (कृषिमेव च) खेती की विद्या का जानना, अन्न आदि की रक्षा, खात[1] और भूमि की परीक्षा, जोतना बोना आदि व्यवहार का जानना, ये चार कर्म वैश्य की जीविका[2]। ये गुण-कर्म जिस व्यक्ति में हों, वह वैश्य-वैश्या। और इन्हीं की परस्पर परीक्षा और योग से विवाह होना चाहिये ॥१॥

अथ शूद्रस्वरूपलक्षणम्

एकमेव हि शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया ॥१॥ मनु० ॥[3]

अर्थः—(प्रभुः) परमेश्वर ने (शूद्रस्य) जो विद्याहीन, जिसको पढ़ने से भी विद्या न आ सके, शरीर से पुष्ट, सेवा में कुशल हो, उस शूद्र के लिये (एतेषामेव वर्णानाम्) इन ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य तीनों वर्णों की (अनसूयया) निन्दा से रहित प्रीति से सेवा करना, (एकमेव कर्म) यही एक कर्म (समादिशत्) करने की आज्ञा दी है। ये मूर्खत्वादि गुण और सेवा आदि कर्म जिस व्यक्ति में हों, वह शूद्र और शूद्रा है। इन्हीं की परीक्षा से इनका विवाह, और इनको अधिकार भी ऐसा ही होना चाहिये ॥१॥

इन गुणकर्मों के योग ही से चारों वर्ण होवें, तो उस कुल देश और मनुष्यसमुदाय की बड़ी उन्नति होवे। और जिनका जन्म जिस वर्ण में हो, उसी के सदृश गुणकर्म स्वभाव हों, तो अतिविशेष है।

अब सब ब्राह्मणादि वर्णवाले मनुष्य लोग अपने-अपने कर्मों में निम्नलिखित रीति से वर्तें—

---

*सवा रुपये सैंकड़े से अधिक, चार आने से न्यून व्याज न लेवे न देवे। जब दूना धन आ जाये उससे आगे कौड़ी न लेवे न देवे। जितना न्यून व्याज लेवेगा, उतना ही उसका धन बढ़ेगा। और कभी धन का नाश और कुसन्तान उसके कुल में न होंगे ॥ द० स०

---

१. अर्थात् खाद।

२. 'वणिक्पशुकृषिर्विशः आजीवनार्थम्...।' मनु० १०।७९ ॥

३. तु०—मनु० १।९१ ॥ मनु० में 'एकमेव तु' पाठ है। सत्यार्थ-प्रकाश संस्करण २ में भी 'एकमेव हि' पाठ मिलता है।

वेदोदितं स्वकं कर्म नित्यं कुर्यादतन्द्रितः ।
तद्धि कुर्वन् यथाशक्ति प्राप्नोति परमां गतिम् ।।१।।

नेहेतार्थान् प्रसगेन न विरुद्धेन कर्मणा ।
न विद्यमानेष्वर्थेषु नार्त्यामपि यतस्ततः ।। २ ।।[1]

अर्थः—ब्राह्मणादि द्विज वेदोक्त अपने कर्म को आलस्य छोड़के नित्य किया करें । उसको अपने सामर्थ्य के अनुसार करते हुए मुक्ति-पर्यन्त पदार्थों को प्राप्त होते हैं ।।१।।

गृहस्थ कभी किसी दुष्ट के प्रसंग[2] से द्रव्यसंचय न करे, न विरुद्ध कर्म से । न विद्यमान पदार्थ होते हुए उन को गुप्त रखके, दूसरे से छल करके और चाहे कितना ही दुःख पड़े तदपि[3] अधर्म से द्रव्य सञ्चय कभी न करे ।।२।।

इन्द्रियार्थेषु सर्वेषु न प्रसज्येत कामतः ।
अतिप्रसक्तिं चैतेषां मनसा सन्निवर्तयेत् ।।३।।

सर्वान् परित्यजेदर्थान् स्वाध्यायस्य विरोधिनः ।
यथा तथाऽध्यापयँस्तु सा ह्यस्य कृतकृत्यता ।।४।।[4]

अर्थः—इन्द्रियों के विषयों में काम से कभी न फंसे । और विषयों की अत्यन्त प्रसक्ति अर्थात् प्रसंग को मन से अच्छे प्रकार दूर करता रहे ।।३।।

जो स्वाध्याय और धर्म-विरोधी व्यवहार वा पदार्थ हैं, उन सब को छोड़ देवें । जिस-किसी प्रकार से विद्या को पढ़ाते रहना ही गृहस्थ को कृतकृत्य होना है ।।४।।

बुद्धिवृद्धिकराण्याशु धन्यानि च हितानि च ।
नित्यं शास्त्राण्यवेक्षेत निगमाँश्चैव वैदिकान् ।।५।।

यथा यथा हि पुरुषः शास्त्रं समधिगच्छति ।
तथा तथा विजानाति विज्ञानं चास्य रोचते ।।६।।

---

१. मनु० ४।१४,१५ ।।

२. यहां 'दुष्ट प्रसङ्ग से' अथवा 'दूषित प्रसङ्ग से' ऐसा पाठ होना युक्त है ।

३. संस्करण २, ३ में 'तदपि', उत्तर संस्करणों में 'तदापि' । अर्वाचीन संस्करणों में 'तथापि' पाठ मिलता है । ४. मनु० ४।१६,१७ ।।

न संवसेच्च पतितैर्न चाण्डालैर्न पुक्कशैः ।
न मूर्खैर्नावलिप्तैश्च नान्त्यैर्नान्त्यावसायिभिः ॥७॥

नात्मानमवमन्येत पूर्वाभिरसमृद्धिभिः ।
आमृत्योः श्रियमन्विच्छेन्नैनां मन्येत दुर्लभाम् ॥८॥

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात् सत्यमप्रियम् ।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः ॥९॥[1]

अर्थः—हे स्त्रीपुरुषो ! तुम जो धर्म धन और बुद्धयादि को अत्यन्त शीघ्र बढ़ानेहारे हितकारी शास्त्र हैं, उनको और वेद के भागों की विद्याओं को नित्य देखा करो ॥५॥

मनुष्य जैसे-जैसे शास्त्र का[2] विचार कर उसके यथार्थ भाव को प्राप्त होता है, वैसे-वैसे अधिक-अधिक जानता है, और इसकी प्रीति विज्ञान ही में होती जाती है ॥६॥

सज्जन गृहस्थ लोगों को योग्य है कि जो पतित दुष्ट कर्म करनेहारे हों न उनके, न चांडाल, न कंजर, न मूर्ख, न मिथ्याभिमानी, और न नीच निश्चयवाले मनुष्यों के साथ कभी निवास करें ॥७॥

गृहस्थ लोग कभी प्रथम पुष्कल धनी होके पश्चात् दरिद्र हो जायें, उससे अपने आत्मा का अवमान[3] न करें कि हाय हम निर्धनी हो गये । इत्यादि विलाप भी न करें, किन्तु मृत्युपर्यन्त लक्ष्मी की उन्नति में पुरुषार्थ किया करें, और लक्ष्मी को दुर्लभ न समझें ॥८॥

मनुष्य सदैव सत्य बोलें, और दूसरे को कल्याणकारक उपदेश करें । काणे को काणा और मूर्ख को मूर्ख आदि अप्रिय वचन उनके सन्मुख कभी न बोलें । और जिस मिथ्याभाषण से दूसरा प्रसन्न होता हो उसको भी न बोलें, यह सनातन धर्म है ॥९॥

अभिवादयेद् वृद्धाँश्च दद्याच्चैवासनं स्वकम् ।
कृताञ्जलिरुपासीत गच्छतः पृष्ठतोऽन्वियात् ॥१०॥

---

१. मनु० ४।१९, २०, ७९, १३७, १३८ ॥ सातवें श्लोक में काशी में छपे मनु० के संवत् १९२६ के संस्करण में 'पुक्कशैः' ही पाठ मिलता है ।

२. संस्करण २ में 'का' पाठ है । उत्तरवर्ती संस्करणों में 'को' मिलता है ।

३. संस्करण २ में अवमान, संस्करण ३ तथा उत्तरवर्ती संस्करणों में 'अपमान' पाठ है । अवमान=अपमान ।

श्रुतिस्मृत्युदितं सम्यङ् निबद्धं स्वेषु कर्मसु ।
धर्ममूलं निषेवेत सदाचारमतन्द्रितः ॥११॥

आचाराल्लभते ह्यायुराचारादीप्सिताः प्रजाः ।
आचाराद् धनमक्षय्यमाचारो हन्त्यलक्षणम् ॥१२॥

दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः ।
दुःखभागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेव च ॥१३॥

सर्वलक्षणहीनोऽपि यः सदाचारवान् नरः ।
श्रद्दधानोऽनसूयश्च शतं वर्षाणि जीवति ॥१४॥[1]

अर्थः—सदा विद्यावृद्धों और वयोवृद्धों को 'नमस्ते' अर्थात् उन का मान्य किया करे। जब वे अपने समीप आवें, तब उठकर मान्यपूर्वक ले अपने आसन पर बैठावे, और हाथ जोड़के आप समीप बैठे पूछे, वे उत्तर देवें[2]। और जब जाने लगें, तब थोड़ी दूर पीछे-पीछे जाकर नमस्ते कर विदा किया करे, और वृद्ध लोग हर वार निकम्मे जहां-तहां न जाया करें ॥१०॥

गृहस्थ सदा आलस्य को छोड़कर वेद और मनुस्मृति में वेदानुकूल[3] कहे हुये अपने कर्मों में निबद्ध, और धर्म का मूल सदाचार अर्थात् सत्य और सत्पुरुष आप्त धर्मात्माओं का [जो] आचरण है, उसका सेवन सदा किया करें ॥११॥

धर्माचरण ही से दीर्घायु, उत्तम प्रजा और अक्षय धन को मनुष्य प्राप्त होता है। और धर्माचार बुरे अधर्मयुक्त लक्षणों का नाश कर देता है ॥१२॥

और जो दुष्टाचारी पुरुष होता है, वह सर्वत्र निन्दित दुःखभागी और व्याधि से अल्पायु सदा हो जाता है ॥१३॥

जो सब अच्छे लक्षणों से हीन भी होकर सदाचारयुक्त, सत्य में श्रद्धा, और निन्दा आदि दोषरहित होता है, वह सुख से सौ वर्ष पर्यन्त जीता है ॥१४॥

---

१. मनु० ४।१५४-१५८ ॥

२. संस्करण १२ तक यही पाठ है। शता० सं० से १७वें सं० तक 'पूछे (हु)वे उत्तर देवें'। तथा सं० १८-२४ तक 'पूछे हुये उत्तर देवें' पाठ मिलता है।

३. 'वेदानुकूल' पद संस्करण २, ३, ४, ५, ६ में मिलता है। संस्करण ७-१२ तक छूटा हुआ है। शताब्दी संस्करण से पुनः जोड़ दिया गया है।

यद्यत् परवशं कर्म तत्तद् यत्नेन वर्जयेत् ।
यद्यदात्मवशं तु स्यात् तत्तत् सेवेत यत्नतः ॥१५॥

सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम् ।
एतद्विद्यात् समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः ॥१६॥

अधार्मिको नरो यो हि यस्य चाप्यनृतं धनम् ।
हिंसारतश्च यो नित्यं नेहासौ सुखमेधते ॥१७॥[1]

अर्थः—मनुष्य जो-जो पराधीन कर्म हो उस-उस को प्रयत्न से सदा छोड़े । और जो-जो स्वाधीन कर्म हो उस-उस का सेवन प्रयत्न से किया करे ॥१५॥

क्योंकि जितना परवश होना है वह सब दुःख, और जितना स्वाधीन रहना है वह सब सुख कहाता है । यही संक्षेप से सुख और दुःख का लक्षण जानो ॥१६॥

जो अधार्मिक मनुष्य है, और जिसका अधर्म से संचित किया हुआ धन है, और जो सदा हिंसा में अर्थात् वैर में प्रवृत्त रहता है, वह इस लोक और परलोक अर्थात् परजन्म में सुख को कभी नहीं प्राप्त हो सकता ॥१७॥

नाधर्मश्चरितो लोके सद्यः फलति गौरिव ।
शनैरावर्त्तमानस्तु कर्तुर्मूलानि कृन्तति ॥१८॥

यदि नात्मनि पुत्रेषु न चेत् पुत्रेषु नप्तृषु ।
न त्वेवन्तु[2] कृतोऽधर्मः कर्त्तुर्भवति निष्फलः ॥१९॥

सत्यधर्मार्यवृत्तेषु शौचे चैवारमेत् सदा ।
शिष्यांश्च शिष्याद् धर्मेण वाग्बाहूदरसंयतः ॥२०॥[3]

अर्थः—मनुष्य निश्चय करके जाने कि इस संसार में जैसे गाय की सेवा का फल दूध आदि शीघ्र नहीं होता, वैसे ही किये हुये अधर्म का फल भी शीघ्र नहीं होता । किन्तु धीरे-धीरे अधर्म कर्त्ता के सुखों को रोकता हुआ सुख के मूलों को काट देता है । पश्चात् अधर्मी दुःख ही दुःख भोगता है ॥१८॥

---

१. मनु० ४।१५९, १६०, १७० ॥
२. मनु० के संवत् '१९२९ के काशी संस्करण में यही पाठ मिलता है ।
३. मनु० ४।१७२, १७३, १७५ ॥

यदि अधर्म का फल कर्त्ता की विद्यमानता में न हो तो पुत्रों, और पुत्रों के समय में न हो तो नातियों[1] के समय में अवश्य प्राप्त होता है। किन्तु यह कभी नहीं हो सकता कि कर्त्ता का किया हुआ कर्म निष्फल होवे ॥१९॥

इसलिये मनुष्यों को योग्य है कि सत्य धर्म और आर्य अर्थात् उत्तम पुरुषों के आचरणों, और भीतर बाहर की पवित्रता में सदा रमण करें। अपनी वाणी बाहू उदर को नियम और सत्यधर्म के साथ वर्त्तमान रखके शिष्यों को सदा शिक्षा किया करें ॥२०॥

परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ।
धर्मं चाप्यसुखोदर्कं लोकविक्रुष्टमेव च ॥२१॥

धर्मं शनैस्संचिनुयाद् वल्मीकमिव पुत्तिकाः।
परलोकसहायार्थं सर्वभूतान्यपीडयन् ॥२२॥

उत्तमैरुत्तमैर्नित्यं सम्बन्धानाचरेत् सह।
निनीषुः कुलमुत्कर्षमधमानधमांस्त्यजेत् ॥२३॥

वाच्यर्था नियताः सर्वे वाङ्मूला वाग्विनिःसृताः।
तान्तु[2] यः स्तेनयेद्वाचं स सर्वस्तेयकृन्नरः ॥२४॥[3]

स्वाध्यायेन जपैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः ॥२५॥ मनु०[4]॥

अर्थः—जो धर्म से वर्जित धनादि पदार्थ और काम हों, उनको सर्वथा शीघ्र छोड़ देवे। और जो धर्माभास अर्थात् उत्तरकाल में दुःखदायक कर्म हैं, और जो लोगों को निन्दित कर्म में प्रवृत्त करनेवाले कर्म हैं, उनसे भी दूर रहे ॥२१॥

जैसे दीमक धीरे-धीरे बड़े भारी घर को बना लेती है, वैसे

---

१. अर्थात् पौत्रों।

२. जौली के संस्करण में तथा सत्यार्थ-प्रकाश समु० ४ सं० २ में 'तान्तु' पाठ है। तां तु=तान्तु। ३. मनु० ४।१७६, २३८, २४४, २५६॥

४. मनु० २।२८॥ मनुस्मृति में 'व्रतैर्होमैः०' पाठ है। सत्यार्थ-प्रकाश समु० ३, पृष्ठ ७२ (रा० ला० क० ट्रस्ट सं०) में मनुवत् पाठ है, परन्तु स० प्र० समु० ४, पृष्ठ १२५ (रा० ला० क० ट्र० सं०) में संस्कारविधि के समान 'जपैर्होमैः' पाठ मिलता है।

मनुष्य परजन्म के सहाय के लिये सब प्राणियों को पीड़ा न देकर धर्म का संचय धीरे-धीरे किया करे ॥२२॥

जो मनुष्य अपने कुल को उत्तम करना चाहे, वह नीच-नीच पुरुषों का सम्बन्ध छोड़कर नित्य अच्छे-अच्छे पुरुषों से सम्बन्ध बढ़ाता जावे ॥२३॥

जिस वाणी में सब व्यवहार निश्चित, वाणी ही जिनका मूल, और जिस वाणी ही से सब व्यवहार सिद्ध होते हैं, जो मनुष्य उस वाणी को चोरता अर्थात् मिथ्याभाषण करता है, वह जानो सब चोरी आदि पाप ही को करता है। इसलिये मिथ्याभाषण को छोड़के सदा सत्यभाषण ही किया करे ॥२४॥

मनुष्यों को चाहिये कि धर्म से वेदादि शास्त्रों का पठन-पाठन, गायत्री-प्रणवादि का अर्थविचार, ध्यान, अग्निहोत्रादि होम, कर्मोपासना, ज्ञान-विद्या, पौर्णमास्यादि इष्टि, पञ्चमहायज्ञ, अग्निष्टोम आदि, न्याय से राज्यपालन, सत्योपदेश और योगाभ्यासादि उत्तम कर्मों से इस शरीर को ब्राह्मी अर्थात् ब्रह्मसम्बन्धी करें ।२५।

अथ सभा०[1]—जो-जो विशेष बड़े-बड़े काम हों जैसा कि राज्य, वे सब सभा से निश्चय करके किये जावें[2]। इसमें प्रमाण—

तं सभा च समितिश्च सेना च ॥१॥

अथर्व० कां० १५ । सू० ९ । मं० २ ॥

सभ्य सभां मे पाहि ये च सभ्याः सभासदः ॥२॥

अथर्व० कां० १९ । सू० ५५ । मं० ६ ॥[3]

---

१. संस्करण १८ तथा उससे अगले संस्करणों में 'अथ सभास्वरूपलक्षणम्' पाठ मिलता है। यहां '०' बिन्दु का निर्देश होने से पाठ की पूर्ति अभिप्रेत है, इतना तो स्पष्ट है।

२. संस्करण २२ तथा अगले संस्करणों में 'किया करें' पाठ है।

३. संस्कार-विधि संस्करण २-३ तक तथा २१ से अगले संस्करणों में यही पाठ है। स० प्र० सप्तु० ६ तथा ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पृष्ठ २५९ (रा०ला० क० ट्रस्ट सं०) में भी यही पाठ है। यह पाठ राथह्विटनी के संस्करणानुसार है। संस्करण ७ में पाण्डुरङ्ग के संस्करण के अनुसार पाठ और पते में परिवर्तन किया गया, जो २०वें संस्करण तक छपता रहा। यह परिवर्तित पाठ

त्रीणि राजाना विदथे पुरूणि परि विश्वानि भूषथः सदांसि ॥३॥ ऋ० मं० ३ । सू० ३८ । मं० ६ ॥

अर्थः—(तम्) जो कि संसार में धर्म के साथ राज्यपालनादि किया जाता है, उस व्यवहार को सभा और संग्राम तथा सेना सब प्रकार सचित करे ॥१॥

हे सभ्य सभा के योग्य सभापते राजन् ! तू (मे) मेरी (सभाम्) सभा की (पाहि) रक्षा और उन्नति किया कर। (यें च) और जो (सभ्याः) सभा के योग्य धार्मिक आप्त (सभासदः) सभासद् विद्वान् लोग हैं, वे भी सभा की योजना रक्षा और उससे सब की उन्नति किया करें ॥२॥

जो (राजाना) राजा और प्रजा के भद्र पुरुषों के दोनों समुदाय हैं, वे (विदथे) उत्तम ज्ञान और लाभदायक इस जगत् अथवा संग्रामादि कार्यों में (त्रीणि) राजसभा धर्मसभा और विद्यासभा, अर्थात् विद्यादि व्यवहारों की वृद्धि के लिये ये तीन प्रकार की (सदांसि) सभा नियत करें। इन्हीं से संसार की सब प्रकार उन्नति करें ॥ ३ ॥

अनाम्नातेषु धर्मेषु कथं स्यादिति चेद्भवेत् ।
यं शिष्टा ब्राह्मणा ब्रूयुस्स धर्मः स्यादशङ्कितः ॥१॥
धर्मेणाधिगतो यैस्तु वेदः सपरिबृंहणः ।
ते शिष्टा ब्राह्मणा ज्ञेयाः श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः ॥२॥[1]

अर्थः—हे गृहस्थ लोगो ! जो धर्मयुक्त व्यवहार मनुस्मृति आदि में प्रत्यक्ष न कहे हों, यदि उनमें शंका होवे तो तुम जिसको शिष्ट आप्त विद्वान् कहें, उसी को शंकारहित कर्त्तव्य धर्म मानो ॥ १ ॥

शिष्ट सब मनुष्यमात्र नहीं होते, किन्तु जिन्होंने पूर्ण ब्रह्मचर्य और धर्म से साङ्गोपाङ्ग वेद पढ़े हों, जो श्रुति प्रमाण और प्रत्यक्षादि प्रमाणों ही से विधि वा निषेध करने में समर्थ धार्मिक परोपकारी हों, वे ही शिष्ट पुरुष होते हैं ॥ २ ॥

अर्थ के भी विपरीत होने से त्याज्य है। वै० यं० अजमेर का छपा अथर्ववेद (संस्करण १-६ तक) पाण्डुरङ्ग संस्करण की प्रतिलिपि है।

१. मनु० १२।१०८,१०९ ॥

दशावरा वा परिषद् यं धर्मं परिकल्पयेत् ।
त्र्यवरा वापि वृत्तस्था तं धर्मं न विचालयेत् ॥३॥
त्रैविद्यो हैतुकस्तर्की नैरुक्तो धर्मपाठकः ।
त्रयश्चाश्रमिणः पूर्वे परिषत् स्याद् दशावरा ॥४॥
ऋग्वेदविद् यजुर्विच्च सामवेदविदेव च ।
त्र्यवरा परिषज्ज्ञेया धर्मसंशयनिर्णये ॥५॥
एकोऽपि वेदविद्धर्मं यं व्यवस्येद् द्विजोत्तमः ।
स विज्ञेयः परो धर्मो नाज्ञानामुदितोऽयुतैः ॥६॥[1]

अर्थः—वैसे शिष्ट न्यून से न्यून १० दश पुरुषों की सभा होवे, अथवा बड़े विद्वान् तीनों की भी सभा हो सकती है। जो सभा से धर्म-कर्म निश्चित हों, उनका भी[2] आचरण सब लोग करें ॥३॥

उन दशों में इस प्रकार के विद्वान् होवें—३तीन वेदों के विद्वान्, चौथा हैतुक अर्थात् कारण-अकारण का ज्ञाता, पांचवां तर्की=न्याय-शास्त्रवित्, छठा निरुक्त का जाननेहारा, सातवां धर्मशास्त्रवित्, आठवां ब्रह्मचारी, नववां गृहस्थ, और दशवां वानप्रस्थ । इन महात्माओं की सभा होवे ॥४॥

तथा ऋग्वेदवित् यजुर्वेदवित् और सामवेदवित् इन तीनों विद्वानों की भी सभा धर्मसंशय अर्थात् सब व्यवहारों के निर्णय के लिये होनी चाहिए। और जितने सभा में अधिक पुरुष हों, उतनी ही उत्तमता है ॥५॥

द्विजों में उत्तम अर्थात् चतुर्थाश्रमी संन्यासी अकेला भी जिस धर्मव्यवहार के करने का निश्चय करे, वही कर्त्तव्य परमधर्म समझना । किन्तु अज्ञानियों के सहस्रों लाखों और क्रोड़ह[3] पुरुषों का कहा हुआ धर्मव्यवहार कभी न मानना चाहिये । किन्तु धर्मात्मा विद्वानों और

---

१. मनु० १२।११०-११३ ॥

२. वेद वा मनुस्मृत्युक्त वर्णाश्रम धर्म तो आचरणीय हैं ही, उनके साथ उक्त सभा द्वारा प्रतिपादित धर्म भी आचरणीय है। इस बात का संकेत 'भी' शब्द से किया है ।

३. 'क्रोडह' संस्करण ३ में, 'क्रोड़ों' संस्करण ४ से १७ तक, 'करोड़ों' संस्करण १८ में तथा आगे ।

विशेष परमविद्वान् संन्यासी का वेदादि प्रमाणों से कहा हुआ धर्म सब को मानने योग्य है ।। ६ ।।

यदि सभा में मतभेद हो, तो बहुपक्षानुसार मानना, और समपक्ष में उत्तमों की बात स्वीकार करनी । और दोनों पक्षवाले बराबर उत्तम हों, तो वहां संन्यासियों की सम्मति लेनी । जिधर पक्षपातरहित सर्वहितैषी संन्यासियों की सम्मति होवे, वही उत्तम समझनी चाहिये ।

चतुर्भिरपि चैवैतैर्नित्यमाश्रमिभिर्द्विजैः ।
दशलक्षणको धर्मस्सेवितव्यः प्रयत्नतः ।।७।।

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ।।८।। मनु०[1] ।।

अर्थः—ब्रह्मचारी गृहस्थ वानप्रस्थ संन्यासी आदि सब मनुष्यों को योग्य है कि निम्नलिखित धर्म का सेवन, और उस से विरुद्ध अधर्म का त्याग प्रयत्न से किया करें ।।७।।

धर्म न्याय नाम पक्षपात छोड़कर सत्य ही का आचरण और असत्य का सर्वदा परित्याग रखना । इस धर्म के ग्यारह लक्षण[2] हैं— (अहिंसा) किसी से वैर-बुद्धि करके उसके अनिष्ट करने में कभी न वर्तना । (धृतिः) सुख-दुःख हानि-लाभ में भी व्याकुल होकर धर्म को न छोड़ना, किन्तु धैर्य से धर्म ही में स्थिर रहना ।(क्षमा) निन्दा-स्तुति मानापमान का सहन करके धर्म ही करना । (दमः) मन को अधर्म से सदा हटाकर धर्म ही में प्रवृत्त रखना । (अस्तेयम्) मन कर्म वचन से अन्याय और अधर्म से पराये द्रव्य का स्वीकार न करना । (शौचम्) रागद्वेषादि त्याग से आत्मा और मन को पवित्र,

---

१. मनु० ६।९१,९३ ।।

२. श्लोक में १० लक्षणों का विधान है । सत्यार्थ-प्रकाश समु० ५ में भी इस श्लोक के व्याख्यान में १० लक्षणों का ही विधान है । परन्तु यहां श्लोकोक्त १० लक्षणों में 'अहिंसा' को और जोड़कर ११ संख्या लिखी है । सत्यार्थ-प्रकाश प्रथम संस्करण (सं० १९३२) में पृष्ठ १६६, तथा संस्कार-विधि सं० १ पुष्ठ १३७ पर इस श्लोक की व्याख्या में अहिंसा को मिलाकर ११ लक्षण ही गिनाये हैं । पूना प्रवचन=उपदेशमञ्जरी के तृतीय प्रवचन पृष्ठ १४-१७ (रामलाल कपूर ट्र० सं०) में भी 'अहिंसा' को मिलाकर धर्म के ११ लक्षण दर्शाये हैं ।

और जलादि से शरीर को शुद्ध रखना। (इन्द्रियनिग्रहः) श्रोत्रादि बाह्य इन्द्रियों को अधर्म से हटाके धर्म में ही चलाना। (धीः) वेदादि सत्य-विद्या ब्रह्मचर्य सत्सङ्ग करने, और कुसङ्ग दुर्व्यसन मद्यपानादि त्याग से बुद्धि को सदा बढ़ाते रहना। (विद्या) जिससे भूमि से लेके परमेश्वर-पर्यन्त का यथार्थ बोध होता है, उस विद्या को प्राप्त होना। (सत्यम्) सत्य मानना सत्य बोलना सत्य करना। (अक्रोधः) क्रोधादि दोषों को छोड़कर शान्त्यादि गुणों का ग्रहण करना धर्म कहाता है, इस का ग्रहण। और अन्याय पक्षपात-सहित आचरण अधर्म, जो कि हिंसा=वैर बुद्धि, अधैर्य, असहन, मन को अधर्म में चलाना, चोरी करना, अप-वित्र रहना, इन्द्रियों को न जीत कर अधर्म में चलाना, कुसंग दुर्व्यसन मद्यपानादि से बुद्धि का नाश करना, अविद्या जो कि अधर्माचरण अज्ञान है उसमें फंसना, असत्य मानना असत्य बोलना, क्रोधादि दोषों में फसकर अधर्मी दुष्टाचारी होना, ये ग्यारह[1] अधर्म के लक्षण हैं। इन से सदा दूर रहना चाहिये ॥ ८ ॥

न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा, न ते वृद्धा ये न वदन्ति धर्मम्।
नासौ धर्मो यत्र न सत्यमस्ति, न तत् सत्यं यच्छलेनाभ्युपेतम् ॥९॥
महाभारते०[2] ॥

सभां वा न प्रवेष्टव्यं वक्तव्यं वा समञ्जसम्।
अब्रुवन् विब्रुवन् वापि नरो भवति किल्विषी ॥१०॥

---

१. हिंसा, अधैर्य, असहन, मन को अधर्म में चलाना, चोरी करना, अपवित्र रहना, इन्द्रियों को न जीतना, बुद्धिनाश, अविद्या, असत्यभाषण, क्रोध करना, ये क्रमशः अहिंसा धृति आदि धर्म से विपरीत हैं। सत्यार्थप्रकाश प्रथम संस्करण (सं० १९३२) में पृष्ठ १७० पर भी ११ अधर्म के लक्षण लिखे हैं। उन में पहला हिंसा='वैरबुद्धि' है, और अगले १० मनु० १२।५-७ के अनुसार 'पर द्रव्यों का अभिध्यान, मनसा अनिष्ट-चिन्तन, वितथाभिनिवेश, पारुष्य, अनृत, पैशुन्य, असंबद्ध प्रलाप, अदत्त को ग्रहण करना, हिंसा (पशुहनन), परदारोपसेवा' गिनाये हैं। पूना प्रवचन के तृतीय प्रवचन पृष्ठ १८, १९ (रा. ला. कपूर ट्र.सं.) में धर्म के ११ लक्षणों के अनन्तर मनु० १२।५-७ उद्धृत करके अधर्म के १० लक्षण बताये हैं।

२. सं० १७ तक ऐसा ही पाठ है। संस्करण १८ में बिन्दु हटाकर 'विदुर प्रजागर पर्व' पाठ बनाया है। महा० उद्योगपर्व अ० ३५, श्लोक ५८॥

धर्मो विद्धस्त्वधर्मेण सभां यत्रोपतिष्ठते ।
शल्यं चास्य न कृन्तन्ति विद्धास्तत्र सभासदः ॥११॥[1]

विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः ।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तन्निबोधत ॥१२॥[2]

[अर्थः—] वह सभा नहीं है जिसमें वृद्ध पुरुष न होवें, वे वृद्ध नहीं हैं जो धर्म ही की बात नहीं बोलते । वह धर्म नहीं है जिसमें सत्य नही, और न वह सत्य है जो कि छल से युक्त हो ॥९॥

मनुष्य को योग्य है कि सभा में प्रवेश न करे, यदि सभा में प्रवेश करे तो सत्य ही बोले । यदि सभा में बैठा हुआ भी असत्य बात को सुनके मौन रहे अथवा सत्य के विरुद्ध बोले, वह मनुष्य अतिपापी है ॥१०॥

अधर्म से धर्म घायल होकर जिस सभा में प्राप्त होवे, उस के घाव को यदि सभासद् न पूर देवें, तो निश्चय जानो कि उस सभा में सब सभासद् ही घायल पड़े हैं ॥११॥

जिसको सत्पुरुष राग-द्वेष-रहित विद्वान् अपने हृदय से अनुकूल जानकर सेवन करते हैं, उसी पूर्वोक्त को तुम लोग धर्म जानो ॥१२॥

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः ।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतोऽवधीत् ॥१३॥

वृषो हि भगवान् धर्मस्तस्य यः कुरुते ह्यलम् ।
वृषलं तं विदुर्देवास्तस्माद् धर्मं न लोपयेत् ॥१४॥[3]

[अर्थः—] जो पुरुष धर्म का नाश करता है उसी का नाश धर्म कर देता है । और जो धर्म की रक्षा करता है, उसकी धर्म भी रक्षा करता है । इसलिये मारा हुआ धर्म कभी हम को न मार डाले, इस भय से धर्म का हनन अर्थात् त्याग कभी न करना चाहिये ॥१३॥

जो सुख की वृष्टि करनेहारा सब ऐश्वर्य का दाता धर्म है, उस का जो लोप करता है उसको विद्वान् लोग वृषल अर्थात् नीच समझते हैं [इसलिये किसी मनुष्य को धर्म का लोप करना उचित नहीं][4] ॥१४॥

---

१. मनु० ८।१३,१२॥ २. मनु०, २।१॥ ३. मनु० ८।१५,१६॥
४. द्र०--सत्यार्थप्रकाश समु० ६ पृ० २४१ पं० ७ (रा०ला०क०ट्र०सं०)।

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्,
धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः ।
धर्मो नित्यः सुखदुःखे त्वनित्ये,
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः ॥१५॥ महाभारते[1] ॥

यत्र धर्मो ह्यधर्मेण सत्यं यत्रानृतेन च ।
हन्यते प्रेक्षमाणानां हतास्तत्र सभासदः ॥१६॥ मनु[2]० ॥

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु,
लक्ष्मीस्समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम् ।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा,
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः ॥१७॥ भर्तृहरिः[3] ॥

अर्थः—मनुष्यों को योग्य है कि काम से अर्थात् झूठ से कामना सिद्ध होने के कारण से, वा निन्दा स्तुति आदि के भय से भी धर्म का त्याग कभी न करें, और न लोभ से । चाहे झूठ अधर्म से चक्रवर्ती राज्य भी मिलता हो, तथापि धर्म को छोड़कर चक्रवर्ती राज्य को भी ग्रहण न करें । चाहे भोजन-छादन जलपान आदि की जीविका भी अधर्म से हो सके वा प्राण जाते हों, परन्तु जीविका के लिये भी धर्म को कभी न छोड़ें । क्योंकि जीव और धर्म नित्य हैं तथा सुख दुःख दोनों अनित्य हैं । अनित्य के लिये नित्य का छोड़ना अतीव दुष्ट कर्म है । इस धर्म का हेतु कि जिस शरीर आदि से धर्म होता है, वह भी अनित्य है । धन्य वे मनुष्य हैं, जो अनित्य शरीर और सुख-दुःखादि के व्यवहार में वर्तमान होकर नित्य धर्म का त्याग कभी नहीं करते ॥१५॥

जिस सभा में बैठे हुए सभासदों के सामने अधर्म से धर्म और झूठ से सत्य का हनन होता है, उस सभा में सब सभासद् मरे से ही हैं ॥१६॥

सब मनुष्यों को यह निश्चय जानना चाहिये कि—चाहे सांसारिक अपने प्रयोजन की नीति में वर्त्तनेहारे चतुर पुरुष निन्दा करें वा स्तुति

---

१. महाभारत उद्योगपर्व अ० ४० में श्लोक ११,१२ का पाठ इस प्रकार है—'न जातु कामान्न भयान्न लोभाद् धर्मं जह्याज्जीवितस्यापि हेतोः । नित्यो धर्मः सुखदुःखे ···।' सत्यार्थप्रकाश स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश (पृष्ठ ९२० रा० ला० क० ट्र० सं०) में संस्कारविधि के समान ही पाठ है ।

२. मनु० ८।१४ ॥ ३. नीतिशतक ७४, निर्णयसागर संस्करण ॥

करें, लक्ष्मी प्राप्त होवे अथवा नष्ट हो जावे, आज ही मरण होवे अथवा वर्षान्तर[1] में मृत्यु प्राप्त होवे, तथापि जो मनुष्य धर्मयुक्त मार्ग से एक पग भी विरुद्ध नहीं चलते, वे ही धीर पुरुष धन्य हैं ॥१७॥

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम् ।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥१॥

ऋ० मं० १० । सू० १९१ । मं० २॥

दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः ।
अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्रद्धाꣳ सत्ये प्रजापतिः ॥२॥

यजु० अ० १९। मं० ७७॥

सह नाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै ।
तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै । ओं शान्तिश्शान्तिश्शान्तिः ॥३॥ तै० [आर०] अष्टमप्रपाठकः । प्रथमानुवाकः ॥

अर्थः—हे गृहस्थादि मनुष्यो ! तुमको मैं ईश्वर आज्ञा देता हूं कि (यथा) जैसे (पूर्वे) प्रथम अधीतविद्यायोगाभ्यासी, (संजानानाः) सम्यक् जाननेवाले, (देवाः) विद्वान् लोग मिलके (भागम्) सत्य असत्य का निर्णय करके असत्य को छोड़ सत्य को (उपासते) उपासना करते हैं, वैसे (सं जानताम्) आत्मा से धर्माऽधर्म प्रियाऽप्रिय को सम्यक् जाननेहारे (वः) तुम्हारे (मनांसि) मन एक-दूसरे से अविरोधी होकर एक पूर्वोक्त धर्म में सम्मत होवें । और तुम उसी धर्म को (संगच्छध्वम्) सम्यक् मिलके प्राप्त होओ, जिसमें तुम्हारी एक सम्मति होती है । और विरुद्धवाद अधर्म को छोड़के (सवदध्वम्) सम्यक् संवाद प्रश्नोत्तर प्रीति से करके एक दूसरे की उन्नति किया करो ॥१॥

(प्रजापतिः) सकल सृष्टि की उत्पत्ति और पालन करनेहारा,

---

१. युग का अर्थ यहां 'वर्ष' किया है । युग पांच बारह और साठ वर्षों का भी होता है । यहां तात्पर्य 'अद्यैव' के विपरीत्त चिरकालान्तर रूप गौणार्थ से है । अतः 'आज' के विपरीत वर्षान्तर काल भी युग शब्द द्वारा गौणी वृत्ति से कहा जा सकता है ।

सर्वव्यापक सर्वज्ञ न्यायकारी अद्वितीय स्वामी परमात्मा (सत्यानृते) सत्य और अनृत (रूपे) भिन्न-भिन्न स्वरूपवाले धर्म-अधर्म को (दृष्ट्वा) अपनी सर्वज्ञता से यथावत् देखके (व्याकरोत्) भिन्न-भिन्न निश्चित करता है। (अनृते) मिथ्या-भाषणादि अधर्म में (अश्रद्धाम्) अप्रीति को[1], और (प्रजापतिः) वही परमात्मा (सत्ये) सत्यभाषणादि लक्षणयुक्त न्याय पक्षपातरहित धर्म में तुम्हारी (श्रद्धाम्) प्रीति को (अदधात्) धारण कराता है, वैसा ही तुम करो।२।

हम स्त्री-पुरुष सेवक-स्वामी मित्र-मित्र पिता-पुत्रादि (सह) मिलके (नौ) हम दोनों प्रीति से (अवतु) एक-दूसरे की रक्षा किया करें। और (सह) प्रीति से मिलके एक-दूसरे के (वीर्यम्) पराक्रम की बढ़ती (करवावहै) सदा किया करे। (नौ) हमारा (अधीतम्) पढ़ा-पढ़ाया (तेजस्वि) अतिप्रकाशमान (अस्तु) होवे। और हम एक-दूसरे से (मा विद्विषावहै) कभी विद्वेष विरोध न करें, किन्तु सदा मित्र-भाव और एक-दूसरे के साथ सत्य प्रेम से वर्तकर सब गृहस्थों के सद्व्यवहारों को बढ़ाते हुए सदा आनन्द में बढ़ते जावें। जिस परमात्मा का यह 'ओम्' नाम है, उसकी कृपा और अपने धर्मयुक्त पुरुषार्थ से हमारे शरीर मन और आत्मा का त्रिविध दुःख, जो कि अपने और दूसरे से होता है, नष्ट हो जावे। और हम लोग प्रीति से एक-दूसरे के साथ वर्तके धर्म अर्थ काम और मोक्ष की सिद्धि में सफल होके सदैव स्वयं आनन्द में रहकर सबको आनन्द में रक्खें ।।३।।

इति गृहाश्रमसंस्कारविधिः समाप्तः ।।



---

१. 'करो' पाठ संस्करण २ से छपता चला आ रहा है।

अथ वानप्रस्थसंस्कारविधिं वक्ष्यामः

'वानप्रस्थ' संस्कार' उसको कहते हैं, जो विवाह से सन्तानोत्पत्ति करके पूर्ण ब्रह्मचर्य से पुत्र भी विवाह करे, और पुत्र का भी एक सन्तान हो जाय। अर्थात् जब पुत्र का भी पुत्र हो जावे, तब पुरुष वानप्रस्थाश्रम अर्थात् वन में जाकर निम्नलिखित सब बातें करे।

अत्र प्रमाणानि—

ब्रह्मचर्याश्रमं समाप्य गृही भवेद् गृही भूत्वा वनी भवेद् वनी भूत्वा प्रव्रजेत् ।।१।। शतपथब्राह्मणे[1] ।।

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम् ।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते ।।२।।

यजु० अ० १९ । मं० ३० ।।

---

१. सत्यार्थ-प्रकाश समु० ५ में 'शत० कां० १४;' और सत्यार्थप्रकाश संस्करण १ (सं० १९३२)समु० ५ पृष्ठ १५४ में 'यह बृहदारण्यक श्रुति है'; संस्कार-विधि संस्करण १ (सं० १९३२)पृष्ठ १३० में 'इति शतपथब्राह्मणादि-प्रमाणानि' पाठ है। परन्तु यह वचन जाबालोपनिषद् खण्ड ४ में इस प्रकार उपलब्ध होता है—'स होवाच याज्ञवल्क्यो ब्रह्मचर्यं परिसमाप्य गृही भवेद् गृही भूत्वा वनी भवेद् वनी भूत्वा प्रव्रजेत्।' जाबालशाखा याज्ञवल्क्यप्रोक्त वाजसनेय-संहिता(शुक्ल यजुर्वेद) की है। अतः उसका जाबालब्राह्मण भी माध्यन्दिन और काण्व के समान मूलतः याज्ञवल्क्यप्रोक्त है, और शतपथ नाम से वाच्य है (काण्व ब्राह्मण में १०४ अ० होने पर भी शतपथ ही कहाता है)। जाबालोपनिषद् उसी शतपथ के अन्तर्गत बृहदारण्यक का एक अंश हो सकती है। इस प्रकार ग्रन्थकार का इस वचन के लिये शतपथ अथवा बृहदारण्यक शब्द का प्रयोग ठीक है। संस्कार-विधि के १७ वें संस्करण तक 'शतपथब्राह्मणे' ही पाठ था। संस्करण १८ में 'जाबालोप०' पाठ बनाया गया। यही परिवर्तित पाठ आगे सं० २४ तक छपता रहा, २५ वें पुनः शुद्ध किया।

अर्थः—मनुष्यों को उचित है[1] कि ब्रह्मचर्याश्रम की समाप्ति करके गृहस्थ होवें। गृहस्थ होके वनी अर्थात् वानप्रस्थ होवें, और वानप्रस्थ होके संन्यास ग्रहण करें ॥१॥

जब मनुष्य ब्रह्मचर्यादि तथा सत्यभाषणादि व्रत अर्थात् नियम धारण करता है, तब उस (व्रतेन) व्रत से उत्तम प्रतिष्ठारूप (दीक्षाम्) दीक्षा को (आप्नोति) प्राप्त होता है। (दीक्षया) ब्रह्मचर्यादि आश्रमों के नियम पालन से (दक्षिणाम्) सत्कारपूर्वक धनादि को (आप्नोति) प्राप्त होता है। (दक्षिणा) उस सत्कार से (श्रद्धाम्) सत्य-धारण में प्रीति को (आप्नोति) प्राप्त होता है। और (श्रद्धया) सत्य धार्मिक जनों में प्रीति से (सत्यम्) सत्य विज्ञान वा सत्य पदार्थ मनुष्य को (आप्यते) प्राप्त होता है। इसलिये श्रद्धापूर्वक ब्रह्मचर्य और गृहाश्रम का अनुष्ठान करके वानप्रस्थ आश्रम अवश्य करना चाहिये ॥२॥

अभ्यादधामि समिधमग्ने व्रतपते त्वयि।
व्रतञ्च श्रद्धां चोपैमीन्धे त्वा दीक्षितोऽअहम् ॥३॥

यजु० अ० २० । मं० २४ ॥

आ नयैतमा रभस्व सुकृतां लोकमपि गच्छतु प्रजानन्।
तीर्त्वा तमांसि बहुधा महान्त्यजो नाकमा क्रमतां तृतीयम् ॥४।

अथर्व० कां० ९ । सू० ५ । मं० १ ॥

अर्थः—हे (व्रतपते अग्ने) नियमपालकेश्वर ! (दीक्षितः) दीक्षा को प्राप्त होता हुआ (अहम्) मैं (त्वयि) तुझ में स्थिर होके (व्रतम्) ब्रह्मचर्यादि आश्रमों का धारण (च) और उसकी सामग्री, (श्रद्धाम्) सत्य की धारणा को (च) और उसके उपायों को (उपैमि) प्राप्त होता हूं। इसीलिये अग्नि में जैसे (समिधम्) समिधा को (अभ्यादधामि) धारण करता हूं, वैसे विद्या और व्रत को धारण कर प्रज्वलित करता हूं। और वैसे ही (त्वा) तुझको अपने आत्मा में धारण करता, और सदा (ईन्धे) प्रकाशित करता हूं ॥३॥

---

1. संस्करण ३ से २१ तक 'चाहिये' पाठ है। संस्करण २ में 'उचित है' पाठ है। संस्करण २२ तथा उस से आगे यही पाठ छप रहा है।

हे गृहस्थ ! (प्रजानन्) प्रकर्षता से जानता हुआ तू (एतम्) इस वानप्रस्थाश्रम का (आरभस्व) आरम्भ कर, (आनय) अपने मन को गृहाश्रम से इधर की ओर ला। (सुकृताम्) पुण्यात्माओं के (लोकमपि) देखने योग्य वानप्रस्थाश्रम को भी (गच्छतु) प्राप्त हो। (बहुधा) बहुत प्रकार के (महान्ति) बड़े-बड़े (तमांसि) अज्ञान दुःख आदि संसार के मोहों को (तीर्त्वा) तरके अर्थात् पृथक् होकर (अजः) अपने आत्मा को अजर-अमर जान (तृतीयम्) तीसरे (नाकम्) दुःख-रहित वानप्रस्थाश्रम को (आक्रमताम्) आक्रमण अर्थात् रीति-पूर्वक आरूढ हो ॥४॥

भद्रमिच्छन्त ऋषयस्स्वर्विदस्तपो दीक्षामुपनिषेदुरग्रे ।
ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं तदस्मै देवा उपसंनमन्तु ॥५॥
अथर्व० कां० १९ । सू० ४१ । मं० १ ॥

मा नो मेधां मा नो दीक्षां मा नो हिंसिष्टं यत्तपः ।
शिवा नः सन्त्वायुषे[1] शिवा भवन्तु मातरः ॥६॥
अथर्व० कां० १९ । सू० ४० । मं० ३ ॥

अर्थः—हे विद्वान् मनुष्यो ! जैसे (स्वर्विदः)[2] सुख को प्राप्त होने-वाले (ऋषयः) विद्वान् लोग (अग्रे) प्रथम (दीक्षाम्) ब्रह्मचर्यादि आश्रमों की दीक्षा उपदेश लेके (तपः) प्राणायाम और विद्याध्ययन जितेन्द्रियत्वादि शुभ लक्षणों को (उप निषेदुः) प्राप्त होकर अनुष्ठान करते हैं, वैसे इस (भद्रम्) कल्याणकारक वानप्रस्थाश्रम की (इच्छन्तः) इच्छा करो। जैसे राजकुमार ब्रह्मचर्याश्रम को करके (ततः) तदनन्तर (ओजः) पराक्रम (च) और (बलम्) बल को प्राप्त होके (जातम्) प्रसिद्ध प्राप्त हुए (राष्ट्रम्) राज्य की इच्छा और रक्षा करते हैं, और (अस्मै) न्यायकारी धार्मिक विद्वान् राजा को (देवाः)

---

१. यह पाठ संस्करण १-४ तक मिलता है। ७वें संस्करण में 'शिवा नः शं सन्त्वायुषे' पाठ बनाया गया, और वही आगे सं० २४ तक छपता रहा (२५ वें में पुनः शुद्ध किया)। ग्रन्थकार का मूल पाठ राथह्विटनी संस्करण के अनुसार है। इस चरण के अधिकांश पाठान्तर भी राथह्विटनी संस्करण के पाठ का ही अनुमोदन करते हैं।

२. स्वर्विदः विद्लृ लाभे का रूप।

विद्वान् लोग नमन करते हैं, (तत्) वैसे सब लोग वानप्रस्थाश्रम को किये हुए आप को (उप सं नमन्तु) समीप प्राप्त होके नम्र होवें ॥५॥

सम्बन्धी जन (नः) हम वानप्रस्थाश्रमस्थों की (मेधाम्) प्रज्ञा को (मा हिंसिष्ट) नष्ट मत करे। (नः)हमारी (दीक्षाम्)दीक्षा को (मा) मत। और (नः) हमारा (यत्) जो (तपः) प्राणायामादि उत्तम तप है उसको भी (मा) मत नाश करे। (नः) हमारी दीक्षा और (आयुषे) जीवन के लिये सब प्रजा (शिवाः) कल्याण करनेहारी (सन्तु) होवें। जैसे हमारी (मातरः) माता पितामही प्रपितामही आदि (शिवाः) कल्याण करनेहारी होती हैं, वैसे सब लोग प्रसन्न होकर मुझ को वानप्रस्थाश्रम की अनुमति देनेहारे (भवन्तु) होवें ॥६॥

तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्त्या[1] विद्वांसो भैक्ष्यचर्याञ्चरन्तः ।
सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा ॥७॥
मुण्डकोपनि० खं० । मं० ७॥[2]

अर्थः—हे मनुष्यो ! (ये) जो(विद्वांसः) विद्वान् लोग (अरण्ये) जंगल में (शान्त्या) शान्ति के साथ (तपःश्रद्धे) योगाभ्यास और परमात्मा में प्रीति करके (उपवसन्ति) वनवासियों के समीप वसते हैं, और (भैक्ष्यचर्याम्) भिक्षाचरण को (चरन्तः) करते हुए जंगल में निवास करते हैं, (ते) वे (हि) ही (विरजाः) निर्दोष-निष्पाप निर्मल होके (सूर्यद्वारेण) प्राण के द्वारा (यत्र) जहां (सः) सो (अमृतः) मरण-जन्म से पृथक् (अव्ययात्मा) नाशरहित (पुरुषः) पूर्ण परमात्मा विराजमान है, (हि) वहीं (प्रयान्ति) जाते हैं। इसलिये वानप्रस्थाश्रम करना अति उत्तम है ॥७॥

एवं गृहाश्रमे स्थित्वा विधिवत् स्नातको द्विजः ।
वने वसेत्तु नियतो यथावद् विजितेन्द्रियः ॥१॥

---

१. मुण्डकोपनिषद् में 'शान्ता' पाठ मिलता है। सत्यार्थ-प्रकाश समु० ५ संस्करण २ में भी 'शान्ता' पाठ ही है, और तदनुसार ही अर्थ भी किया है ।

२. मु० १, खं० २, मं० ११ ॥ सत्यार्थ-प्रकाश संस्करण २ में छपा 'खं० २ । मं० ११ ॥' पता ठीक है ।

गृहस्थस्तु यदा पश्येद् वलीपलितमात्मनः ।
अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत् ॥२॥

सन्त्यज्य ग्राम्यमाहारं सर्वञ्चैव परिच्छदम् ।
पुत्रेषु भार्यां निक्षिप्य वनं गच्छेत् सहैव वा ॥३॥[1]

अर्थः—पूर्वोक्त प्रकार विधिपूर्वक ब्रह्मचर्य से पूर्ण विद्या पढ़के समावर्तन के समय स्नानविधि करनेहारा द्विज=ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य जितेन्द्रिय जितात्मा होके यथावत् गृहाश्रम करके वन में वसे ॥१॥

गृहस्थ लोग जब अपने देह का चमड़ा ढीला और श्वेत केश होते हुए देखें, और पुत्र का भी पुत्र हो जाय, तब वन का आश्रय लेवें ॥२॥

जब वानप्रस्थाश्रम की दीक्षा लेवें, तब ग्रामों में उत्पन्न हुए पदार्थों का आहार और घर के सब पदार्थों को छोड़के पुत्रों में अपनी पत्नी को छोड़ अथवा संग में लेके वन को जावें ॥३॥

अग्निहोत्रं समादाय गृह्यं चाग्निपरिच्छदम् ।
ग्रामादरण्यं निःसृत्य निवसेन्नियतेन्द्रियः ॥४॥[2]

अर्थः—जब गृहस्थ वानप्रस्थ होने की इच्छा करे, तब अग्निहोत्र को सामग्री-सहित लेके ग्राम में निकल जंगल में जितेन्द्रिय होकर निवास करे ॥४॥

स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद्दान्तो मैत्रः समाहितः ।
दाता नित्यमनादाता सर्वभूतानुकम्पकः ॥५॥

तापसेष्वेव विप्रेषु यात्रिकं भैक्ष्यमाहरेत् ।
गृहमेधिषु चान्येषु द्विजेषु वनवासिषु ॥६॥

एताश्चान्याश्च सेवेत दीक्षा विप्रो वने वसन् ।
विविधाश्चौपनिषदीरात्मसंसिद्धये श्रुतीः ॥७॥

मनु० अ० ६ ॥[3]

अर्थः—वहां जङ्गल में वेदादि शास्त्रों को पढ़ने-पढ़ाने में नित्य युक्त, मन और इन्द्रियों को जीतकर यदि स्वस्त्री भी समीप हो तथापि

---

१. मनु० ६।१-३॥ २. मनु० ६।४॥
३. मनु० ६।८, २७, २९ ॥

उससे सेवा के सिवाय विषय-सेवन अर्थात् प्रसङ्ग कभी न करे। सब से मित्रभाव, सावधान, नित्य देनेहारा, और किसी से कुछ भी न लेवे। सब प्राणीमात्र पर अनुकम्पा=कृपा करनेहारा होवे ॥५॥

जो जङ्गल में पढ़ाने और योगाभ्यास करनेहारे तपस्वी धर्मात्मा विद्वान् लोग रहते हों, जो कि गृहस्थ वा वानप्रस्थ वनवासी हों, उनके घरों में से भिक्षा ग्रहण करे ॥६॥

और इस प्रकार वन में वसता हुआ इन और अन्य दीक्षाओं का सेवन करे। और आत्मा तथा परमात्मा के ज्ञान के लिये नाना प्रकार की उपनिषद् अर्थात् ज्ञान और उपासना-विधायक श्रुतियों के अर्थों का विचार किया करे। इसी प्रकार जब तक संन्यास करने की इच्छा न हो, तब तक वानप्रस्थ ही रहे ॥७॥

अथ विधिः—वानप्रस्थाश्रम करने का समय ५० वर्ष के उपरान्त है। जब पुत्र का भी पुत्र हो जावे, तब अपनी स्त्री पुत्र भाई-बन्धु पुत्रवधू आदि को सब गृहाश्रम की शिक्षा करके वन की ओर यात्रा की तय्यारी करे। यदि स्त्री चले तो साथ ले जावे, नहीं तो ज्येष्ठ पुत्र को सौंप जावे कि इसकी सेवा यथावत् किया करना। और अपनी पत्नी को शिक्षा कर जावे कि तू सदा पुत्र आदि को धर्ममार्ग में चलने के लिये और अधर्म से हटाने के लिये शिक्षा करती रहना।

तत्पश्चात् पृष्ठ १९-२० में लिखे प्रमाणे यज्ञशाला वेदी आदि सब बनावे। पृष्ठ २०-२१ में लिखे प्रमाणे घृत आदि सब सामग्री जोड़के पृष्ठ ३०-३१ में लिखे प्रमाणे (**ओं भूर्भुवः स्वर्द्यौः०**) इस मन्त्र से अग्न्याधान, और (**अयन्त इध्म०**) इत्यादि मन्त्रों से समिदाधान करके, पृष्ठ ३२ में लिखे प्रमाणे (**ओम् अदितेऽनुमन्यस्व**) इत्यादि ४ चार मन्त्रों से कुण्ड के चारों ओर जलप्रोक्षण करके, पृष्ठ ३३-३४ में लिखे प्रमाणे **आघारावाज्यभागाहुति**[1] ४ चार[2] और व्याहृति[3] आज्याहुति ४ चार करके, पृष्ठ ११-१८ में लिखे प्रमाणे

---

१. 'अग्नये स्वाहा' आदि चार मन्त्रों से।

२. 'चार' पद संस्करण ६ से १८ तक नहीं मिलता।

३. भूरग्नये स्वाहा' आदि चार मन्त्रों से।

स्वस्तिवाचन और शान्तिकरण करके[1], स्थालीपाक बनाकर और[2] उस पर घृत सेचन कर निम्नलिखित मन्त्रों से आहुति देवे—

ओं काय स्वाहा । कस्मै स्वाहा । कतमस्मै स्वाहा ।
आधिमाधीताय स्वाहा । मनः प्रजापतये स्वाहा ।
चित्तं विज्ञातायादित्यै स्वाहा । अदित्यै मह्यै स्वाहा ।
अदित्यै सुमृडीकायै स्वाहा । सरस्वत्यै स्वाहा ।
सरस्वत्यै पावकायै स्वाहा । सरस्वत्यै बृहत्यै स्वाहा ।
पूष्णे स्वाहा । पूष्णे प्रपथ्याय स्वाहा । पूष्णे नरन्धिषाय स्वाहा ।
त्वष्ट्रे स्वाहा । त्वष्ट्रे तुरीपाय स्वाहा ।
त्वष्ट्रे पुरुरूपाय स्वाहा* । भुवनस्य पतये स्वाहा ।
अधिपतये स्वाहा । प्रजापतये स्वाहा§ ।
ओम् आयुर्यज्ञेन कल्पताँ स्वाहा । प्राणो यज्ञेन कल्पताँ स्वाहा ।
अपानो यज्ञेन कल्पताँ स्वाहा । व्यानो यज्ञेन कल्पताँ स्वाहा ।
उदानो यज्ञेन कल्पताँ स्वाहा । समानो यज्ञेन कल्पताँ स्वाहा ।
चक्षुर्यज्ञेन कल्पताँ स्वाहा । श्रोत्रं यज्ञेन कल्पताँ स्वाहा ।
वाग्यज्ञेन कल्पताँ स्वाहा । मनो यज्ञेन कल्पताँ स्वाहा ।
आत्मा यज्ञेन कल्पताँ स्वाहा । ब्रह्मा यज्ञेन कल्पताँ स्वाहा ।
ज्योतिर्यज्ञेन कल्पताँ स्वाहा । स्वर्यज्ञेन कल्पताँ स्वाहा ।
पृष्ठं यज्ञेन कल्पताँ स्वाहा । यज्ञो यज्ञेन कल्पताँ स्वाहा ।†

*यजु० अ० २२ । म० २० ।। द०स०
§यजु० अ० २२ । मं० ३२।। द०स०
†यजुः अ० २२ । मं० ३३ ।। द० स०

१. स्वस्तिवाचन शान्तिकरण का पाठ अग्न्याधान से पूर्व होना चाहिये । आगे संन्यास प्रकरण में भी ऐसी ही पाठ की अव्यवस्था है ।

२. 'और' पद संस्करण ७ में मुद्रण में छूटा और २४वें संस्करण तक छूट रहा है ।

एकस्मै स्वाहा । द्वाभ्यां स्वाहा । शताय स्वाहा । एकशताय स्वाहा । व्युष्ट्यै स्वाहा । स्वर्गाय स्वाहा‡ ॥

इन मन्त्रों से एक-एक करके ४३ स्थालीपाक की आज्याहुति देके, पुनः पृष्ठ ३४ में लिखे प्रमाणे व्याहृति[1] आहुति ४ चार देकर, पृष्ठ ३८-३९ में लिखे प्रमाणे सामगान करके सब इष्ट मित्रों से मिल, पुत्रादिकों पर सब घर का भार धरके, अग्निहोत्र की सामग्री सहित जंगल में जाकर, एकान्त में निवासकर योगाभ्यास, शास्त्रों का विचार, महात्माओं का संग करके स्वात्मा और परमात्मा को साक्षात् करने में प्रयत्न किया करे ॥

इति वानप्रस्थसंस्कारविधिः समाप्तः ॥



‡यजु० अ० २२। मं० ३४॥ द०स०

१. 'भूरग्नये स्वाहा' आदि चार मन्त्रों से ।

अथ संन्याससंस्कारविधिं वक्ष्यामः

'संन्यास संस्कार' उसको कहते हैं कि जो मोहादि आवरण, पक्षपात छोड़के विरक्त होकर सब पृथिवी में परोपकारार्थ विचरे। अर्थात्—

सम्यङ् न्यस्यन्त्यधर्माचरणानि येन वा सम्यङ् नित्यं सत्कर्मस्वास्त उपविशति स्थिरीभवति येन स 'संन्यासः'। संन्यासो विद्यते यस्य स 'संन्यासी'।

कालः—प्रथम जो वानप्रस्थ के आदि में कह आये हैं कि ब्रह्मचर्य पूरा करके गृहस्थ, और गृहस्थ होके वनस्थ, वनस्थ होके संन्यासी होवे, यह **क्रम-संन्यास,** अर्थात् अनुक्रम से आश्रमों का अनुष्ठान करता-करता वृद्धावस्था में जो संन्यास लेना है, उसी को 'क्रम-संन्यास' कहते हैं।

द्वितीय प्रकार—'यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेद् वनाद् वा गृहाद् वा ॥' यह ब्राह्मणग्रन्थ[1] का वाक्य है।

अर्थः—जिस दिन दृढ़ वैराग्य प्राप्त होवे उसी दिन, चाहे वानप्रस्थ का समय पूरा भी न हुआ हो, अथवा वानप्रस्थ आश्रम का अनुष्ठान न करके गृहाश्रम से ही सन्यासाश्रम ग्रहण करे। क्योंकि संन्यास में दृढ़ वैराग्य और यथार्थ ज्ञान का होना ही मुख्य कारण है।

तृतीय प्रकार—'ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्' ॥ यह भी ब्राह्मणग्रन्थ[1] का वचन है ॥

यदि पूर्ण अखण्डित ब्रह्मचर्य, सच्चा वैराग्य और पूर्ण ज्ञान-विज्ञान को प्राप्त होकर विषयासक्ति की इच्छा आत्मा से यथावत्

---

१. यही आनुपूर्वी सं० विधि संस्क० १ में है। वहां 'इति ब्राह्मणश्रुतिः' निर्देश किया है। स० प्र० समु० ५ सं० २ में लिखा है—'ये ब्राह्मणग्रन्थ के वचन हैं।' प्रथम संस्करण में 'यह यजुर्वेद के ब्राह्मण की श्रुति है' पाठ है। जाबाल उपनिषद् में ये वचन आगे-पीछे मिलते हैं। यहां पृष्ठ २६८ की टि० १ भी देखें।

उठ जावे, पक्षपातरहित होकर सबके उपकार करने की इच्छा होवे, और जिसको दृढ़ निश्चय हो जावे कि मैं मरण-पर्यन्त यथावत् संन्यास-धर्म का निर्वाह कर सकूंगा, तो वह न गृहाश्रम करे, न वानप्रस्थाश्रम, किन्तु ब्रह्मचर्याश्रम को पूर्ण करहीके संन्यासाश्रम को ग्रहण कर लेवे।

अत्र वेदप्रमाणानि—

शर्यणावति सोममिन्द्रः पिबतु वृत्रहा। बलं दधान आत्मनि
करिष्यन् वीर्यं महद् इन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥१॥
आ पवस्व दिशां पत आर्जीकात् सोम मीढ्वः।
ऋतवाकेन सत्येन श्रद्धया तपसा सुत इन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥२॥[1]

अर्थः—मैं ईश्वर संन्यास लेनेहारे तुझ मनुष्य को उपदेश करता हूं कि जैसे (वृत्रहा) मेघ का नाश करनेहारा (इन्द्रः) सूर्य (शर्यणावति) हिंसनीय पदार्थों से युक्त भूमितल में स्थित (सोमम्) रस को पीता है, वैसे संन्यास लेनेवाला पुरुष उत्तम मूल फलों के रस को (पिबतु) पीवे। और (आत्मनि) अपने आत्मा में (महत्) बड़े (वीर्यम्) सामर्थ्य को (करिष्यन्) करूंगा, ऐसी इच्छा करता हुआ (बलं दधानः) दिव्य बल को धारण करता हुआ (इन्द्राय) परमैश्वर्य के लिये, हे (इन्दो) चन्द्रमा के तुल्य सब को आनन्द करनेहारे पूर्ण विद्वान्! तू संन्यास लेके सब पर (परि स्रव) सत्योपदेश की वृष्टि कर ॥१॥

हे (सोम) सोम्यगुण सम्पन्न (मीढ्वः) सत्य से सब के अन्तःकरण को सींचनेहारे, (दिशां पते) सब दिशाओं में स्थित मनुष्यों को सच्चा ज्ञान देके पालन करनेहारे, (इन्दो) शमादिगुणयुक्त संन्यासिन्! तू (ऋतवाकेन) यथार्थ बोलने (सत्येन) सत्यभाषण करने से, (श्रद्धया) सत्य के धारण में सच्ची प्रीति और (तपसा) प्राणायाम योगाभ्यास से, (आर्जीकात्) सरलता से (सुतः) निष्पन्न होता हुआ, तू अपने शरीर इन्द्रिय मन बुद्धि को (आ पवस्व) पवित्र कर। (इन्द्राय) परमैश्वर्ययुक्त परमात्मा के लिये (परिस्रव) सब ओर से गमन कर ॥२॥

१. ऋ० ६।११३।१-२॥

ऋतं वदन्नृतद्युम्न सत्यं वदन्त्सत्यकर्मन् । श्रद्धां वदन्त्सोम राजन् धात्रा सोम परिष्कृत इन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥३॥[1]

अर्थः—हे (ऋतद्युम्न) सत्यधन और सत्य कीर्तिवाले यतिवर ! (ऋतं वदन्) पक्षपात छोड़के यथार्थ बोलता हुआ, हे (सत्यकर्मन्) सत्यवेदोक्त कर्मवाले संन्यासिन् ! (सत्यं वदन्) सत्य बोलता हुआ, (श्रद्धाम्) सत्यधारण में प्रीति करने को (वदन्) उपदेश करता हुआ, (सोम) सोम्यगुणसपन्न, (राजन्) सब ओर से प्रकाशयुक्त आत्मावाले, (सोम) योगैश्वर्ययुक्त (इन्दो) सब को आनन्ददायक संन्यासिन् ! तू (धात्रा) सकल विश्व के धारण करनेहारे परमात्मा से योगाभ्यास करके (परिष्कृतः) शुद्ध होता हुआ (इन्द्राय) योग से उत्पन्न हुए परमैश्वर्य की सिद्धि के लिये (परिस्रव) यथार्थ पुरुषार्थ कर ॥३॥

यत्र ब्रह्मा पवमान छन्दस्यां३ वाचं वदन् । ग्राव्णा सोमे महीयते सोमेनानन्दं जनयन् इन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥४॥[2]

अर्थः—हे (छन्दस्याम्) स्वतन्त्रतायुक्त (वाचम्) वाणी को (वदन्) कहते हुए (सोमेन) विद्या योगाभ्यास और परमेश्वर की भक्ति से (आनन्दम्) सब के लिये आनन्द को (जनयन्) प्रगट करते हुए, (इन्दो) आनन्दप्रद, (पवमान) पवित्रात्मन्, पवित्र करनेहारे संन्यासिन् ! (यत्र) जिस (सोमे) परमैश्वर्ययुक्त परमात्मा में (ब्रह्मा) चारों वेदों का जाननेहारा विद्वान् (महीयते) महत्त्व को प्राप्त होकर सत्कार को प्राप्त होता है, जैसे (ग्राव्णा) मेघ से सब जगत् को आनन्द होता है, वैसे तू सब को (इन्द्राय) परमैश्वर्य्ययुक्त मोक्ष का आनन्द देने के लिये सब साधनों को (परिस्रव) सब प्रकार से प्राप्त करा ॥४॥

यत्र ज्योतिरजस्रं यस्मिँल्लोके स्वर्हितम् । तस्मिन् मां धेहि पवमानामृते लोके अक्षित इन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥५॥[1]

अर्थः—हे (पवमान) अविद्यादि क्लेशों के नाश करनेहारे, पवित्र-

---

१. ऋ० ९।११३।४॥ २. ऋ० ९।११३।६॥

१. ऋ० ९।११३।७॥

स्वरूप, (इन्दो) सर्वानन्ददायक परमात्मन् ! (यत्र) जहां तेरे स्वरूप में (अजस्रम्) निरन्तर व्यापक तेरा (ज्योतिः) तेज है, (यस्मिन्) जिस (लोके) ज्ञान से देखने योग्य तुझ में (स्वः) नित्य सुख (हितम्) स्थित है, (तस्मिन्) उस (अमृते) जन्म-मरण और (अक्षिते) नाश से रहित (लोके) द्रष्टव्य अपने स्वरूप में आप (मा) मुझ को (इन्द्राय) परमैश्वर्यप्राप्ति के लिये (धेहि) कृपा से धारण कीजिये। और मुझ पर माता के समान कृपाभाव से (परिस्रव) आनन्द की वर्षा कीजिये ॥५॥

यत्र॒ राजा॑ वैवस्व॒तो यत्रा॑व॒रोध॑नं दि॒वः ।
यत्रा॒मूर्य॒ह्वती॒राप॒स्तत्र॒ माम॒मृतं॑ कृ॒धीन्द्रा॒येन्दो॒ परि॑ स्रव ॥६॥[1]

अर्थः—हे (इन्दो) आनन्दप्रद परमात्मन् ! (यत्र) जिस तुझ में (वैवस्वतः) सूर्य का प्रकाश (राजा) प्रकाशमान हो रहा है, (यत्र) जिस आप में (दिवः) बिजुली अथवा बुरी कामना की (अवरोधनम्) रुकावट है, (यत्र) जिस आप में (अमूः) वे कारण-रूप (यह्वतीः) बड़े व्यापक आकाशस्थ (आपः) प्राणप्रद वायु हैं, (तत्र) उस अपने स्वरूप में (माम्) मुझ को (अमृतम्) मोक्ष-प्राप्त (कृधि) कीजिये। (इन्द्राय) परमैश्वर्य के लिये (परिस्रव) आर्द्रभाव से आप मुझको प्राप्त हूजिये ॥६॥

यत्रा॑नुका॒मं चर॑णं त्रिना॒के त्रि॑दि॒वे दि॒वः ।
लो॒का यत्र॒ ज्योति॑ष्मन्त॒स्तत्र॒ माम॒मृतं॑ कृ॒धीन्द्रा॒येन्दो॒ परि॑ स्रव॥७॥[2]

अर्थः—हे (इन्दो) परमात्मन् ! (यत्र) जिस आप में (अनु-कामम्) इच्छा के अनुकूल स्वतन्त्र (चरणम्) विहरना[3] है, (यत्र) जिस (त्रिनाके) त्रिविध अर्थात् आध्यात्मिक आधिभौतिक और आधिदैविक दुःख से रहित, (त्रिदिवे) तीन सूर्य विद्युत् और भौम्य अग्नि से प्रकाशित सुखस्वरूप में (दिवः) कामना करनेयोग्य शुद्ध

१. ऋ० ९।११३।८॥ २. ऋ० ९।११३।९॥

३. संस्करण २ से १२ तक यही पाठ रहा है। शता०सं० में 'विचरना' पाठ बनाया गया, वही आज तक छप रहा है। विहरना=विहार करना=विचरना।

कामनावाले, (लोकाः) यथार्थ ज्ञानयुक्त, (ज्योतिष्मन्तः) शुद्ध विज्ञानयुक्त मुक्ति को प्राप्त हुए सिद्ध पुरुष विचरते हैं, (तत्र) उस अपने स्वरूप में (माम्) मुझ को (अमृतम्) मोक्षप्राप्त (कृधि) कीजिये। और (इन्द्राय) उस परम आनन्दैश्वर्य के लिये (परिस्रव) कृपा से प्राप्त हूजिये ॥७॥

यत्र कामा निकामाश्च यत्र ब्रध्नस्य विष्टपम् ।
स्वधा च यत्र तृप्तिश्च तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥८॥[1]

अर्थः—हे (इन्दो) निष्कामानन्दप्रद, सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मन् ! (यत्र) जिस आप में (कामाः) सब कामना (निकामाः) और अभिलाषा छूट जाती है, (च) और (यत्र) जिस आप में (ब्रध्नस्य) सब से बड़े प्रकाशमान सूर्य का (विष्टपम्) विशिष्ट सुख, (च) और (यत्र) जिस आप में (स्वधा) अपना ही धारण, (च) और जिस आप में (तृप्तिः) पूर्ण तृप्ति है, (तत्र) उस अपने स्वरूप में (माम्) मुझ को (अमृतम्) प्राप्त मुक्तिवाला (कृधि) कीजिये। तथा (इन्द्राय) सब दुःख-विदारण के लिये आप मुझ पर (परिस्रव) करुणावृत्ति कीजिये ॥८॥

यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आसते ।
कामस्य यत्राप्ताः कामास्तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥९॥[2]

ऋ० मं० ९। सू० ११३॥

अर्थः—हे (इन्दो) सर्वानन्दयुक्त जगदीश्वर ! (यत्र) जिस आप में (आनन्दाः) सम्पूर्ण समृद्धि (च) और (मोदाः) सम्पूर्ण हर्ष, (मुदः) सम्पूर्ण प्रसन्नता (च) और (प्रमुदः) प्रकृष्ट प्रसन्नता (आसते) स्थित हैं, (यत्र) जिस आप में (कामस्य) अभिलाषी पुरुष की (कामाः) सब कामना (आप्ताः) प्राप्त होती हैं, (तत्र) उसी अपने स्वरूप में (इन्द्राय) परमैश्वर्य के लिये (माम्) मुझको (अमृतम्) जन्म-मृत्यु के दुःख से रहित मोक्षप्राप्तियुक्त, कि जिससे मुक्ति के समय[3] के मध्य में संसार में नहीं आना पड़ता, उस मुक्ति की प्राप्तिवाला (कृधि) कीजिए। और इसी प्रकार सब जीवों को (परिस्रव) सब ओर से प्राप्त हूजिए ॥९॥

---

१. ऋ० ९।११३।१०॥ २. ऋ० ९।११३।११॥
३. मुक्ति के समय की अवधि के लिए स० प्र० समु० ९ देखिए।

यद्देवा यतयो यथा भुवनान्यपिन्वत ।
अत्रा समुद्र आ गूळ्हमा सूर्यमजभर्त्तन ॥१०॥

ऋ० मं० १० । सू० ७२ । मं० ७ ॥

अर्थः— हे (देवाः) पूर्ण विद्वान् (यतयः) संन्यासी लोगो ! तुम (यथा) जैसे (अत्र) इस (समुद्रे) आकाश में (गूढम्) गुप्त (आ सूर्यम्) स्वयं प्रकाशस्वरूप, सूर्यादि का प्रकाशक परमात्मा है, उस को (आ अजभर्त्तन) चारों ओर से अपने आत्माओं में धारण करो और आनन्दित होओ, वैसे (यत्) जो (भुवनानि) सब भुवनस्थ गृहस्थादि मनुष्य हैं, उन को सदा (अपिन्वत) विद्या और उपदेश से संयुक्त किया करो, यही तुम्हारा परम धर्म है ॥१०॥

भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदस्तपो दीक्षामुपनिषेदुरग्रे ।
ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं तदस्मै देवा उपसंनमन्तु ॥११॥

अथर्व० कां० १९ । सू० ४१ । मं० १ ॥

अर्थः—हे विद्वानो ! जो (ऋषयः) वेदार्थविद्या को प्राप्त, (स्वर्विदः) सुख को प्राप्त, (अग्रे) प्रथम (तपः) ब्रह्मचर्यरूप आश्रम को पूर्णता से सेवन तथा यथावत् स्थिरता से प्राप्त होके (भद्रम्) कल्याण की (इच्छन्तः) इच्छा करते हुये (दीक्षाम्) संन्यास की दीक्षा को (उपनिषेदुः) ब्रह्मचर्य ही से प्राप्त होवें, उन का (देवाः) विद्वान् लोग (उपसंनमन्तु) यथावत् सत्कार किया करें। (ततः) तदनन्तर (राष्ट्रम्) राज्य (बलम्) बल (च) और (ओजः) पराक्रम (जातम्) उत्पन्न होवे। (तत्) उस से (अस्मै) इस संन्यासाश्रम के पालन के लिये यत्न किया करें ॥११॥

अथ मनुस्मृतेश्श्लोकाः

वनेषु तु[1] विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः ।
चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा संगान् परिव्रजेत् ॥१॥
अधीत्य विधिवद् वेदान् पुत्रांश्चोत्पाद्य धर्मतः ।
इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे नियोजयेत्[2] ॥२॥

---

१. जौली संस्क० में 'तु' पाठ ही है। अन्य संस्करणों में तथा स० प्र० समु० ५, संस्करण १,२ में 'च' पाठ है।

२. जौली संस्करण के पाठान्तरों में, तथा कुल्लूक की टीका में 'नियोजयेत्'

प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं सर्ववेदसदक्षिणाम् ।
आत्मन्यग्नीन्समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद् गृहात् ॥३॥

यो दत्त्वा सर्वभूतेभ्यः प्रव्रजत्यभयं गृहात् ।
तस्य तेजोमया लोका भवन्ति ब्रह्मवादिनः ॥४॥

आगारादभिनिष्क्रान्तः पवित्रोपचितो मुनिः ।
समुपोढेषु कामेषु निरपेक्षः परिव्रजेत् ॥५॥

अनग्निरनिकेतः स्याद् ग्राममन्नार्थमाश्रयेत् ।
उपेक्षकोऽसङ्कुसुको[1] मुनिर्भावसमाहितः ॥६॥

नाभिनन्देत मरणं नाभिनन्देत जीवितम् ।
कालमेव प्रतीक्षेत निर्देशं भृतको यथा ॥७॥

दृष्टिपूतं न्यसेत् पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत् ।
सत्यपूतां वदेद् वाचं मनःपूतं समाचरेत् ॥८॥

अध्यात्मरतिरासीनो निरपेक्षो निरामिषः ।
आत्मनैव सहायेन सुखार्थी विचरेदिह ॥९॥

क्लृप्तकेशनखश्मश्रुः पात्री दण्डी कुसुम्भवान् ।
विचरेन्नियतो नित्यं सर्वभूतान्यपीडयन् ॥१०॥

इन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वेषक्षयेण च ।
अहिंसया च भूतानाममृतत्वाय कल्पते ॥११॥

दूषितोऽपि चरेद् धर्मं यत्र तत्राश्रमे रतः ।
समः सर्वेषु भूतेषु न लिङ्गं धर्मकारणम् ॥१२॥

फलं कतकवृक्षस्य यद्यप्यम्बुप्रसादकम् ।
न नामग्रहणादेव तस्य वारि प्रसीदति ॥१३॥

प्राणायामा ब्राह्मणस्य त्रयोऽपि विधिवत् कृताः ।
व्याहृतिप्रणवैर्युक्ता विज्ञेयं परमं तपः ॥१४॥

ही पाठ है । मनु के अन्य संस्करणों में तथा स० प्र० समु० ५, संस्करण १ में 'निवेशयेत्' पाठ मिलता है ।

१. जौली सं० में यही पाठ है । अन्यत्र 'ऽसङ्कुसुको' पाठ है । असंकुसुकः स्थिरमतिः' इति टीकाकारः । संकुसुकः=दुर्जनः, अस्थिरः । महाभारत अनु० १०।४।१५।। यही अर्थ ग्रन्थकार ने भी किया है । मेधातिथि का 'असंचायिकः' पाठ है ।

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः ।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात् ॥१५॥
प्राणायामैर्दहेद् दोषान् धारणाभिश्च किल्बिषम् ।
प्रत्याहारेण संसर्गान् ध्यानेनानीश्वरान् गुणान् ॥१६॥
उच्चावचेषु भूतेषु दुर्ज्ञेयामकृतात्मभिः ।
ध्यानयोगेन संपश्येद् गतिमस्यान्तरात्मनः ॥१७॥
सम्यग्दर्शनसंपन्नः कर्मभिर्न निबध्यते ।
दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते ॥१८॥
अहिंसयेन्द्रियासङ्गैर्वैदिकैश्चैव कर्मभिः ।
तपसश्चरणैश्चोग्रैः साधयन्तीह तत्पदम् ॥१९॥
यदा भावेन भवति सर्वभावेषु निःस्पृहः ।
तदा सुखमवाप्नोति प्रेत्य चेह च शाश्वतम् ॥२०॥
अनेन विधिना सर्वांस्त्यक्त्वा सङ्गाञ्शनैः[1] शनैः ।
सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तो ब्रह्मण्येवावतिष्ठते ॥२१॥
इदं शरणमज्ञानामिदमेव विजानताम् ।
इदमन्विच्छतां स्वर्ग्यम्[2] इदमानन्त्यमिच्छताम् ॥२२॥
अनेन क्रमयोगेन परिव्रजति यो द्विजः ।
स विधूयेह पाप्मानं परं ब्रह्माधिगच्छति ॥२३॥

अर्थः—इस प्रकार जंगलों में आयु का तीसरा भाग अर्थात् अधिक से अधिक २५ पच्चीस वर्ष, अथवा न्यून से न्यून १२ बारह वर्ष तक विहार करके, आयु के चौथे भाग अर्थात् ७० सत्तर वर्ष के पश्चात् सब मोहादि संगों को छोड़कर संन्यासी हो जावे ॥१॥

विधिपूर्वक ब्रह्मचर्याश्रम से सब वेदों को पढ़, गृहाश्रमी होकर धर्म से पुत्रोत्पत्ति कर, वानप्रस्थ में सामर्थ्य के अनुसार यज्ञ करके मोक्ष[3] अर्थात् संन्यासाश्रम में मन को लगावे ॥२॥

---

१. यही पाठ स० प्र० समु० ५, संस्करण २ में है। मनु० में 'सङ्गाञ्छनैः' शनैः' पाठ है। संवत् १९२६ के काशी संस्करण में 'सङ्गान् शनैः शनैः' पाठ मिलता है। २. मनुस्मृति में 'स्वर्गम्' पाठ है।

३. मनु० ६।३३ ३६, ३८, ३९, ४१, ४३, ४५, ४६, ४९, ५२, ६०, ६६, ६७, ७०—७५, ८०, ८१, ८४, ८५ ॥

प्रजापति परमात्मा की प्राप्ति के निमित्त प्राजापत्येष्टि, कि जिसमें यज्ञोपवीत और शिखा का त्याग किया जाता है,[कर]आहवनीय गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि[1] संज्ञक अग्नियों को आत्मा में समारोपित करके, ब्राह्मण विद्वान् गृहाश्रम से ही संन्यास लेवे ।।३।।

जो पुरुष सब प्राणियों को अभयदान सत्योपदेश देकर गृहाश्रम से ही संन्यास ग्रहण कर लेता है, उस ब्रह्मवादी वेदोक्त सत्योपदेशक संन्यासी को मोक्ष-लोक और सब लोक-लोकान्तर तेजोमय(=ज्ञान से प्रकाशमय) हो जाते हैं ।।४।।

जब सब कामों को जीत लेवे और उनकी अपेक्षा न रहे, पवित्रात्मा और पवित्रान्तःकरण मननशील हो जावे, तभी गृहाश्रम से निकलकर संन्यासाश्रम का ग्रहण करे । अथवा ब्रह्मचर्य ही से संन्यास का ग्रहण कर लेवे ।।५।।

वह संन्यासी (अनग्निः*)आहवनीयादि अग्नियों से रहित, और कहीं अपना स्वाभिमत घर भी न बांधे । और अन्न-वस्त्रादि के लिये ग्राम का आश्रय लेवे । बुरे मनुष्यों की उपेक्षा करता, और स्थिरबुद्धि मननशील होकर परमेश्वर में अपनी भावना का समाधान करता हुआ विचरे ।।६।।

न तो अपने जीवन में आनन्द और न अपने मृत्यु में दुःख माने, किन्तु जैसे क्षुद्र भृत्य अपने स्वामी की आज्ञा की बाट देखता रहता है, वैसे ही काल और मृत्यु की प्रतीक्षा करता रहे ।।७।।

चलते समय आगे-आगे देखके पग धरे । सदा वस्त्र से छानकर जल पीवे । सबसे सत्य वाणी बोले अर्थात् सत्योपदेश ही किया करे । जो कुछ व्यवहार करे, वह सब मन की पवित्रता से आचरण करे। ८।।

इस संसार में आत्मनिष्ठा में स्थित, सर्वथा अपेक्षारहित, मांस मद्यादि का त्यागी, आत्मा के सहाय से ही सुखार्थी होकर विचरा करे और सब को सत्यापदेश करता रहे ।।९।।

---

*इसी पद से भ्रान्ति में पड़के संन्यासियों का दाह नहीं करते, और संन्यासी लोग अग्नि को नहीं छूते, यह पाप संन्यासियों के पीछे लग गया । यहां आहवनीयादिसंज्ञक अग्नियों को छोड़ना है, स्पर्श वा दाहकर्म छोड़ना नहीं है ।। द० स०

---

१. संस्करण २ में 'दाक्षिणात्य' अपपाठ है ।

सब शिर के बाल दाढ़ी मूंछ और नखों को समय-समय छेदन कराता रहे। पात्री दण्डी और कुसुंभ के रंगे हुए* वस्त्रों को धारण किया करे। सब भूत=प्राणीमात्र को पीड़ा न देता हुआ दृढ़ात्मा होकर नित्य विचरा करे ॥१०॥

जो संन्यासी बुरे कामों से इन्द्रियों के निरोध, राग-द्वेषादि दोषों के क्षय, और निर्वैरता से सब प्राणियों का कल्याण करता है, वह मोक्ष को प्राप्त होता है ॥११॥

यदि संन्यासी को मूर्ख संसारी लोग निन्दा आदि से दूषित वा अपमान[1] भी करें, तथापि धर्म ही का आचरण करे। ऐसे ही अन्य ब्रह्मचर्याश्रमादि के मनुष्यों को करना उचित है। सब प्राणियों में पक्षपातरहित होकर समबुद्धि रक्खे। इत्यादि उत्तम काम करने ही के लिये संन्यासाश्रम का विधि है। किन्तु केवल दण्डादि चिह्न धारण करना ही धर्म का कारण नहीं है ॥१२॥

यद्यपि निर्मली वृक्ष का फल जल को शुद्ध करनेवाला है, तथापि उसके नामग्रहणमात्र से जल शुद्ध नहीं होता। किन्तु उसको ले, पीस, जल में डालने ही से उस मनुष्य का जल शुद्ध होता है। वैसे नाममात्र आश्रम से कुछ भी नहीं होता, किन्तु अपने-अपने आश्रम के धर्मयुक्त कर्म करने ही से आश्रमधारण सफल होता है, अन्यथा नहीं ॥१३॥

इस पवित्र आश्रम को सफल करने के लिए संन्यासी पुरुष विधिवत् योगशास्त्र की रीति से सात व्याहृतियों के पूर्व सात प्रणव लगा के, जैसा कि पृष्ठ २२७ में प्राणायाम का मन्त्र लिखा है, उसको मन से जपता हुआ तीन भी प्राणायाम करे, तो जानो अत्युत्कृष्ट तप करता है ॥१४॥

क्योंकि जैसे अग्नि में तपाने से धातुओं के मल छूट जाते हैं, वैसे ही प्राण के निग्रह से इन्द्रियों के दोष नष्ट हो जाते हैं ॥१५॥

इसलिये संन्यासी लोग प्राणायामों से दोषों को, और ध्यान से अविद्या पक्षपात आदि अनीश्वरता के दोषों को छुड़ाके, पक्षपातरहित आदि ईश्वर के गुणों को धारण कर, सब दोषों को भस्म कर देवे ॥१६॥

---

*अथवा गेरू से रंगे हुए वस्त्रों को पहिने ॥ द०स०

---

१. 'दूषित' पद के साथ 'अपमानित' पद अधिक युक्त है।

बड़े-छोटे प्राणी और अप्राणियों में, जो अशुद्धात्माओं से देखने के योग्य नहीं है, उस अन्तर्यामी परमात्मा की गति अर्थात् प्राप्ति को ध्यानयोग से ही संन्यासी देखा करे ।।१७।।

जो संन्यासी यथार्थ ज्ञान वा षट्दर्शनों से युक्त है, वह दुष्ट कर्मों से बद्ध नहीं होता । और जो ज्ञान, विद्या योगाभ्यास सत्सङ्ग धर्मानुष्ठान वा षड्दर्शनों से रहित विज्ञानहीन होकर संन्यास लेता है. वह संन्यास पदवी और मोक्ष को प्राप्त न होकर जन्ममरणरूप संसार को प्राप्त होता है । और ऐसे मूर्ख अधर्मी को[1] संन्यास का लेना व्यर्थ और धिक्कार देने के योग्य है ।।१८।।

और जो निर्वैर, इन्द्रियों के विषयों के बन्धन से पृथक्, वैदिक कर्माचरणों और प्राणायाम सत्यभाषणादि उत्तम उग्र कर्मों से सहित संन्यासी लोग होते हैं, वे इसी जन्म इसी वर्त्तमान समय में परमेश्वर की प्राप्तिरूप पद को प्राप्त होते हैं । उनका संन्यास लेना सफल और धन्यवाद के योग्य है ।।१६।।

जब संन्यासी सब पदार्थों में अपने भाव से निःस्पृह होता है, तभी इस लोक इस जन्म, और मरण पाकर परलोक और मुक्ति में परमात्मा को प्राप्त होके निरन्तर* सुख को प्राप्त होता है ।।२०।।

इस विधि से धीरे-धीरे सब संग से हुए दोषों को छोड़के, सब हर्ष-शोकादि द्वन्द्वों से विशेषकर निर्मुक्त होके, विद्वान् संन्यासी ब्रह्म ही में स्थिर होता है ।।२१।।

और जो विविदिषा अर्थात् जानने की इच्छा करके गौण संन्यास लेवे, वह भी विद्या का अभ्यास, सत्पुरुषों का संग, योगाभ्यास और ओंकार का जप और उसके अर्थ=परमेश्वर का विचार भी किया करे । यही अज्ञानियों का शरण, अर्थात् गौण संन्यासियों और यही विद्वान् संन्यासियों का, और यही सुख का खोज करनेहारे, और यही अनन्त§ सुख की इच्छा करनेहारे मनुष्यों का आश्रय है ।।२२।

*निरन्तर शब्द का इतना ही अर्थ है कि मुक्ति के नियत समय के मध्य में दुःख आकर विघ्न नहीं कर सकता । द० स०

§ अनन्त इतना ही है कि मुक्ति-सुख के समय में अन्त अर्थात् जिसका नाश न होवे । द० स०

१. संस्करण २ में 'के' पाठ है ।

इस क्रमानुसार संन्यासयोग से जो द्विज अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य[1] संन्यास ग्रहण करता है, वह इस संसार और शरीर में[2] सब पापों को छोड़-छुड़ाके परब्रह्म को प्राप्त होता है ।।२३।।

विधिः—जो पुरुष संन्यास लेना चाहे, वह जिस दिन सर्वथा प्रसन्नता हो, उसी दिन[3] नियम और व्रत, अर्थात् तीन दिन तक दुग्ध-पान करके उपवास और भूमि में शयन, और प्राणायाम ध्यान तथा एकान्तदेश में ओंकार का जप किया करे। और पृष्ठ १९-२१ में लिखे प्रमाणे सभामण्डप वेदी समिधा घृतादि शाकल्य सामग्री एक दिन पूर्व कर रखनी । पश्चात् जिस चौथे दिन संन्यास लेना हो, प्रहर रात्रि से उठकर शौच स्नानादि आवश्यक कर्म करके, प्राणायाम ध्यान और प्रणव का जप करता रहे । सूर्योदय के समय उत्तम गृहस्थ धार्मिक विद्वानों का पृष्ठ २८ में लिखे प्रमाणे वरण कर, पृष्ठ ३०-३१ में लिखे प्रमाणे अग्न्याधान समिदाधान घृतप्रतपन और स्थालीपाक[4] करके पृ० ११-१८ में लिखे प्रमाणे **स्वस्तिवाचन-शान्तिकरण** का पाठ[5] कर, पृ० ३२-३४ में लिखे प्रमाणे वेदी के चारों ओर जलप्रोक्षण, आघारावाज्यभागाहुति[6] ४ चार, और व्याहृति आहुति[7] ४ चार, तथा—

ओं भुवनपतये स्वाहा ।[8]

ओं भूतानां पतये स्वाहा ।।[8]

ओं प्रजापतये स्वाहा ।।[9]

---

१ मुख्य संन्यास का अधिकारी केवल ब्राह्मण=ब्रह्मवेत्ता है । क्षत्रिय और वैश्य गौण संन्यास के अधिकारी हैं ।

२. सं० वि० संस्करण २ में 'शरीर में' पाठ है, यही युक्त है । श्लोक में पठित 'इह' का अर्थ 'इस संसार और शरीर में' किया है । संस्करण ३ में 'शरीर से' पाठ बनाया है । यही अब तक छप रहा है ।

३. आगे तीन दिन के लिये व्रत आदि का निर्देश होने से यहां 'उसी दिन से' पाठ होना चाहिए ।

४. द्र०—पृष्ठ २०-२१ ।

५. यहां पाठ आगे-पीछे हो गया प्रतीत होता है । 'स्वस्तिवाचन-शान्तिकरण' का पाठ अग्न्याधान से पूर्व होना चाहिए । पृष्ठ २७४ पर भी इसी प्रकार पाठ अव्यवस्थित है ।

६. 'अग्नये स्वाहा' आदि चार मन्त्रों से ।

७. 'भूरग्नये स्वाहा' आदि चार मन्त्रों से ।

८. यजु० २।२।।

९. यजु० १८।२८।।

इनमें से एक-एक मन्त्र से एक-एक करके ११ ग्यारह आज्याहुति देके, जो विधिपूर्वक भात बनाया हो उसमें घृत सेचन करके, यजमान जो कि संन्यास का लेनेवाला है और दो ऋत्विज निम्नलिखित स्वाहान्त मन्त्रों से भात का होम, और शेष दो ऋत्विज् भी साथ-साथ घृताहुति करते जावें—

ओं ब्रह्म होता ब्रह्म यज्ञो ब्रह्मणा स्वरवो मिताः ।
अध्वर्युर्ब्रह्मणो जातो ब्रह्मणोऽन्तर्हितं हविः स्वाहा ॥१॥

ब्रह्म स्रुचो घृतवतीर्ब्रह्मणा वेदिरुद्धिता ।
ब्रह्म यज्ञश्च सत्रं च ऋत्विजो ये हविष्कृतः ।
शमिताय स्वाहा ॥२॥

अंहोमुचे प्र भरे मनीषामा सुत्राम्णे[1] सुमतिमावृणानः ।
इदमिन्द्र प्रति हव्यं गृभाय सत्याः सन्तु यजमानस्य कामाः स्वाहा ॥३॥

अंहोमुचे वृषभं यज्ञियानां विराजन्तं प्रथममध्वराणाम् ।
अपां नपातमश्विना हुवे धियेन्द्रेण म इन्द्रियं दत्तमोजः स्वाहा ॥४॥[2]

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।
अग्निर्मा तत्र नयत्वग्निर्मेधां दधातु मे ।
अग्नये स्वाहा ॥ इदमग्नये—इदन्न मम ॥५॥

---

१. सं० २–२० तक यही पाठ है (सायण भी यही पाठ मानता है)। सं० २१ से 'सुत्राव्णे' पाठ छप रहा है । मुद्रित अथर्व संहिता और पदपाठ में 'सुत्राव्णे' पाठ ही मिलता है ।

२. अथर्व १९।४२।१–४॥ तीसरे मन्त्र के तृतीय चरण का 'इदमिन्द्र' पाठ राथह्विटनी के संस्करणानुसार है । मन्त्र १,३,४ में स्वाहा पद मन्त्र से बहिर्भूत है ।

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।
वायुर्मा तत्र नयतु वायुः प्राणान् दधातु मे ।
वायवे स्वाहा ॥ इदं वायवे—इदन्न मम ॥६॥
यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।
सूर्यो मा तत्र नयतु चक्षुः सूर्यो दधातु मे ।
सूर्याय स्वाहा ॥ इदं सूर्याय—इदन्न मम ॥७॥[1]
यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।
चन्द्रो मा तत्र नयतु मनश्चन्द्रो दधातु मे ।
चन्द्राय स्वाहा ॥ इदं चन्द्राय-इदन्न मम ॥८॥
यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।
सोमो मा तत्र नयतु पयः सोमो दधातु मे ।
सोमाय स्वाहा ॥ इदं सोमाय--इदन्न मम ॥९॥
यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।
इन्द्रो मा तत्र नयतु बलमिन्द्रो दधातु मे ।
इन्द्राय स्वाहा ॥ इदमिन्द्राय—इदन्न मम ॥१०॥
यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।
आपो मा तत्र नयन्त्वमृतं मोप तिष्ठतु ।
अद्भ्यः स्वाहा ॥ इदमद्भ्यः—इदन्न मम ॥११॥
यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।
ब्रह्मा मा तत्र नयतु ब्रह्मा ब्रह्म दधातु मे ।
ब्रह्मणे स्वाहा ॥ इदं ब्रह्मणे--इदन्न मम ॥१२॥
अथर्व० कां० १९ । सू० ४२, ४३ ॥[2]

---

१. इन मन्त्रों का पाठ राथ ह्विटनी-संस्करणानुसार है ।
२. पहले चार मन्त्र सूक्त ४२ के और अगले ५—१२ मन्त्र सूक्त ४३ के हैं । मन्त्र ५—१२ तक 'इदं · न मम' अंश मन्त्रों से बहिर्भूत है ।

ओं प्राणापानव्यानोदानसमाना मे शुध्यन्ताम् ।
ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासꣳ स्वाहा ॥१॥
वाङ्मनश्चक्षुःश्रोत्रजिह्वाघ्राणरेतोबुद्ध्याकूतिसंकल्पा मे शुध्यन्ताम् ।
ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासꣳ स्वाहा ॥२॥
शिरःपाणिपाद[पार्श्व]पृष्ठोरूदरजङ्घा[1]शिश्नोपस्थपायवो मे शुध्यन्ताम् । ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासꣳ स्वाहा ॥३॥
त्वक्चर्ममांसरुधिरमेदोमज्जास्नायवोऽस्थीनि मे शुध्यन्ताम् ।
ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासꣳ स्वाहा ॥४॥
शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा मे शुध्यन्ताम् ।
ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासꣳ स्वाहा ॥५॥
पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशा मे शुध्यन्ताम् ।
ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासꣳ स्वाहा ॥६॥
अन्नमयप्राणमयमनोमयविज्ञानमयानन्दमया[2] मे शुध्यन्ताम् ।
ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासꣳ स्वाहा ॥७॥
त्रिविष्टयै[3] स्वाहा ॥८॥ कषोत्काय स्वाहा ॥९॥
उत्तिष्ठ पुरुष हरित लोहित पिङ्गलाक्षि[4] ।
देहि देहि ददापयिता[5] मे शुध्यताम्[6] ।
ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासꣳ स्वाहा ॥१०॥
ओं स्वाहा मनोवाक्कायकर्माणि मे शुध्यन्ताम् ।
ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासꣳ स्वाहा ॥११॥

---

१. तै० आ० में 'जङ्घ' पाठ है । २. तै० आ० में '०मयात्मा मे' पाठ है ।
३. तै० आ० में 'विविट्टयै' पाठ है ।
४. तै० आ० में 'पिङ्गल लोहिताक्षि' पाठ है ।
५. मूल पाठ 'ददापयिता' ही है । व्याख्याकारों ने भी इसे ही स्वीकार किया है । सं० वि० के कई संस्करणों में 'दापयितो' छपा है, वह अशुद्ध है ।
६. तै० आ० में 'शुध्यन्ताम्' पाठ है, वह छान्दस अथवा अपपाठ है ।

अव्यक्तभावैरहङ्कारैर्ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासꣳ स्वाहा ॥१२॥

आत्मा मे शुध्यताम्[1] ।
ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासꣳ स्वाहा ॥१३॥
अन्तरात्मा मे शुध्यताम्[2] ।
ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासꣳ स्वाहा ॥१४॥
परमात्मा मे शुध्यताम् ।
ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासꣳ स्वाहा* ॥१५॥[3]

इन १५ मन्त्रों में से एक-एक करके भात की आहुति देनी। पश्चात् निम्नलिखित मन्त्रों से ३५ घृताहुति देवें—

ओमग्नये स्वाहा ॥१६॥ ओं विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा ॥१७॥ ओं ध्रुवाय भूमाय स्वाहा ॥१८॥ ओं ध्रुवक्षितये स्वाहा ॥१९॥ ओमच्युतक्षितये स्वाहा ॥२०॥ ओमग्नये स्विष्टकृते स्वाहा ॥२१ ओं धर्माय स्वाहा ॥ २२ ॥ ओमधर्माय स्वाहा ॥ २३ ॥ ओमद्भ्यः स्वाहा ॥२४॥ ओमोषधिवनस्पतिभ्यः स्वाहा ॥२५।

---

* (प्राणापान०) इत्यादि से लेके (परमात्मा मे शुध्यताम्) इत्यन्त मन्त्रों से संन्यासी के लिये उपदेश है। अर्थात् जो संन्यासाश्रम ग्रहण करे, वह धर्माचरण सत्योपदेश योगाभ्यास शम दम शान्ति सुशीलतादि विद्याविज्ञानादि शुभ गुण कर्म स्वभावों से सहित होकर, परमात्मा को अपना सहायक मान कर, अत्यन्त पुरुषार्थ से शरीर प्राण मन इन्द्रियादि को अशुद्ध व्यवहार से हटा शुद्ध व्यवहार में चलाके, पक्षपात कपट अधर्म व्यवहारों को छोड़, अन्य के दोष पढ़ाने और उपदेश से छुड़ाकर, स्वयं आनन्दित होके सब मनुष्यों को आनन्द पहुंचाता रहे ॥ द० स०

---

१. तै० आ० १०।१६ के अनुसार पृथक् मन्त्र है।

२. तै० आ० में 'शुध्यन्ताम्' पाठ है, वह छान्दस अथवा अपपाठ है।

३. द्र०—तै० आ० प्रि० १०, अनु ५१-६० एशियाटिक सोसाइटी बंगाल सं०, तथा आनन्दाश्रम पूना के परिशिष्ट में संगृहीत अ० ६५, ६६ क्रमभेद से।

ओं रक्षोदेवजनेभ्यः स्वाहा ॥२६॥ ओं गृह्याभ्यः स्वाहा ॥२७॥
ओमवसानेभ्यः स्वाहा ॥२८॥ ओमवसानपतिभ्यः स्वाहा ॥२९॥
ओं सर्वभूतेभ्यः स्वाहा ॥३०॥ ओं कामाय स्वाहा ॥३१॥
ओमन्तरिक्षाय स्वाहा ॥३२॥ ओं पृथिव्यै स्वाहा ॥३३॥
ओं दिवे स्वाहा ॥३४॥ ओं सूर्याय स्वाहा ॥३५॥
ओं चन्द्रमसे स्वाहा ॥३६॥ ओं नक्षत्रेभ्यः स्वाहा ॥३७॥
ओमिन्द्राय स्वाहा ॥३८॥ ओं बृहस्पतये स्वाहा ॥३९॥
ओं प्रजापतये स्वाहा ॥४०॥ ओं ब्रह्मणे स्वाहा ॥४१॥
ओं देवेभ्यः स्वाहा ॥४२॥ ओं परमेष्ठिने स्वाहा ॥४३॥
ओं तद् ब्रह्म ॥ ४४ ॥ ओं तद्वायुः ॥४५॥
ओं तदात्मा ॥४६॥ ओं तत्सत्यम् ॥४७॥
ओं तत्सर्वम् ॥४८॥ ओं तत्पुरोर्नमः ॥४९॥

अन्तश्चरति भूतेषु गुहायां विश्वमूर्तिषु । त्वं यज्ञस्त्वं वषट्कारस्त्वमिन्द्रस्त्वं रुद्रस्त्वं विष्णुस्त्वं ब्रह्म त्वं प्रजापतिः । त्वं तदाप आपो ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः सुवरों स्वाहा* ॥५०॥[1]

इन ५० मन्त्रों से आज्याहुति देके तदनन्तर जो संन्यास लेनेवाला है, वह पांच वा छः केशों को छोड़कर पृष्ठ ९९[2] में लिखे प्रमाणे डाढी मूंछ केश लोमों का छेदन अर्थात् क्षौर कराके यथावत् स्नान करे । तदनन्तर संन्यास लेनेवाला पुरुष अपने शिर पर पुरुषसूक्त[3] के मन्त्रों से १०८ एक सौ आठ वार अभिषेक करे ।

---

*ये सब (प्राणापानव्यान०) आदि मन्त्र तैत्तिरीय आरण्यक दशम प्रपाठक अनुवाक ५१ । ५२ । ५३ । ५४ । ५५ । ५६ । ५७ । ५८ । ५९ । ६० । ६६ । ६७ । ६८ के हैं । द० स०

---

१. द्र०—तै० आ० १०।६७, ६८ पूर्वोक्त दोनों संस्करण ।

२. द्वि० सं० में पृष्ठ संख्या नहीं है । सं० ३ में दी गई है ।

३. पुरुषसूक्त ऋ० १०।९०, सामवेद अरण्यकाण्ड ४, अथर्व० १९।६ में है । यजु० अ० ३१ पुरुषाध्याय, और तै० आ० ३।१२ पुरुषानुवाक कहाता है । यहां ऋग्वेदस्थ पुरुषसूक्त ही अभिप्रेत है, ऐसा हमारा विचार है ।

पुनः पृष्ठ २२५[1] में लिखे प्रमाणे आचमन और प्राणायाम करके हाथ जोड़ वेदी के सामने नेत्रोन्मीलन कर मन से—

ओं ब्रह्मणे नमः ॥ ओमिन्द्राय नमः ॥
ओं सूर्याय नमः ॥ ओं सोमाय नमः ॥
ओमात्मने नमः ॥ ओमन्तरात्मने नमः ॥

इन छः मन्त्रों को जपके—

ओमात्मने स्वाहा ॥ ओमन्तरात्मने स्वाहा ॥
ओं परमात्मने स्वाहा ॥ ओं प्रजापतये स्वाहा ॥

इन ४ चार मन्त्रों से ४ चार आज्याहुति देकर, कार्यकर्त्ता संन्यास ग्रहण करनेवाला पुरुष पृष्ठ १५७-१५८ में लिखे प्रमाणे मधुपर्क की क्रिया करे। तदनन्तर प्राणायाम करके—

ओं भूः सावित्रीं प्रविशामि तत्सवितुर्वरेण्यम् ॥
ओं भुवः सावित्रीं प्रविशामि भर्गो देवस्य धीमहि ॥
ओं स्वः सावित्रीं प्रविशामि धियो यो नः प्रचोदयात् ॥
ओं भूर्भुवः स्वः सावित्रीं प्रविशामि तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात् ॥

इन मन्त्रों को मन से जपे।

ओमग्नये स्वाहा ॥ ओं भूः प्रजापतये स्वाहा ॥
ओमिन्द्राय स्वाहा ॥ ओं प्रजापतये स्वाहा ॥
ओं विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा ॥ ओं ब्रह्मणे स्वाहा ॥
ओं प्राणाय स्वाहा ॥ ओमपानाय स्वाहा ॥
ओं व्यानाय स्वाहा ॥ ओमुदानाय स्वाहा ॥
ओं समानाय स्वाहा ॥

इन मन्त्रों से वेदी में आज्याहुति देके—

ओं भूः स्वाहा ॥

इस मन्त्र से पूर्णाहुति करके—

1. द्वि० सं० में पृष्ठ संख्या नहीं है। सं० ३ में दी गई है।

पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्चोत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति*॥ श० कां० १४॥[1]

पुत्रैषणा वित्तैषणा लोकैषणा मया परित्यक्ता, मत्तः सर्वभूतेभ्योऽभयमस्तु स्वाहा ॥

इस वाक्य को बोलके सब के सामने जल को भूमि में छोड़ देवे। पीछे नाभीमात्र जल में पूर्वाभिमुख खड़ा रहकर—

ओं भूः सावित्रीं प्रविशामि तत्सवितुर्वरेण्यम् ॥

ओं भुवः सावित्रीं प्रविशामि भर्गो देवस्य धीमहि ॥

ओं स्वः सावित्रीं प्रविशामि धियो यो नः प्रचोदयात् ॥

ओं भूर्भुवः स्वः सावित्रीं प्रविशामि परो रजसेऽसावदोम् ॥

इस का मन से जप करके प्रणवार्थ परमात्मा का ध्यान करके पूर्वोक्त (पुत्रैषणायाश्च०) इस समग्र कण्डिका को बोलके प्रेष्य मन्त्रोच्चारण करे—

ओं भूः संन्यस्तं मया। ओं भुवः संन्यस्तं मया। ओं स्वः संन्यस्तं मया ॥

इस मन्त्र का मन से उच्चारण करे। तत्पश्चात् जल से अञ्जली भर पूर्वाभिमुख होकर संन्यास लेनेवाला—

ओम् अभयं सर्वभूतेभ्यो मत्तः स्वाहा ॥

इस मन्त्र से दोनों हाथ की अञ्जली को पूर्व दिशा में छोड़ देवे।

---

* पुत्रादि के मोह, वित्तादि पदार्थों के मोह, और लोकस्थ प्रतिष्ठा की इच्छा से मन को हटाकर परमात्मा में आत्मा को दृढ़ करके जो भिक्षाचरण करते हैं, वे ही सब को सत्योपदेश से अभयदान देते हैं। अर्थात् दहने हाथ में जल लेके मैंने आज से पुत्रादि का तथा वित्त का मोह और लोक में प्रतिष्ठा की इच्छा करने का त्याग कर दिया, और मुझ से सब भूत प्राणीमात्र को अभय प्राप्त होवे, यह मेरी सत्य वाणी है॥ द० स०

---

१. शत० १४।६।४।१ में 'लोकैषणायाश्च व्युत्थाय' पाठ है। सत्यार्थप्रकाश (पृ० १८५, रालाकट्रसं०) में संस्कारविधि वाला ही पाठ है।

येना॑ स॒हस्रं॒ वह॑सि॒ येना॑ग्ने सर्ववेद॒सम् ।
तेने॒मं य॒ज्ञं नो॑ वह॒ स्व॑र्दे॒वेषु॒ गन्त॑वे† ॥

अथर्व० कां० ९ । सू० ५ । मं० १७ ॥

और इसी पर स्मृति है—

प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं सर्ववेदसदक्षिणाम् ।
आत्मन्यग्नीन् समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद् गृहात् ॥[1]

इस श्लोक का अर्थ पहिले लिख दिया है ।[2]

इस के पश्चात् मौन करके शिखा के लिये जो पांच वा सात केश रक्खे थे, उन को एक-एक उखाड़ और यज्ञोपवीत उतारकर हाथ में ले जल की अञ्जली भर—

ओमापो वै सर्वा देवताः स्वाहा ॥

ओं भूः स्वाहा ॥

इन मन्त्रों से शिखा के बाल और यज्ञोपवीत सहित जलाञ्जली को जल में होम कर देवे ।

उसके पश्चात् आचार्य शिष्य को जल से निकालके काषाय वस्त्र की कोपीन कटिवस्त्र उपवस्त्र अङ्गोछा प्रीतिपूर्वक देवे । और शिष्य पृष्ठ ११२ में लिखे प्रमाणे (यो मे दण्डः०)[3] इस मन्त्र से दण्ड धारण करके आत्मा में आहवनीयादि अग्नियों का आरोपण करे ।

---

†हे (अग्ने) विद्वन् ! (येन) जिससे (सहस्रम्) सब संसार को अग्नि धारण करता है, और (येन) जिस से तू (सर्ववेदसम्) गृहाश्रमस्थ पदार्थमोह यज्ञोपवीत और शिखा आदि को (वहसि) धारण करता है, उन को छोड़ । (तेन) उस त्याग से (नः) हमको (इमम्) इस संन्यासरूप (स्वाहा) सुख देनेहारे (यज्ञम्) प्राप्त होने योग्य यज्ञ को (देवेषु) विद्वानों में (गन्तवे) जाने को (वह) प्राप्त हो ॥ द० स०

---

१. मनु० ६।३८॥ २. द्र०—पृष्ठ २८४, पंक्ति १-४॥

३. संस्कार-विधि संस्करण २-२१ तक इसी मन्त्र का निर्देश मिलता है । स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी द्वारा संशोधित २२वें संस्करण में तथा २४-२४ में इस मन्त्र के स्थान पर 'इन्द्रस्य वज्रोऽसि...' (यजु० ९।५ का) मन्त्र छपा है । इस मन्त्र में दण्ड का निर्देश नहीं होने से त्याज्य है । सं० २५ में पुनःठीक किया ।

यो विद्याद् ब्रह्म प्रत्यक्षं परूंषि यस्य संभारा ऋचो यस्यानूक्यम् ॥१॥

सामानि यस्य लोमानि यजुर्हृदयमुच्यते परिस्तरणमिद्धविः ॥२॥

यद्वा अतिथिपतिरतिथीन् प्रति पश्यति देवयजनं प्रेक्षते ॥३॥

यदभिवदति दीक्षामुपैति यदुदकं याचत्यपः प्र णयति ॥४॥

---

१. (यः) जो पुरुष (प्रत्यक्षम्) साक्षात्कारता से (ब्रह्म) परमात्मा को (विद्यात्) जाने, (यस्य) जिस के (परूंषि) कठोर स्वभाव आदि (संभाराः) होम करने के साकल्य और (यस्य) जिस के (ऋचः) यथार्थ सत्यभाषण सत्योपदेश और ऋग्वेद ही (अनूक्यम्) अनुकूलता से कहने के योग्य वचन हैं, वही संन्यास ग्रहण करे ॥१॥[1] द० स०

२. (यस्य) जिस के (सामानि) सामवेद (लोमानि) लोम के समान, (यजुः) यजुर्वेद जिस के (हृदयम्) हृदय के समान (उच्यते) कहा जाता है, (परिस्तरणम्) जो सब ओर से शास्त्र आसन आदि सामग्री (हविरित्) होम करने योग्य के समान है, वह संन्यास ग्रहण करने में योग्य होता है ॥२॥[1] द० स०

३. (वा) वा (यत्) जो (अतिथिपतिः) अतिथियों का पालन करनेहारा (अतिथीन्) अतिथियों के प्रति (प्रतिपश्यति) देखता है, वही विद्वान् संन्यासियों में (देवयजनम्) विद्वानों के यजन करने के समान (प्रेक्षते) ज्ञानदृष्टि से देखता और संन्यास लेने का अधिकारी होता है ॥३॥ द० स०

४. और (यत्) जो संन्यासी (अभिवदति) दूसरे के साथ संवाद वा दूसरे को अभिवादन करता है, वह जानो (दीक्षाम्) दीक्षा को (उपैति) प्राप्त होता है। (यत्) जो (उदकम्) जल की (याचति) याचना करता है, वह जानो (अपः) प्रणीता आदि में जल को (प्रणयति) डालता है ॥४॥ द० स०

---

१. इन आरंभिक दो मन्त्रों के अर्थों के सम्बन्ध में वैदिक यन्त्रालय अजमेर के शताब्दी संस्करण से लेकर २४ वें संस्करण तक टिप्पणी छप रही है—"(१) और (२) मन्त्रों के हिन्दी अर्थ संवत् १९४१ की छपी संस्कार-विधि में नहीं हैं।" यह सर्वथा मिथ्या टिप्पणी है। संवत् १९४१ के सं० २ में पृष्ठ २०८ पर इन मन्त्रों के ये अर्थ छपे हुए मिलते हैं। २५ वें सं० में टिप्पणी निकाल दी।

या एव यज्ञ आपः प्रणीयन्ते ता एव ताः ॥५॥
यदावसथान् कल्पयन्ति सदोहविर्धानान्येव तत्कल्पयन्ति ॥६॥
यदुपस्तृणन्ति बर्हिरेव तत् ॥७॥
तेषामासन्नानामतिथिरात्मन् जुहोति ॥८॥
स्रुचा हस्तेन प्राणे यूपे स्रुक्कारेण वषट्कारेण ॥९॥
एते वै प्रियाश्चाप्रियाश्चर्त्विजः स्वर्गं लोकं गमयन्ति यदतिथयः ॥१०॥

---

५. (यज्ञे) यज्ञ में (याः एव) जिन्हीं (आपः) जलों का (प्रणीयन्ते) प्रयोग किया जाता है, (ता एव) वे ही (ताः) पात्र में रक्खे जल संन्यासी की यज्ञस्थ जलक्रिया है ॥५॥ द० स०

६. संन्यासी (यत्) जो (आवसथान्) निवास का स्थान (कल्पयन्ति) कल्पना करते हैं, वे (सदः) यज्ञशाला (हविर्धानान्येव) हविष् के स्थापन करने के ही पात्र (तत्) वे (कल्पयन्ति) समर्थित करते हैं ॥६॥ द० स०

७. और (यत्) जो संन्यासी लोग (उपस्तृणन्ति) बिछौने आदि करते हैं, (बर्हिरेव तत्) वह कुशपिंजूली के समान है ॥७॥ द० स०

८. और जो (तेषाम्) उन (आसन्नानाम्) समीप बैठनेहारों के निकट बैठा हुआ (अतिथिः) जिसकी कोई नियत तिथि न हो, वह भोजनादि करता है, वह (आत्मन्) जानो वेदीस्थ अग्नि में होम करने के समान आत्मा में (जुहोति) आहुतियां देता है ॥८॥ द० स०

९. और जो संन्यासी (हस्तेन) हाथ से खाता है, वह जानो (स्रुचा) चमसा आदि से वेदी में आहुति देता है। जैसा (यूपे) स्तम्भे में अनेक प्रकार के पशु आदि को बांधते हैं, वैसे वह संन्यासी (स्रुक्कारेण) स्रुचा के समान (वषट्कारेण) होमक्रिया के तुल्य (प्राणे) प्राण में मन और इन्द्रियों को बांधता है ॥९॥ द० स०

१०. (एते वै) ये ही (ऋत्विजः) समय-समय में प्राप्त होनेवाले (प्रियाः च अप्रियाः च) प्रिय और अप्रिय भी संन्यासी जन (यत्) जिस कारण (अतिथयः) अतिथिरूप हैं, इससे गृहस्थ को (स्वर्गं लोकम्) दर्शनीय अत्यन्त सुख को (गमयन्ति) प्राप्त कराते हैं ॥१०॥ द० स०

प्राजापत्यो वा एतस्य यज्ञो विततो य उपहरति ॥११॥

प्रजापतेर्वा एष विक्रमाननुविक्रमते य उपहरति ॥१२॥

योऽतिथीनां स आहवनीयो यो वेश्मनि स गार्हपत्यो यस्मिन् पचन्ति स दक्षिणाग्निः ॥१३॥

इष्टं च वा एष पूर्तं च गृहाणामश्नाति यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति ॥१४॥

अथर्व० कां० ९ । सू० ६ ॥[1]

---

११. (एतस्य) इस संन्यासी का (प्राजापत्यः) प्रजापति परमात्मा को जानने का आश्रमधर्मानुष्ठान रूप (यज्ञः) अच्छे प्रकार करने योग्य यतिधर्म (विततः) व्यापक है, अर्थात् (यः) जो इस को सर्वोपरि (उपहरति) स्वीकार करता है, (वै) वही संन्यासी होता है ॥११॥ द० स०

१२. (यः) जो (एषः) यह संन्यासी (प्रजापतेः) परमेश्वर के जानने रूप संन्यासाश्रम के (विक्रमान्) सत्याचारों की (अनुविक्रमते) अनुकूलता से क्रिया करता है, (वै) वही सब शुभगुणों का (उपहरित) स्वीकार करता है ॥१२॥ द० स०

१३. (यः) जो (अतिथीनाम्) अतिथि अर्थात् उत्तम संन्यासियों का सङ्ग है, (सः) वह संन्यासी के लिये (आहवनीयः) आहवनीय अग्नि अर्थात् जिसमें ब्रह्मचर्याश्रम में ब्रह्मचारी होम करता है। और (यः) जो संन्यासी का (वेश्मनि) घर में अर्थात् स्थान में निवास है, (सः) वह उसके लिये (गार्हपत्यः) गृहस्थ सम्बन्धी अग्नि है। और संन्यासी (यस्मिन्) जिस जाठराग्नि में अन्नादि को (पचन्ति) पकाते हैं, (सः) वह (दक्षिणाग्निः) वानप्रस्थ सम्बन्धी अग्नि है। इस प्रकार आत्मा में सब अग्नियों का आरोपण करे ॥१३॥ द० स०

१४. (यः) जो गृहस्थ (अतिथेः) संन्यासी से (पूर्वः) प्रथम (अश्नाति) भोजन करता है, (एषः) यह जानो (गृहाणाम्) गृहस्थों के (इष्टम्) इष्ट सुख (च) और उसकी सामग्री, (पूर्त्तम्) तथा जो ऐश्वर्यादि की पूर्णता (च) और उसके साधनों का (वै) निश्चय करके (अश्नाति) भक्षण अर्थात् नाश करता है। इसलिये जिस गृहस्थ के समीप अतिथि उपस्थित होवे, उसको पूर्व जिमाकर पश्चात् भोजन करना अत्युचित है ॥१४॥ द० स०

---

१. मन्त्र १-५, ७, ८, २१-२३, २८-३१ ॥

*[1]तस्यैवं विदुषो यज्ञस्यात्मा यजमानः श्रद्धा पत्नी शरीरमिध्ममुरो वेदिर्लोमानि बर्हिर्वेदः शिखा हृदयं यूपः काम आज्यं मन्युः पशुस्तपोऽग्निर्दमः शमयिता दक्षिणा वाग्घोता प्राण उद्गाता चक्षुरध्वर्युर्मनो ब्रह्मा श्रोत्रमग्नीत्। यावद् ध्रियते सा दीक्षा यदश्नाति तद्धविर्यत्पिबति तदस्य

*इसके आगे तैत्तिरीय आरण्यक का अर्थ करते हैं—(एवम्) इस प्रकार संन्यास ग्रहण किये हुए (तस्य) उस (विदुषः) विद्वान् संन्यासी के संन्यासाश्रमरूप (यज्ञस्य) अच्छे प्रकार अनुष्ठान करने योग्य यज्ञ का(यजमानः) प्रति (आत्मा) स्वस्वरूप है। और जो ईश्वर वेद और सत्य धर्माचरण परोपकार में (श्रद्धा) सत्य का धारण रूप दृढ़ प्रीति है, वह उस की (पत्नी) स्त्री है। और जो संन्यासी का (शरीरम्) शरीर है, वह(इध्मम्) यज्ञ के लिये इन्धन है। और जो उसका (उरः) वक्षःस्थल है, वह(वेदिः) कुण्ड। और जो उसके शरीर पर (लोमानि) रोम हैं, वे (बर्हिः) कुशा है। और जो (वेदः) वेद और उनका शब्दार्थ-सम्बन्ध जानकर आचरण करना है, वह संन्यासी की (शिखा) चोटी है। और जो संन्यासी का (हृदयम्)हृदय है, वह (यूपः) यज्ञ का स्तम्भ है। और जो इसके शरीर में (कामः) काम है, वह (आज्यम्) ज्ञान अग्नि में होम करने का पदार्थ है। और जो (मन्युः) संन्यासी में क्रोध है, वह (पशुः) निवृत्त करने अर्थात् शरीर के मलवत् छोड़ने के योग्य है। और जो संन्यासी (तपः) सत्यधर्मानुष्ठान प्राणायामादि योगाभ्यास करता है, वह (अग्निः) जानो वेदी का अग्नि है। जो संन्यासी (दमः) अधर्माचरण से इन्द्रियों को रोकके धर्माचरण में स्थिर रखके चलाता है, वह (शमयिता) जानो दुष्टों को दण्ड देनेवाला सभ्य है। और जो संन्यासी की (वाक्) सत्योपदेश करने के लिये वाणी है, वह जानो सब मनुष्यों को (दक्षिणा) अभयदान देना है। जो संन्यासी के शरीर में (प्राणः) प्राण है, वह (होता) होता के समान। जो (चक्षुः) चक्षु है, वह (उद्गाता) उद्गाता के तुल्य। जो (मनः) मन है वह (अध्वर्युः)अध्वर्यु के समान। जो (श्रोत्रम्) श्रोत्र है, वह (ब्रह्मा) ब्रह्मा और (अग्नीत्) अग्नि लानेवाले के तुल्य। (यावत् ध्रियते) जितना कुछ संन्यासी धारण करता है, (सा) वह

१. संस्करण २-१७ तक यह टिप्पणी का चिह्न 'वाग्घोता' पद पर मिलता है। हमने आदि में रखना उचित समझा है।

सोमपानम् । यद्रमते तदुपसदो यत्सञ्चरत्युपविशत्युत्तिष्ठते च स प्रवर्ग्यो यन्मुखम् तदाहवनीयो या व्याहृतिराहुतिर्यदस्य विज्ञानं तज्जुहोति यत्सायं प्रातरत्ति तत्समिधं यत्प्रातर्मध्यन्दिन॑ सायं च तानि सवनानि । ये अहोरात्रे ते दर्शपौर्णमासौ येऽर्द्धमासाश्च मासाश्च ते चातुर्मास्यानि य ऋतवस्ते पशुबन्धा ये संवत्सराश्च परिवत्सराश्च तेऽहर्गणाः सर्ववेदसं वा एतत्सत्रं यन्मरणं तदवभृथः । एतद्वै जरामर्यमग्निहोत्र॑ सत्रं य

(दीक्षा) दीक्षा-ग्रहण । और (यत्) जो संन्यासी (अश्नाति) खाता है, (तद्धविः) वह घृतादि साकल्य के समान । (यत् पिबति) और जो वह जल दुग्धादि पीता है, (तदस्य सोमपानम्) वह इस का सोमपान है । और (यद्रमते) वह जो इधर-उधर भ्रमण करता है, (तदुपसदः) वह उपसद उपसामग्री । (यत्संचरत्युपविशत्युत्तिष्ठते च) जो वह गमन करता बैठता और उठता है, (स प्रवर्ग्यः) वह इसका प्रवर्ग्य है । (यन्मुखम्) जो इसका मुख है, (तदाहवनीयः) वह संन्यासी को आहवनीय अग्नि के समान । (या व्याहृतिराहुतिर्यदस्य विज्ञानम्) जो संन्यासी का व्याहृति का उच्चारण करना वा जो इसका विज्ञान आहुतिरूप है, (तज्जुहोति) वह जानो होम कर रहा है । (यत्सायं प्रातरत्ति) संन्यासी जो सायं और प्रातःकाल भोजन करता है, (तत्समिधम्) वे समिधा हैं । (यत्प्रातर्मध्यन्दिन॑ सायं च) जो संन्यासी प्रातः मध्याह्न और सायंकाल में कर्म करता[1] है, (तानि सवनानि) वे तीन सवन । (ये अहोरात्रे) जो दिन और रात्रि हैं, (ते दर्शपौर्णमासौ) वे संन्यासी के पौर्णमासेष्टि और अमावास्येष्टि हैं । (येऽर्धमासाश्च मासाश्च) जो कृष्ण शुक्ल पक्ष और महीने हैं, (ते चातुर्मास्यानि) वे संन्यासी के चातुर्मास्य याग हैं । (य ऋतवः) जो वसन्तादि ऋतु हैं, (ते पशुबन्धाः) वे जानो संन्यासी के पशुबन्ध अर्थात् ६ पशुओं का बांधना रखना हैं । (ये संवत्सराश्च परिवत्सराश्च) जो संवत्सर और परिवत्सर अर्थात् वर्ष वर्षान्तर हैं, (तेऽहर्गणाः) वे संन्यासी के अहर्गण दो रात्रि वा तीन रात्रि आदि के व्रत हैं । जो (सर्ववेदसं वै) सर्वस्व दक्षिणा अर्थात् शिखा सूत्र यज्ञोपवीत आदि पूर्वाश्रम चिह्नों का त्याग करना है, (एतत्सत्रम्) यह सब से बड़ा यज्ञ है । (यन्मरणम्) जो संन्यासी का मृत्यु है, (तदवभृथः) वह यज्ञान्तस्नान है । (एत-

---

१. सस्करण २ में 'कर्त्ता' पाठ है ।

एवं विद्वानुदगयने प्रमीयते देवानामेव महिमानं गत्वादित्यस्य सायुज्यं गच्छत्यथ यो दक्षिणे प्रमीयते पितॄणामेव महिमानं गत्वा चन्द्रमसः सायुज्यं सलोकतामाप्नोत्येतौ वै सूर्याचन्द्रमसो-र्महिमानौ ब्राह्मणो विद्वानभिजयति तस्माद् ब्रह्मणो[1] महिमान-माप्नोति तस्माद् ब्रह्मणो[1] महिमानमित्युपनिषत् ॥

तैत्ति० [आ०] प्रपा १० । अनु० ६४ ॥

अथ संन्यासे पुनः प्रमाणानि—

*न्यास इत्याहुर्मनीषिणो ब्रह्माणम् । ब्रह्मा विश्वः कतमः स्वयम्भूः प्रजापतिः संवत्सर इति । संवत्सरोऽसावादित्यो यऽएष आदित्ये पुरुषः स परमेष्ठी ब्रह्मात्मा । याभिरादित्यस्तपति रश्मिभिस्ताभिः पर्जन्यो वर्षति पर्जन्येनौषधिवनस्पतयः प्रजा-

---

द्वै जरामर्यमग्निहोत्रᳬ सत्रम्) यही जरावस्था और मृत्युपर्यन्त अर्थात् यावज्जीवन है तावत्सत्योपदेश योगाभ्यासादि संन्यास के धर्म का अनुष्ठान अग्निहोत्र-रूप बड़ा दीर्घ यज्ञ है । (य एवं विद्वानुदगयने०) जो इस प्रकार विद्वान् संन्यास लेकर विज्ञान योगाभ्यास करके शरीर छोड़ता है, वह विद्वानों ही के महिमा को प्राप्त होकर स्वप्रकाशस्वरूप परमात्मा के संग को प्राप्त होता है । और जो योग विज्ञान से रहित है, सो सांसारिक दक्षिणायनरूप व्यवहार में मृत्यु को प्राप्त होता है । वह पुनः पुनः मातापिताओं ही के महिमा को प्राप्त होकर चन्द्रलोक के समान वृद्धि-क्षय को प्राप्त होता है । और जो इन दोनों के महिमाओं को विद्वान् ब्राह्मण अर्थात् संन्यासी जीत लेता है, वह उस से परे परमात्मा के महिमा को प्राप्त होकर मुक्ति के समय-पर्यन्त मोक्ष-सुख को भोगता है ॥ द० स०

*(न्यास इत्याहुर्मनीषिणः०) इस अनुवाक का अर्थ सुगम है । इसलिये भावार्थ कहते हैं—न्यास अर्थात् जो संन्यास शब्द का अर्थ पूर्व कह आये, उस रीति से जो संन्यासी होता है, वह परमात्मा का उपासक है । वह परमेश्वर सूर्यादि लोकों में व्याप्त और पूर्ण है कि जिसके प्रताप से सूर्य तपता है । उस तपने से वर्षा, वर्षा से ओषधी वनस्पति की उत्पत्ति, उनसे अन्न, अन्न से प्राण,

---

१. कुछ संस्करणों में 'ब्राह्मणो' पाठ मिलता है, वह अशुद्ध है ।

यन्त ओषधिवनस्पतिभिरन्नं भवत्यन्नेन प्राणाः प्राणैर्बलं बलेन तपस्तपसा श्रद्धा श्रद्धया मेधा मेधया मनीषा मनीषया मनो मनसा शान्तिः शान्त्या चित्तं चित्तेन स्मृतिꣳ स्मृत्या स्मारꣳ स्मारेण विज्ञानं विज्ञानेनात्मानं वेदयति तस्मादन्नं ददन्त्सर्वाण्येतानि ददात्यन्नात् प्राणा भवन्ति भूतानाम् । प्राणैर्मनो मनसश्च विज्ञानं विज्ञानादानन्दो ब्रह्मयोनिः । स वा एष पुरुषः पञ्चधा पञ्चात्मा येन सर्वमिदं प्रोतं पृथिवी चान्तरिक्षं च द्यौश्च दिशश्चावान्तरदिशश्च स वै सर्वमिदं जगत् स भूतꣳ स भव्यं जिज्ञासक्लृप्त ऋतजा रयिष्ठाः श्रद्धा सत्यो महस्वांस्तमसो वरिष्ठात् । ज्ञात्वा तमेवं मनसा हृदा च भूयो मृत्युमुपयाहि विद्वान् । तस्मात् न्यासमेषां तपसामतिरिक्तमाहुः । वसुरण्वो विभूरसि प्राणे त्वमसि संधाता ब्रह्मंस्त्वमसि विश्वसृत् तेजोदास्त्वमस्यग्नेरसि वर्चोदास्त्वमसि सूर्यस्य द्युम्नोदास्त्वमसि चन्द्रमस उपयामगृहीतोसि ब्रह्मणे त्वा महसे । ओमित्यात्मानं

प्राण से बल, बल से तप अर्थात् प्राणायाम योगाभ्यास, उस से श्रद्धा=सत्यधारण में प्रीति, उस से बुद्धि, बुद्धि से विचारशक्ति, उस से ज्ञान, ज्ञान से शान्ति, शान्ति से चेतनता, चित्त से स्मृति, स्मृति से पूर्वापर का ज्ञान, उससे विज्ञान, और विज्ञान से आत्मा को संन्यासी जानता और जनाता है । इसलिये अन्नदान श्रेष्ठ, जिससे प्राण बल विज्ञानादि होते हैं । जो प्राणों का आत्मा, जिस से यह सर्व जगत् ओतप्रोत व्याप्त हो रहा है, वह सब जगत् का कर्त्ता, वही पूर्वकल्प और उत्तरकल्प में भी जगत् को बनाता है । उसके जानने की इच्छा स उसको जानकर हे संन्यासिन् ! तू पुनः पुनः मृत्यु को प्राप्त मत हो, किन्तु मुक्ति के पूर्ण सुख को प्राप्त हो । इसलिये सब तपों का तप सब से पृथक् उत्तम संन्यास को कहते हैं । हे परमेश्वर ! जो तू सब में वास करता हुआ विभु है, तू प्राण का प्राण, सब का सन्धान करनेहारा, विश्व का स्रष्टा धर्त्ता, सूर्यादि को तेजदाता है । तू ही अग्नि से तेजस्वी, तू ही विद्यादाता, तू ही सूर्य का कर्त्ता, तू ही चन्द्रमा के प्रकाश का प्रकाशक है । वह सब से बड़ा पूजनीय देव है । (ओम्) इस मन्त्र का मन से उच्चारण

युञ्जीत । एतद्वै महोपनिषदं देवानां गुह्यम् । य एवं वेद ब्रह्मणो महिमानमाप्नोति तस्माद् ब्रह्मणो महिमानमित्युपनिषत् ॥

तैत्ति० [आ०] प्रपा० १० । अनु० ६३ ॥

संन्यासी का कर्त्तव्याऽकर्त्तव्य

दृते दृꣳह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम् ।
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे ।
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ॥१॥

यजु० अ० ३६ । मं० १८ ॥

ओम् अग्ने नय सुपथा रायेऽअस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठान्ते नमऽउक्तिं विधेम स्वाहा ॥२॥

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न वि चिकित्सति ॥३॥
यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोकऽएकत्वमनुपश्यतः ॥४॥

यजु० अ० ४० । मं० १६, ६, ७ ॥

परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च ।
उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभि सं विवेश ॥५॥

य० अ० ३२ । मं० ११ ॥

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः ।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत् तद्विदुस्त इमे समासते ॥६॥

ऋ० मं० १ । सू० १६४ । मं० ३९ ॥

करके परमात्मा में आत्मा को युक्त करे । जो इस विद्वानों के ग्राह्य महोत्तम विद्या को उक्त प्रकार से जानता है, वह संन्यासी परमात्मा के महिमा को प्राप्त होकर आनन्द में रहता है । द० स०

समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो निवेशितस्यात्मनि यत् सुखं भवेत् ।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते ॥७॥
कठवल्ली[1] ॥

अर्थः—हे (दृते) सर्वदुःखविदारक परमात्मन् ! तू (मा) मुझको संन्यासमार्ग में (दृंह) बढ़ा । हे सर्वमित्र ! तू (मित्रस्य) सर्वसुहृद् आप्त पुरुष की (चक्षुषा) दृष्टि से (मा) मुझ को सब का मित्र बना । जिससे (सर्वाणि) सब (भूतानि) प्राणिमात्र मुझ को मित्र की दृष्टि से (समीक्षन्ताम्) देखें । और (अहम्) मैं (मित्रस्य) मित्र की (चक्षुषा) दृष्टि से (सर्वाणि भूतानि) सब जीवों को (समीक्षे) देखूं । इस प्रकार आपकी कृपा और अपने पुरुषार्थ से हम लोग एक दूसरे को (मित्रस्य चक्षुषा) सुहृद्भाव की दृष्टि से (समीक्षामहे) देखते रहें ॥१॥

हे (अग्ने) स्वप्रकाशस्वरूप, सब दुःखों के दाहक, (देव) सब सुखों के दाता परमेश्वर ! (विद्वान्) आप (राये) योग-विज्ञानरूप धन की प्राप्ति के लिये (सुपथा) वेदोक्त धर्ममार्ग से (अस्मान्) हम को (विश्वानि) सम्पूर्ण (वयुनानि) प्रज्ञान और उत्तम कर्मों को (नय) कृपा से प्राप्त कीजिये । और (अस्मत्) हम से (जुहुराणम्) कुटिल पक्षपातसहित (एनः) अपराध पाप कर्म को (युयोधि) दूर रखिये, और इस अधर्माचरण से हम को सदा दूर रखिये । इसीलिये (ते) आप ही की (भूयिष्ठाम्) बहुत प्रकार (नमउक्तिम्) नमस्कारपूर्वक प्रशंसा को नित्य (विधेम) किया करें ॥२॥

(यः) जो संन्यासी (तु) पुनः (आत्मन्नेव) आत्मा में अर्थात् परमेश्वर ही में, तथा अपने आत्मा के तुल्य (सर्वाणि भूतानि)

---

१. संस्करण २-१० तक यही पाठ है । संस्करण १२ से २१ तक 'कठवल्ली' के स्थान में 'श्वेताश्वतर' पाठ मिलता है । २२वें संस्करण से मैत्रायणी उपनिषद्' पाठ छप रहा है । उपरि उद्धृत पाठ न तो कठ उपनिषद् में है, और न श्वेताश्वतर उपनिषद् में । मै० उ० प्र० ४।९ में 'भवेत्' के स्थान पर 'लभेत्' पाठ मिलता है । मैत्रायणी आ० ६।३४।९ में 'निर्धूत' के स्थान में 'निर्धौत' पाठ है । अक्षरशः पाठ 'भवसंतरणोपनिषद्' ३।३१ में उपलब्ध होता है ।

सम्पूर्ण जीव और जगत्स्थ पदार्थों को (अनुपश्यति) अनुकूलता से देखता है, (च) और (सर्वभूतेष) सम्पूर्ण प्राणी अप्राणियों में (आत्मानम्) परमात्मा को देखता है, (ततः) इस कारण वह किसी व्यवहार में (न विचिकित्सति) संशय को प्राप्त नहीं होता, अर्थात् परमेश्वर को सर्वव्यापक सर्वान्तर्यामी सर्वसाक्षी जानके अपने आत्मा के तुल्य सब प्राणीमात्र को हानि-लाभ सुख-दुःखादि व्यवस्था में देखे, वही उत्तम संन्यासधर्म को प्राप्त होता है ॥३॥

(विजानतः) विज्ञानयुक्त संन्यासी का (यस्मिन्) जिस पक्षपातरहित धर्मयुक्त सन्यास में (सर्वाणि भूतानि) सब प्राणीमात्र (आत्मैव) आत्मा ही के तुल्य जानना, अर्थात् जैसा अपना आत्मा अपने को प्रिय है, उसी प्रकार का निश्चय (अभूत्) होता है, (तत्र) उस संन्यासाश्रम में (एकत्वमनुपश्यतः) आत्मा के एकभाव को देखनेवाले संन्यासी को (को मोहः) कौनसा मोह और (कः शोकः) कौनसा शोक होता है ? अर्थात् न उसको किसी से कभी मोह और न शोक होता है। इसलिये संन्यासी मोहशोकादि दोषों से रहित होकर सदा सब का उपकार करता रहे ॥४॥

इस प्रकार परमात्मा की स्तुति प्रार्थना और धर्म में दृढ़ निष्ठा करके, जो (भूतानि) सम्पूर्ण पृथिव्यादि भूतों में (परीत्य) व्याप्त (लोकान्) सम्पूर्ण लोकों में (परीत्य) पूर्ण हो, और (सर्वाः) सब (प्रदिशो दिशश्च) दिशा और उपदिशाओं में (परीत्य) व्यापक होके स्थित है, (ऋतस्य) सत्यकारण के योग से (प्रथमजाम्) सब महत्तत्त्वादि सृष्टि को धारण करके पालन कर रहा है, उस (आत्मानम्) परमात्मा को संन्यासी (आत्मना) स्वात्मा से (उपस्थाय) समीप स्थित होकर उसमें (अभिसंविवेश) प्रतिदिन समाधियोग से प्रवेश किया करे ॥५॥

हे संन्यासी लोगो ! (यस्मिन्) जिस (परमे) सर्वोत्तम (व्योमन्) आकाशवत् व्यापक (अक्षरे) नाशरहित परमात्मा में (ऋचः) ऋग्वेदादि वेद और (विश्वे) सब (देवाः) पृथिव्यादि लोक और समस्त विद्वान् (अधिनिषेदुः) स्थित हुए और होते हैं, (यः) जो जन (तत्) उस व्यापक परमात्मा को (न वेद) नहीं जानता, वह (ऋचा) वेदादि शास्त्र पढ़ने से (किं करिष्यति) क्या सुख वा

लाभ कर लेगा ? अर्थात् विद्या के विना परमेश्वर का ज्ञान कभी नहीं होता। और विद्या पढ़के भी जो परमेश्वर को नहीं जानता, और न उस की आज्ञा में चलता है, वह मनुष्य-शरीर धारण करके निष्फल चला जाता है। और (ये) जो विद्वान् लोग (तत्) उस ब्रह्म को (विदुः) जानते हैं, (ते इमे इत्) वे ये ही उस परमात्मा में (समासते) अच्छे प्रकार समाधियोग से स्थिर होते हैं ॥६॥

(समाधिनिर्धूतमलस्य) समाधियोग से निर्मल (चेतसः) चित्त के सम्बन्ध से (आत्मनि) परमात्मा में (निवेशितस्य) निश्चल प्रवेश कराये हुए जीव को (यत्) जो (सुखम्) सुख (भवेत्) होवे, वह (गिरा) वाणी से (वर्णयितुम् न शक्यते) कहा नहीं जा सकता। क्योंकि (तदा) तब वह समाधि में स्वयं स्थित जीवात्मा (तत्) उस ब्रह्म को (अन्तःकरणेन) शुद्ध अन्तःकरण से (गृह्यते) ग्रहण करता है, वह वर्णन करने में पूर्णरीति से कभी नहीं आ सकता। इसलिये संन्यासी लोग परमात्मा में स्थित रहें, और उसकी आज्ञा अर्थात् पक्षपात-रहित न्याय धर्म में स्थित होकर सत्योपदेश सत्यविद्या के प्रचार से सब मनुष्यों को सुख पहुंचाता रहे ॥७॥

संमानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव ।
अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा ॥१॥[1]

यमान् सेवेत सततं न नियमान् केवलान् बुधः ।
यमान् पतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन् ॥२॥[2]

अर्थः—संन्यासी जगत् के सन्मान से विष के तुल्य डरता रहे, और अमृत के समान अपमान की चाहना करता रहे। क्योंकि जो अपमान से डरता और मान की इच्छा करता है, वह प्रशंसक होकर मिथ्यावादी और पतित हो जाता है। इसलिये चाहे निन्दा चाहे प्रशंसा, चाहे मान्य चाहे अपमान, चाहे जीना चाहे मृत्यु, चाहे हानि

१. मनु० २।१६२ ॥

२. द्र०—मनु० ४।२०४ मनु० में द्वितीय चरण का पाठ 'न नित्यं नियमान् बुधः' है। सं० प्र० समु० ३ संस्करण २ में भी संस्कारविधिवाला ही पाठ है।

चाहे लाभ हो, चाहे कोई प्रीति करे चाहे वैर बांधे, चाहे अन्न पान वस्त्र उत्तम स्थान न मिले वा मिले, चाहे शीत उष्ण कितना ही क्यों न हो, इत्यादि सब का सहन करे। और अधर्म का खण्डन तथा धर्म का मण्डन सदा करता रहे। इस से परे उत्तम धर्म दूसरे किसी को न माने। परमेश्वर से भिन्न किसी की उपासना न करे। न वेदविरुद्ध कुछ माने। परमेश्वर के स्थान में सूक्ष्म वा स्थूल तथा जड़ और जीव को भी कभी न माने। आप सदा परमेश्वर को अपना स्वामी माने और आप सेवक बना रहे। वैसा ही उपदेश अन्य को भी किया करे। जिस-जिस कर्म से गृहस्थों की उन्नति हो, वा माता, पिता, पुत्र, स्त्री, पति, बन्धु, वहिन, मित्र, पड़ोसी, नौकर, बड़े और छोटों में विरोध छूट कर प्रेम बढ़े, उस-उस का उपदेश करे।

जो वेद से विरुद्ध मतमतान्तर के ग्रन्थ बायविल कुरान पुराण मिथ्याभिलाप तथा काव्यालङ्कार[1] कि जिनके पढ़ने-सुनने से मनुष्य विषयी और पतित हो जाते हैं, उन सबका निषेध करता रहे। विद्वानों और परमेश्वर से भिन्न न किसी को देव, तथा विद्या योगाभ्यास सत्सङ्ग और सत्यभाषणादि से भिन्न न किसी को तीर्थ, और विद्वानों की मूर्त्तियों से भिन्न पाषाणादि मूर्त्तियों को न माने न मनवावे। वैसे ही गृहस्थों को माता पिता आचार्य अतिथि स्त्री के लिये विवाहित पुरुष और पुरुष के लिये विवाहित स्त्री की मूर्त्ति से भिन्न किसी की मूर्त्ति को पूज्य न समझावे। किन्तु वैदिकमत की उन्नति और वेद-विरुद्ध पाखण्डमतों के खण्डन करने में सदा तत्पर रहे।

वेदादि शास्त्रों में श्रद्धा और तद्विरुद्ध ग्रन्थों वा मतों में अश्रद्धा किया कराया करे। आप शुभ गुण कर्म स्वभावयुक्त होकर सब को इसी प्रकार के करने में प्रयत्न किया करे। और जो पूर्वोक्त उपदेश लिखे हैं, उन-उन अपने संन्यासाश्रम के कर्त्तव्य कर्मों को किया करे। खण्ड-नीय कर्मों का खण्डन करना कभी न छोड़े। आसुर अर्थात् अपने को ईश्वर ब्रह्म माननेवालों का भी यथावत् खण्डन करता रहे। परमेश्वर के गुण कर्म स्वभाव और न्याय आदि गुणों का प्रकाश करता रहे। इस प्रकार कर्म करता हुआ स्वयं आनन्द में रहकर सब को आनन्द में रक्खे।

सर्वदा (अहिंसा) निर्वैरता, (सत्यम्) सत्य बोलना सत्य मानना

१. जिन ग्रन्थों में अश्लील उदाहरण दिये हैं, उनका निषेध किया है।

सत्य करना, (अस्तेयम्) मन कर्म वचन से अन्याय करके पर-पदार्थ का ग्रहण न करना चाहिए,न किसी को करने का उपदेश करे। (ब्रह्मचर्यम्) सदा जितेन्द्रिय होकर अष्टविध मैथुन का त्याग रखके वीर्य की रक्षा और उन्नति करके चिरञ्जीवि होकर सब का उपकार करता रहे। (अपरिग्रहः) अभिमानादि दोष रहित, किसी संसार के धनादि पदार्थों में मोहित होकर कभी न फंसे। इन ५ पांच यमों का सेवन सदा किया करे। और इन के साथ ५ पांच नियम अर्थात् (शौच) बाहर भीतर से पवित्र रहना। (सन्तोष) पुरुषार्थ करते जाना और हानि-लाभ में प्रसन्न और अप्रसन्न न होना। (तपः) सदा पक्षपात-रहित न्यायरूप धर्म का सेवन प्राणायामादि योगाभ्यास करना। (स्वाध्याय) सदा प्रणव का जप अर्थात् मन में चिन्तन और उसके अर्थ ईश्वर का विचार करते रहना।(ईश्वरप्रणिधान) अर्थात् अपने आत्मा को वेदोक्त परमेश्वर की आज्ञा में समर्पित करके परमानन्द परमेश्वर के सुख को जीता हुआ भोगकर शरीर छोड़के सर्वानन्दयुक्त मोक्ष को प्राप्त होना संन्यासियों के मुख्य कर्म हैं।

हे जगदीश्वर सर्वशक्तिमन् सर्वान्तर्यामिन् दयालो न्यायकारिन् सच्चिदानन्द अनन्त नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्तस्वभाव अजर अमर पवित्र परमात्मन्! आप अपनी कृपा से संन्यासियों को पूर्वोक्त कर्मों में प्रवृत्त रखके परम मुक्ति-सुख को प्राप्त कराते रहिये॥

इति संन्यास-संस्कारविधिः समाप्तः॥



अथान्त्येष्टिकर्मविधिं वक्ष्यामः

'अन्त्येष्टि' कर्म उसको कहते हैं कि जो शरीर के अन्त का संस्कार है। जिसके आगे उस शरीर के लिये कोई भी अन्य संस्कार नहीं है। इसी को नरमेध पुरुषमेध नरयाग पुरुषयाग भी कहते हैं।

भस्मान्तꣳ शरीरम् ॥ यजु० अ० ४० । मं० १५ ॥

निषेकादिश्मशानान्तो मन्त्रैर्यस्योदितो विधिः ॥ मनु०[1]

अर्थः—इस शरीर का संस्कार (भस्मान्तम्) अर्थात् भस्म करने पर्यन्त है ॥ १ ॥

शरीर का आरम्भ ऋतुदान और अन्त में श्मशान अर्थात् मृतक कर्म है ॥ २ ॥

(प्रश्न) गरुड़पुराण आदि में दशगात्र एकादशाह द्वादशाह सपिण्डी कर्म मासिक वार्षिक गयाश्राद्ध आदि क्रिया लिखीं हैं, क्या ये सब असत्य हैं ?

(उत्तर) हां ! अवश्य मिथ्या हैं। क्योंकि वेदों में इन कर्मों का विधान नहीं है, इसलिये अकर्त्तव्य हैं। और मृतक जीव का सम्बन्ध पूर्व सम्बन्धियों के साथ कुछ भी नहीं रहता, और न इन जीते हुए सम्बन्धियों का। वह जीव अपने कर्म के अनुसार जन्म पाता है।

(प्रश्न) मरण के पीछे जीव कहां जाता है ?

(उत्तर) यमालय को।

(प्रश्न) यमालय किसको कहते हैं ?

(उत्तर) वाय्वालय को।

(प्रश्न) वाय्वालय किसको कहते हैं ?

(उत्तर) अन्तरिक्ष को, जो कि यह पोल है।

(प्रश्न) क्या गरुड़पुराण आदि में [जो] यमलोक लिखा है, वह झूठा है ?

(उत्तर) अवश्य मिथ्या है।

---

१. मनु० २।१६॥

(प्रश्न) पुनः संसार क्यों मानता है ?

(उत्तर) वेद के अज्ञान और उपदेश के न होने से। जो यम की कथा लिख रक्खी है वह सब मिथ्या है, क्योंकि यम इतने पदार्थों का नाम है—

षळिद् यमा ऋषयो देवजा इति ॥
ऋ०मं० १। सू० १६४। मं० १५॥

शकेम वाजिनो यमम् ॥ ऋ० मं० २। सू० ५। मं० १॥

यमाय जुहुता हविः। यमं ह यज्ञो गच्छत्यग्निदूतो अरंकृतः॥
ऋ० मं० १०। सू० १४। मं० १३॥

यमः सूयमानो विष्णुः सम्भ्रियमाणो वायुः पूयमानः॥
यजु० अ ८। मं० ५७॥

वाजिनं यमम् ॥ ऋ० मं० ८। सू० २४। मं० २२॥

यमं मातरिश्वानमाहुः ॥ऋ० मं० १। सू० १६४। मं० ४६॥

अर्थः—यहां ऋतुओं का यम नाम है ॥ १ ॥
यहां परमेश्वर का नाम [है]॥ २ ॥
यहां अग्नि का नाम [है]॥ ३ ॥
यहां वायु, विद्युत्, सूर्य के यम नाम हैं ॥ ४॥
यहां भी वेगवाला होने से वायु का नाम यम है ॥ ५ ॥
यहां परमेश्वर का नाम यम है ॥ ६ ॥[1]

इत्यादि पदार्थों का नाम 'यम' है। इसलिये पुराण आदि की सब कल्पना झूठी हैं।

विधिः[2]—संस्थिते भूमिभागं खानयेद् दक्षिणपूर्वस्यां दिशि दक्षिणापरस्यां वा ॥१॥

दक्षिणाप्रवणं प्राग्दक्षिणाप्रवणं वा प्रत्यग्दक्षिणाप्रवण-मित्येके ॥२॥

---

१. संस्करण २ में यह संख्या 'झूठी हैं' के बाद अस्थान में लगी है।

२. सं० वि० संस्करण १८ से 'विधि' के स्थान पर 'इसमें प्रमाण' पाठ मिलता है।

यावानुद्बाहुकः पुरुषस्तावदायामम् [व्याममात्रं तिर्यक्][1] ॥३॥

वितस्त्यर्वाक् ॥४॥[2]

केशश्मश्रुलोमनखानीत्युक्तं पुरस्तात् ॥५॥

द्विगुल्फं बर्हिराज्यं च ॥६॥

दधन्यत्र सर्पिरानयन्त्येतत् पित्र्यं पृषदाज्यम् ॥ ७ ॥

अथैतां दिशमग्नीन् नयन्ति यज्ञपात्राणि च ॥८॥[3]

अर्थः—जब कोई मर जावे, तब यदि पुरुष हो तो पुरुष और स्त्री हो तो स्त्रियां उसको स्नान करावें। चन्दनादि सुगन्धलेपन और नवीन वस्त्र धारण करावें। जितना उसके शरीर का भार हो उतना घृत, यदि अधिक सामर्थ्य हो तो अधिक लेवें। और जो महादरिद्र भिक्षुक हो कि जिसके पास कुछ भी नहीं है, उसको कोई श्रीमान् वा पंच बनके आध मन से कम घी न देवें। और श्रीमान् लोग शरीर के बराबर तोलके चन्दन, सेर भर घी में एक रत्ती कस्तूरी, एक मासा केसर, एक-एक मण घी के साथ सेर-सेर भर अगर तगर और घृत में चन्दन का चूरा भी यथाशक्ति डाल कपूर पलाश आदि के पूर्ण काष्ठ, शरीर के भार से दूनी सामग्री[4] श्मशान में पहुंचावें। तत्पश्चात् मृतक को वहां श्मशान में ले जाय।

यदि प्राचीन वेदी बनी हुई न हो, तो नवीन वेदी भूमि में खोदे। वह श्मशान का स्थान बस्ती से दक्षिण[5] तथा आग्नेय अथवा नैर्ऋत्य कोण[5] में हो, वहां भूमि को खोदे। मृतक के पग दक्षिण

१. यह पाठ सं० वि० संस्करण २ से १७ तक नहीं मिलता है, परन्तु भावार्थ में इसकी व्याख्या है। अतः हमने इसे मुद्रण प्रमाद से छूटा हुआ मानकर बढ़ाया है।

२. यही पाठ सं०वि० संस्करण एक में भी है। गृह्यसूत्र में 'वितस्त्यवाक्' पाठ मिलता है। भाषार्थ दोनों संस्करणों में 'अवाक्' का ही किया है।

३. आश्व० गृह्य ४।१।६-१०, १५-१७ तथा ४।२।१॥

४. अर्थात् पूर्व निर्देशानुसार बराबर का घी और बराबर चन्दन।

५. सूत्रानुसार यहां पाठ 'दक्षिण पूर्व अर्थात् आग्नेय, अथवा दक्षिण पश्चिम अर्थात् नैर्ऋत्य कोण होना चाहिये। परन्तु सं० वि० के उक्त पाठ

नैर्ऋत्य अथवा आग्नेय कोण में रहें। शिर उत्तर ईशान वा वायव्य कोण में रहे ॥१॥

मृतक के पग की ओर वेदी के तले में नीचा, और शिर की ओर थोड़ा ऊंचा रहे ॥ २ ॥

उस वेदी का परिमाण पुरुष खड़ा होकर ऊपर को हाथ उठावे उतनी लम्बी, और[1] दोनों हाथों को लम्बे उत्तर दक्षिण पार्श्व में करने से जितना परिमाण हो, अर्थात् मृतक के साढ़े तीन हाथ अथवा तीन हाथ ऊपर से चौड़ी होवे, और छाती के बराबर गहरी होवे ॥३॥

और नीचे आध हाथ अर्थात् एक बीता भर रहे [॥ ४ ॥][2]

उस वेदी में थोड़ा-थोड़ा जल छिटकावे। यदि गोमय उपस्थित हो तो लेपन भी करदे। उसमें नीचे से आधी वेदी तक लकड़ियां चिने, जैसे कि भित्ती में ईंटें चिनी जाती हैं, अर्थात् बराबर जमाकर लकड़ियां धरे। लकड़ियों के बीच में थोड़ा-थोड़ा कपूर, थोड़ी-थोड़ी दूर पर रक्खे। उसके ऊपर मध्य में मृतक को रक्खे, अर्थात् चारों ओर वेदी बराबर खाली रहे। और पश्चात् चारों ओर और ऊपर चन्दन

और अगले वाक्य से प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार के मत में सूत्रपाठ में भी 'खानयेद् दक्षिणस्यां दक्षिणपूर्वस्यां दिशि' पाठ है। प्रथम संस्करण में भी सूत्रपाठ द्वि० संस्करण के समान ही है।

१. अगले भाषार्थ का मूल सूत्र संस्करण २-१७ तक नहीं है। प्रथम संस्करण में सूत्र तथा उसका भाषार्थ दोनों नहीं हैं।

२. अगले ५—८ सूत्रों का भाषार्थ यहां नहीं है। संस्कारविधि संस्करण १ में इनका भाषार्थ इस प्रकार है—

[५] तदनन्तर मृतक का केश दाढ़ी, मूछ सब छेदन करा दे, अर्थात् क्षौर करादे…।

[६] तदनन्तर मृतक के शरीर प्रमाणे बराबर घी और कपूर चन्दनादि सुगन्ध साथ लेके और उसको शुद्ध करके रखें। न्यून से न्यून बीस सेर घी अवश्य होना चाहिये। [द्विगुल्फं प्रभूतं बर्हिराज्यं च उपकल्पयेद् इति गार्ग्यनारायणष्टीकाकृत्।

[७] [दही में घृत मिलावे] इसी का नाम पित्र्य पृषदाज्य है।

[८] तदनन्तर अग्निप्रवेश उसमें करे। जां अग्निहोत्री होय, तो यज्ञ-पात्र सूत्रोक्त रीति से अङ्ग-अङ्ग पर धर दे।

तथा पलाश आदि के काष्ठ बराबर चिने। वेदी से ऊपर एक बीता भर लकड़ियां चिनें।

जब तक यह क्रिया होवे, तब तक अलग चूल्हा बना अग्नि जला घृत तपा और छानकर पात्रों में रक्खे। उसमें कस्तूरी आदि सब पदार्थ मिलावे। लम्बी-लम्बी लकड़ियों में चार चमसों को, चाहे वे लकड़ी के हों वा चांदी सोने के अथवा लोहे के हों, जिस चमसा में एक छटांक भर से अधिक और आधी छटांक भर से न्यून घृत न आवे, खूब दृढ़ बन्धनों से डण्डों के साथ बांधें। पश्चात् घृत का दीपक करके कपूर में लगाकर शिर से आरम्भ कर पादपर्यन्त मध्य-मध्य में अग्नि प्रवेश करावे।

अग्निप्रवेश कराके—

ओमग्नये स्वाहा॥ ओं सोमाय स्वाहा॥
ओं लोकाय स्वाहा॥ ओमनुमतये स्वाहा॥
ओं स्वर्गाय लोकाय स्वाहा॥[1]

इन ५ पांच मन्त्रों से आहुतियां देके अग्नि को प्रदीप्त होने देवे। तत्पश्चात् चार मनुष्य पृथक्-पृथक् खड़े रह कर वेदों के मन्त्रों से आहुति देते जायें, जहां 'स्वाहा' आवे वहां आहुति छोड़ देवें।

अथ वेदमन्त्राः

सूर्यं चक्षुर्गच्छतु वातमात्मा द्यां च गच्छ पृथिवीं च धर्मणा।
अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितमोषधीषु प्रति तिष्ठा शरीरैः स्वाहा॥१॥

अजो भागस्तपसा तं तपस्व तं ते शोचिस्तपतु तं ते अर्चिः।
यास्ते शिवास्तन्वो जातवेदस्ताभिर्वहैनं सुकृतामु लोकं स्वाहा॥२॥

अव सृज पुनरग्ने पितृभ्यो यस्त आहुतश्चरति स्वधाभिः।
आयुर्वसान उप वेतु शेषः सं गच्छतां तन्वा जातवेदः स्वाहा॥३॥

---

१ आश्व० गृह्य ४।३।२५-२६॥

अग्नेर्वर्म परि गोभिर्व्ययस्व संप्रोर्णुष्व पीवसा मेदसा च ।
नेत्त्वा धृष्णुर्हरसा जर्हृषाणो दधृग्विधक्ष्यन् पर्यङ्खयाते स्वाहा ॥४॥

यं त्वमग्ने समदहस्तमु निर्वापया पुनः ।
कियाम्ब्वत्र रोहतु पाकदूर्वा व्यल्कशा स्वाहा ॥५॥

ऋ० मं० १० । सू० १६ । मं० ३,४, ५, ७, १३ ॥[2]

परेयिवांसं प्रवतो महीरनु बहुभ्यः पन्थामनुपस्पशानम् ।
वैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं हविषा दुवस्य स्वाहा ॥६॥

यमो नो गातुं प्रथमो विवेद नैषा गव्यूतिरपभर्तवा उ ।
यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुरेना जज्ञानाः पथ्या३अनु स्वाः स्वाहा ॥७॥

मातली कव्यैर्यमो अङ्गिरोभिर्बृहस्पतिर्ऋक्वभिर्वावृधानः ।
याँश्च देवा वावृधुर्ये च देवान्त्स्वाहान्ये स्वधयान्ये मदन्ति स्वाहा ॥८॥

इमं यम प्रस्तरमा हि सीदाङ्गिरोभिः पितृभिः संविदानः ।
आ त्वा मन्त्राः कविशस्ता वहन्त्वेना राजन्हविषा मादयस्व स्वाहा ॥९॥

अङ्गिरोभिरा गहि यज्ञियेभिर्यम वैरूपैरिह मादयस्व ।
विवस्वन्तं हुवे यः पिता तेऽस्मिन्यज्ञे बर्हिष्या निषद्य स्वाहा ॥१०॥

प्रेहि प्रेहि पथिभिः पूर्व्येभिर्यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुः ।
उभा राजाना स्वधया मदन्ता यमं पश्यामि वरुणं च देवं स्वाहा ॥११

सं गच्छस्व पितृभिः सं यमेनेष्टापूर्तेन परमे व्योमन् ।
हित्वायावद्यं पुनरस्तमेहि सं गच्छस्व तन्वा सुवर्चाः स्वाहा ॥१२॥

अपेत वीत वि च सर्पतातोऽस्मा एतं पितरो लोकमक्रन् ।
अहोभिरद्भिरक्तुभिर्व्यक्तं यमो ददात्यवसानमस्मै स्वाहा ॥१३॥

---

२. 'स्वाहा' पद मन्त्रों से बहिर्भूत है । स्वरचिह्न भी हमने लगाये हैं ।

यमाय सोमं सुनुत यमाय जुहुता हविः ।
यमं ह यज्ञो गच्छत्यग्निदूतो अरंकृतः स्वाहा ॥१४॥
यमाय घृतवद्धविर्जुहोत प्र च तिष्ठत ।
स नो देवेष्वा यमद्दीर्घमायुः प्र जीवसे स्वाहा ॥१५॥
यमाय मधुमत्तमं राज्ञे हव्यं जुहोतन ।
इदं नम ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः पूर्वेभ्यः पथिकृद्भ्यः स्वाहा ॥१६॥

ऋ० मं० १०। सू० १४॥[1]

कृष्णः श्वेतोऽरुषो यामो अस्य ब्रध्न ऋज्र उत शोणो यशस्वान् ।
हिरण्यरूपं जनिता जजान स्वाहा ॥१७॥

ऋ० मं० १०। सू० २०। मं० ९॥

इन ऋग्वेद के मन्त्रों से चारों जने १७ सत्रह आज्याहुति देकर, निम्नलिखित मन्त्रों से उसी प्रकार आहुति देवें—

प्राणेभ्यः साधिपतिकेभ्यः स्वाहा ॥१॥ पृथिव्यै स्वाहा ॥२॥
अग्नये स्वाहा ॥३॥ अन्तरिक्षाय स्वाहा ॥४॥
वायवे स्वाहा ॥५॥ दिवे स्वाहा ॥६॥
सूर्याय स्वाहा ॥७॥ दिग्भ्यः स्वाहा ॥८॥
चन्द्राय स्वाहा ॥९॥ नक्षत्रेभ्यः स्वाहा ॥१०॥
अद्भ्यः स्वाहा ॥११॥ वरुणाय स्वाहा ॥१२॥
नाभ्यै स्वाहा ॥१३॥ पूताय स्वाहा ॥१४॥
वाचे स्वाहा ॥१५॥ प्राणाय स्वाहा ॥१६॥
प्राणाय स्वाहा ॥१७॥ चक्षुषे स्वाहा ॥१८॥
चक्षुषे स्वाहा ॥१९॥ श्रोत्राय स्वाहा ॥२०॥
श्रोत्राय स्वाहा ॥२१॥ लोमभ्यः स्वाहा ॥२२॥

१. ऋ० १०।१४।१-५,७-९,१३-१५ ॥

लोमभ्यः स्वाहा ॥२३॥ त्वचे स्वाहा ॥२४॥
त्वचे स्वाहा ॥२५॥ लोहिताय स्वाहा ॥२६॥
लोहिताय स्वाहा ॥२७॥ मेदोभ्यः स्वाहा ॥२८॥
मेदोभ्यः स्वाहा ॥२९॥ माꣳसेभ्यः स्वाहा ॥३०॥
माꣳसेभ्यः स्वाहा ॥३१॥ स्नावभ्यः स्वाहा ॥३२॥
स्नावभ्यः स्वाहा ॥३३॥ अस्थभ्यः स्वाहा ॥३४॥
अस्थभ्यः स्वाहा ॥३५॥ मज्जभ्यः स्वाहा ॥३६॥
मज्जभ्यः स्वाहा ॥३७॥ रेतसे स्वाहा ॥३८॥
पायवे स्वाहा ॥३९॥ आयासाय स्वाहा ॥४०॥
प्रायासाय स्वाहा ॥४१॥ संयासाय स्वाहा ॥४२॥
वियासाय स्वाहा ॥४३॥ उद्यासाय स्वाहा ॥४४॥
शुचे स्वाहा ॥४५॥ शोचते स्वाहा ॥४६॥
शोचमानाय स्वाहा ॥४७॥ शोकाय स्वाहा ॥४८॥
तपसे स्वाहा ॥४९॥ तप्यते स्वाहा ॥५०॥
तप्यमानाय स्वाहा ॥५१॥ तप्ताय स्वाहा ॥५२॥
घर्माय स्वाहा ॥५३॥ निष्कृत्यै स्वाहा ॥५४॥
प्रायश्चित्यै स्वाहा ॥५५॥ भेषजाय स्वाहा ॥५६॥
यमाय स्वाहा ॥५७॥ अन्तकाय स्वाहा ॥५८॥
मृत्यवे स्वाहा ॥५९॥ ब्रह्मणे स्वाहा ॥६०॥
ब्रह्महत्यायै स्वाहा ॥६१॥ विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा ॥६२॥
द्यावापृथिवीभ्याꣳ स्वाहा ॥६३॥ यजु० अ० ३९॥[1]

---

१. यजुः ३९।१-३,१०-१४॥ प्रथम मन्त्र में 'स्वाहा' पद का स्थान-परिवर्तन किया है।

इन ६३ तिरसठ मन्त्रों से ६३ तिरसठ आहुति पृथक्-पृथक् देके, निम्नलिखित मन्त्रों से आहुति देवें—

सूर्यं चक्षुषा गच्छ वातमात्मना दिवं च गच्छ पृथिवीं च धर्मभिः ।
अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितमोषधीषु प्रति तिष्ठा शरीरैः स्वाहा ॥१

सोम एकेभ्यः पवते घृतमेक उपासते ।
येभ्यो मधु प्रधावति तांश्चिदेवापि गच्छतात् स्वाहा ॥२॥

ये चित्पूर्व ऋतसाता ऋतजाता ऋतावृधः ।
ऋषींस्तपस्वतो यम तपोजाँ अपि गच्छतात् स्वाहा ॥३॥

तपसा ये अनाधृष्यास्तपसा ये स्वर्ययुः ।
तपो ये चक्रिरे महस्तांश्चिदेवापि गच्छतात् स्वाहा ॥४॥

ये युध्यन्ते प्रधनेषु शूरासो ये तनूत्यजः ।
ये वा सहस्रदक्षिणास्तांश्चिदेवापि गच्छतात् स्वाहा ॥५॥

स्योनास्मै भव पृथिव्यनृक्षरा निवेशनी ।
यच्छास्मै शर्म सप्रथाः स्वाहा ॥६॥

अपेमं जीवा अरुधन् गृहेभ्यस्तं निर्वहत परि ग्रामादितः ।
मृत्युर्यमस्यासीद्दूतः प्रचेता असून् पितृभ्यो गमयां चकार स्वाहा ॥७

यमः परोऽवरो विवस्वांस्ततः परं नाति पश्यामि किं चन ।
यमे अध्वरो अधि मे निविष्टो भुवो विवस्वानन्वा ततान स्वाहा ॥८॥

अपागूहन्नमृतां मर्त्येभ्यः कृत्वा सवर्णामदधुर्विवस्वते ।
उताश्विनावभरद्यत्तदासीदजहादु द्वा मिथुना सरण्यूः स्वाहा ॥९॥

इमौ युनज्मि ते वह्नी असुनीताय वोढवे ।
ताभ्यां यमस्य सादनं समितीश्चाव गच्छतात् स्वाहा ॥१०॥
अथर्व० का० १८ । सू० २ ॥[1]

इन १० दश मन्त्रों से १० दश आहुति देकर,

अग्नये रयिमते स्वाहा ॥१॥
पुरुषस्य सयावर्यपेदघानि मृज्महे ।
यथा नो अत्र नापरः पुरा जरस आयति स्वाहा ॥ २ ॥[2]
य एतस्य पथो गोप्तारस्तेभ्यः स्वाहा ॥ ३ ॥
य एतस्य पथो रक्षितारस्तेभ्यः स्वाहा ॥ ४ ॥
य एतस्य पथोऽभिरक्षितारस्तेभ्यः स्वाहा ॥ ५ ॥
ख्यात्रे स्वाहा ॥ ६॥ अपाख्यात्रे स्वाहा ॥७॥
अभिलालपते स्वाहा ॥८॥ अपलालपते स्वाहा ॥९॥
अग्नये कर्मकृते स्वाहा ॥१०॥ यमत्र नाधीमस्तस्मै स्वाहा ॥११॥
अग्नये वैश्वानराय सुवर्गाय लोकाय स्वाहा ॥ १२ ॥[3]
आयातु देवः सुमनाभिरूतिभिर्यमो ह वेह प्रयताभिरक्ता ।
आसीदताꣳसुप्रयते ह बर्हिष्यूर्जाय जात्यै मम शत्रुहत्यै स्वाहा ॥१३
योऽस्य कौष्ठय जगतः पार्थिवस्यैक इद्वशी ।
यमं भङ्ग्यश्रवो गाय यो राजाऽनपरोध्यः स्वाहा ॥१४॥

---

१. मन्त्र ७, १४-१७, १९, २७, ३२. ३३, ५६ ॥ 'अपागूहन्०' मन्त्र के चतुर्थ चरण में 'सवर्णामदधुर्विवस्वते' पाठ है । 'अददुः' ऋग्वेद का पाठ है । स्वाहा पद मन्त्रपाठ से बहिर्भूत है ।

२. तै० आ० ६।१॥ द्वितीय मन्त्र में 'स्वाहा' पद मन्त्र से बहिर्भूत है ।

३. तै० आ ६।२॥

यमं गाय भङ्ग्यश्रवो यो राजाऽनपरोध्यः ।
येनाऽऽपो नद्यो धन्वानि येन द्यौः पृथिवी दृढा स्वाहा ॥१५॥
हिरण्यकक्ष्यान्त्सुधुरान् हिरण्याक्षानयःशफान् ।
अश्वाननःशतो दानं यमो राजाभितिष्ठति स्वाहा ॥१६॥
यमो दाधार पृथिवीं यमो विश्वमिदं जगत् ।
यमाय सर्वमित्तस्थे यत् प्राणद्वायुरक्षितं स्वाहा ॥१७॥
यथा पञ्च यथा षड् यथा पञ्चदशर्षयः ।
यमं यो विद्यात् स ब्रूयाद्यथैक ऋषिर्विजानते स्वाहा ॥१८॥
त्रिकद्रुकेभिः पतति षडुर्वीरेकमिद् बृहत् ।
गायत्री त्रिष्टुप् छन्दाᳬसि सर्वा ता यम आहिता स्वाहा ॥१९॥
अहरहर्नयमानो गामश्वं पुरुषं जगत् ।
वैवस्वतो न तृप्यति पञ्चभिर्मानवैर्यमः स्वाहा ॥२०॥
वैवस्वते विविच्यन्ते यमे राजनि ते जनाः ।
ये चेह सत्येनेच्छन्ते य उ चानृतवादिनः स्वाहा ॥२१॥
ते राजन्निह विविच्यन्तेऽथा यन्ति त्वामुप ।
देवांश्च ये नमस्यन्ति ब्राह्मणांश्चापचित्यति स्वाहा ॥२२॥
यस्मिन् वृक्षे सुपलाशे देवैः संपिबते यमः ।
अत्रा नो विश्पतिः पिता पुराणा अनुवेनति स्वाहा ॥२३॥[1]
उत्ते तभ्नोमि पृथिवीं त्वत्परीमं लोकं निदधन्मो अहᳬ रिषम् । एताᳬ स्थूणां पितरो धारयन्तु तेऽत्रा यमः सादनात् ते मिनोतु स्वाहा ॥२४॥[2]
यथाऽहान्यनुपूर्वं भवन्ति यथर्त्तव ऋतुभिर्यन्ति क्लृप्ताः ।
यथा नः पूर्वमपरो जहात्येवा धातरायूᳬषि कल्पयैषाᳬ स्वाहा॥२५

१. तै० आ० ६।५॥ स्वाहा पद मन्त्रों से बहिर्भूत है ।
२. तै० आ० ६।७॥ स्वाहा पद मन्त्र से बहिर्भूत है ।

न हि ते अग्ने तनुवै क्रूरं चकार मर्त्यः ।
कपिर्बभस्ति तेजनं पुनर्जरायुर्गौरिव ।
अप नः शोशुचदघमग्ने शुशुध्या रयिम् ।
अप नः शोशुचदघं मृत्यवे स्वाहा ॥२६॥[1]
तैत्ति० प्रपा० ६ । अनु० १-१० ॥

इन छब्बीस आहुतियों को करके, ये सब (ओम् अग्नये स्वाहा) इस मन्त्र से लेके (मृत्यवे स्वाहा) तक १२१ एकसौ इक्कीस आहुति हुई, अर्थात् ४ जनों की मिलके ४८४ चार सौ चौरासी । और जो दो जने आहुति देवें तो २४२ दो सौ बयालीस । यदि घृत विशेष हो तो पुनः इन्हीं १२१ एक सौ इक्कीस मन्त्रों से आहुति देते जायं, यावत् शरीर भस्म न हो जाय तावत् देवें ।

जब शरीर भस्म हो जावे, पुनः सब जने वस्त्र प्रक्षालन स्नान करके जिसके घर में मृत्यु हुआ हो उसके घर की मार्जन लेपन प्रक्षालनादि से शुद्धि करके, पृष्ठ ११-१८ में लिखे प्रमाणे स्वस्तिवाचन शान्तिकरण का पाठ, और पृष्ठ ७-१० में लिखे प्रमाणे ईश्वरोपासना करके, इन्हीं स्वस्तिवाचन और शान्तिकरण के मन्त्रों से, जहां अङ्क अर्थात् मन्त्र पूरा हो, वहां 'स्वाहा' शब्द का उच्चारण करके सुगन्ध्यादि मिले हुए घृत की आहुति घर में देवें, कि जिससे मृतक का वायु घर से निकल जाय, और शुद्ध वायु घर में प्रवेश करे, और सब का चित्त प्रसन्न रहे । यदि उस दिन रात्रि हो जाय, तो थोड़ी सी [आहुति] देकर दूसरे दिन प्रातःकाल उसी प्रकार स्वस्तिवाचन और शान्तिकरण के मन्त्रों से आहुति देवें ।

तत्पश्चात् जब तीसरा दिन हो, तब मृतक का कोई सम्बन्धी श्मशान में जाकर चिता से अस्थि उठाके उस श्मशान भूमि में कहीं पृथक् रख देवे । बस इसके आगे मृतक के लिये कुछ भी कर्म कर्त्तव्य नहीं है क्योंकि पूर्व (भस्मान्त९ शरीरम्)[2] यजुर्वेद के मन्त्र के प्रमाण से स्पष्ट हो चुका कि दाहकर्म और अस्थिसंचयन से पृथक्

१. तै० आ० ६।१०॥ प्रथम मन्त्रस्थ स्वाहा पद मन्त्र से बहिर्भूत है ।
२. यजु० ४०।१५॥

मृतक के लिये दूसरा कोई भी कर्म कर्त्तव्य नहीं है। हां, यदि वह सम्पन्न हो, तो अपने जीते जी वा मरे पीछे उसके[1] सम्बन्धी वेदविद्या वेदोक्तधर्म का प्रचार, अनाथपालन, वेदोक्त धर्मोपदेश की प्रवृत्ति के लिये चाहे जितना धन प्रदान करें, बहुत अच्छी बात है ।।

इति मृतक-संस्कारविधिः समाप्तः ।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्याणां श्रीयुतविरजानन्द-सरस्वतीस्वामिनां महाविदुषां शिष्यस्य वेदविहिताचार-धर्मनिरूपकस्य श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिनः कृतौ संस्कारविधिर्ग्रन्थः पूर्तिमगात् ।।[2]



---

१. संस्करण २ में 'उनके' अपपाठ है।

२. इस से आगे संस्करण २ में निम्न श्लोक छपा है—

विधुयुगनवचन्द्रे वत्सरे विक्रमस्या-
सितदलबुधयुक्तानङ्गतिथ्यामिषस्य ।
निगमपथशरण्ये भूय एवात्र यन्त्रे
विधिविहितकृतीनां पद्धतिर्मुद्रिताऽभूत् ।।

अर्थात् संवत् १९४१ वि० आश्विनसुदी ५ बुधवार को द्वितीय संस्करण छपा। यह श्लोक ग्रन्थकार का नहीं है। संशोधक भीमसेन वा ज्वालाप्रसाद का है।

संस्करण ३ के अन्त में प्रथम दो चरणों का पाठ इस प्रकार है—

नगयुगनवचन्द्रे (१९४८) विक्रमार्कस्य वर्षे,
ससितदलसहस्ये सोमयुग्युग्मतिथ्याम् ।

यह संस्करण ३ का मुद्रणकाल है। तृतीय संस्करणवाला पाठ ही १२वें संस्करण तक विना सोचे-समझे छपता रहा।

प्रथम संस्करण के अन्त में ग्रन्थसमाप्ति-निर्देशक निम्न श्लोक भी मिलता है—

नेत्ररामाङ्कचन्द्रेऽब्दे (१९३२) पौषमासे सिते दले।
सप्तम्यां सोमवारेऽयं ग्रन्थः पूर्ति गतः शुभः ।।

ऐतिहासिक दृष्टि से संस्करण १ तथा २ के अन्त में छपे श्लोक बहुत उपयोगी हैं। अतः एव सुरक्षा की दृष्टि से हमने यहां उन्हें उद्धृत कर दिया है।



ओं शं नो मित्रः शं वरुणः शं नो भवत्वर्यमा ।
शं न इन्द्रो बृहस्पतिः शं नो विष्णुरुरुक्रमः ॥
नमो ब्रह्मणे नमस्ते वायो त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि ।
त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्मावादिषम् ऋतमवादिषं सत्यमवादिषम् ।
तन्मामावीत् तद्वक्तारमावीद् आवीन्माम् आवीद्वक्तारम् ॥
ओं शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

—संस्कारविधिः प्रथम संस्करण के अन्त में निर्दिष्ट ।

प्रथम परिशिष्ट

कतिपय महत्त्वपूर्ण टिप्पणियां

१—ग्रन्थकार के कतिपय विशिष्ट मन्तव्य

यद्यपि 'संस्कारविधि' की रचना ऋषि दयानन्द ने प्राचीन गृह्यसूत्रों तथा मनुस्मृति आदि ग्रन्थों के आधार पर की है, तथापि इस ग्रन्थ में यत्र-तत्र ऋषि दयानन्द के ऐसे अनेक स्वमन्तव्य उपलब्ध होते हैं, जिनका निर्देश गृह्यसूत्र आदि में नहीं मिलता। कुछ ऐसे भी स्थल हैं, जहां गृह्यसूत्रोक्तविधि के साथ विरोध भी दृष्टिगोचर होता है। यथा—

१. यज्ञकुण्ड के निर्माण का जो प्रकार ग्रन्थकार ने संस्कार-विधि (पृष्ठ १९)[1] तथा सत्यार्थप्रकाश (पृष्ठ ६३)[2] में लिखा है, वह प्राचीन श्रौतसूत्र आदि में नहीं मिलता।

२. गृह्यसूत्रों में 'विवाह-संस्कार' में सूर्यदर्शन लिखा है। संस्कारविधि में भी गृह्यसूत्रानुसार निर्दिष्ट पद्धति (पृष्ठ १८१) में सूर्य-दर्शन कराने का उल्लेख है। परन्तु ग्रन्थकार ने संस्कारविधि में विवाह-संस्कार के आरम्भ (पृष्ठ १५३) में तथा सत्यार्थप्रकाश (पृष्ठ १३६) में विवाह-कर्म का रात्रि में करने का विधान किया है। रात्रि में विवाह होने पर सूर्य-दर्शन नहीं हो सकता।

ऊपर एक-एक उदाहरण निर्देशमात्र के लिये हैं। ऐसे स्थान संस्कारविधि में बहुधा मिलते हैं।

इस विषय में हमारा विचार यह है कि जो कर्म अथवा विधि गृह्य-सूत्रादि प्राचीन ग्रन्थों में उल्लिखित नहीं है, वह ग्रन्थकार का अपना ही मन्तव्य है। ऐसा मानकर उसे 'विरोधे त्वनपेक्ष्यं स्यादसति

---

१. यहां तथा आगे उल्लिखित 'संस्कारविधि' की पृष्ठ-संख्या रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा मुद्रित आर्यसमाज-शताब्दी-संस्करण की है।

२. सत्यार्थप्रकाश की यहां तथा आगे निर्दिष्ट पृष्ठ-संख्या रा० ला० क० ट्र० के आर्यसमाज-शताब्दी-संस्करण तथा साधारण संस्करण की है।

ह्यनुमानम्" (मीमांसा १।३।२) सूत्र के न्यायानुसार यथावत् स्वीकार कर लेना चाहिए। अर्थात् वहां ऋषि दयानन्द के वचन को प्राचीन शास्त्रकारों के समान ही प्रमाण मानना चाहिये। प्राचीन ग्रन्थों में अनुक्त होनेमात्र से उसे अप्रमाण नहीं मानना चाहिये। ग्रन्थकार भी प्राचीन ऋषि-मुनियों के समान नीरजस्तम शिष्ट आप्त[2] व्यक्ति थे। आप्तोपदेश को शास्त्रकारों ने प्रमाण माना है।[3]

जहां ऋषि दयानन्द के लेख का प्राचीन गृह्यसूत्रों के साथ विरोध प्रतीत होता है, वहां भी शास्त्रीय मर्यादानुसार **'पक्षान्तरैरपि परिहारा भवन्ति'** (महाभाष्य १।१ ऋलृक्सूत्रभाष्ये)=पक्षान्तरों की व्यवस्था करके तदनुसार समाधान करना चाहिये। इस पद्धति से विवाह-कर्म करने के दो कालों की व्यवस्था माननी चाहिये—रात्रि-काल और दिवाकाल। ऋषि दयानन्द ने दो ग्रन्थों में रात्रिपक्ष को स्वीकार किया है। अतः 'संस्कारविधि' के **'एक घण्टामात्र रात्रि जाने पर'** (पृष्ठ १५३) में पाठ-भ्रंश की कल्पना करना भी अन्याय्य है।[4] इसलिये ऋषि दयानन्द को रात्रिपक्ष अभीष्ट है, यह

---

१. इस वचन का भाव यह है कि कल्पसूत्र (श्रौत-गृह्य-धर्मसूत्र) की किसी विधि का वेद के साथ विरोध हो, तो कल्पसूत्र की विधि की उपेक्षा कर देनी चाहिये। परन्तु यदि विरोध न हो, तो कल्पसूत्रस्थ विधि को प्रमाण मानना चाहिये।

२. रजस्तमोभ्यां निर्मुक्तास्तपोज्ञानबलेन ये।
येषां त्रिकालममलं ज्ञानमव्याहतं सदा॥
आप्ताः शिष्टा विबुद्धास्ते तेषां वाक्यमसंशयम्।
सत्यं, वक्ष्यन्ति ते कस्माद् असत्यं नीरजस्तमाः॥
चरक, सूत्र० ११।१८,१९॥

३. आप्तोपदेशः शब्दः। न्यायदर्शन १।१।७॥ तथा पूर्वोक्त टिप्पणी में उद्धृत वचन।

४. अनेक आर्य-विद्वान् सूर्यदर्शन के साथ विरोध समझकर इस पंक्ति को 'एक घण्टे मात्र दिन रह जाने पर' इस प्रकार परिवर्तनीय मानते हैं। 'संस्कार-चन्द्रिका' के लेखक ने 'संस्कारविधि' के 'तब जिस दिन गर्भाधान की रात्रि निश्चित की है, उस रात्रि में विवाह करने के लिये' (पृष्ठ १५३) पंक्ति का उत्तर लेख 'तब वधू और वर पृथक्-पृथक् स्थान में भूमि में बिछौना

मानकर 'तच्चक्षुर्देवहितं०' (पृष्ठ १८१) मन्त्र से 'अस्तमितेऽग्निम्' (लौगाक्षिगृह्य २५।३६; काठकगृह्य २४।४४) वचनानुसार अग्नि का दर्शन कराना चाहिये। गृह्यसूत्रकारों के मतानुसार दिवापक्ष में भी दो मत हैं। एक प्रातःकाल का (दक्षिण भारत में आज भी यही प्रथा है), दूसरा अपराह्लकाल का। समस्त संस्कारों के यज्ञरूप होने से सामान्य यज्ञीय न्याय से विवाह का काल प्रातः स्वयं प्राप्त है। परन्तु कतिपय गृह्यसूत्रों में सूर्य-दर्शन का विधान करके 'अस्तमितेऽ०' का निर्देश करना यह बताता है कि किसी कारणवश विवाह-संस्कार में विलम्ब हो जावे, और सूर्य-दर्शन-विधि तक सूर्यास्त हो जावे, तब सूर्य के स्थान पर अग्नि का दर्शन कराया जाये। यह निर्देश तभी उपपन्न हो सकता है, जब विवाह-कर्म अपराह्ल में किया जाये। प्रातःकाल पक्ष में सूर्यास्त की सम्भावना ही नहीं है।

२—'ओ३म्' का प्रयोग कहां किया जाये ?

आर्यसमाज में 'ओ३म्' का उच्चारण सन्ध्या प्रार्थना स्वस्तिवाचन आदि के सब मन्त्रों के आरम्भ में प्रायः किया जाता है। **ओमभ्यादाने** (अष्टा० ८।२।८७) के नियम से विदित होता है कि प्रत्येक कर्म के आरम्भ को द्योतित करने के लिये उस-उस कर्म के लिये विनियुक्त मन्त्र वा मन्त्रसमूह के आरम्भ में प्लुत 'ओ३म्' प्रयुक्त होता है। यथा जहां आहुति देनी होती है, वहां उक्त कर्म उसमें विनियुक्त मन्त्र से आरम्भ होता है, और स्वाहा के समकाल आहुति-प्रदान पर समाप्त हो जाता है। परन्तु जहां एक कर्म के लिये अनेक मन्त्र विनियुक्त होते हैं, वहां एक कर्म में विनियुक्त मन्त्रों में आदि मन्त्र से पूर्व ही 'ओ३म्' का उच्चारण किया जाता है। अर्थात् अन्य मन्त्रों के आरम्भ में नहीं बोला जाता है। अगले 'ओ३म्' के उच्चारण से पूर्व कर्म की

करके तीन रात्रि पर्यन्त ब्रह्मचर्यव्रत सहित रहकर शयन करें' (पृष्ठ १८६) के साथ विरोध समझकर इस प्रकार बदल दिया है—'तव जिस दिन गर्भाधान की रात्रि निश्चित की हो, उस रात्रि से तीन दिन पूर्व विवाह करने के लिये ' (पृष्ठ ४२४, चतुर्थावृत्ति, संवत् १९८२, आर्यभास्कर प्रेस, आगरा)। वस्तुतः यहां भी पाठ-परिवर्तन की आवश्यकता नही है। यहां भी पक्षान्तर-व्यवस्था से विरोध का परिहार हो जाता है। इस विषय में इसी परिशिष्ट में आगे विचार किया जायेगा।

समाप्ति भी देहली-दीप न्याय[1] से द्योतित हो जाती है।

ऋषि दयानन्द ने अपने ग्रन्थों में इसी प्राचीन परिपाटी को अक्षुण्ण रखा है। यथा—पञ्चमहायज्ञविधि और संस्कारविधि में अङ्गस्पर्श और मार्जन प्रत्येक मन्त्र से भिन्न-भिन्न इन्द्रिय का किया जाता है अतः क्रियाभेद के कारण प्रत्येक क्रिया में विनियुक्त मन्त्र के आरम्भ में 'ओ३म्' का निर्देश मिलता है। परन्तु जहां अघमर्षण मनसा परिक्रमा उपस्थान स्तुतिप्रार्थनोपासनारूप एक विषय के अनेक मन्त्र हैं, वहां उस प्रकरण के प्रथम मन्त्र के पूर्व में ही 'ओ३म्' का निर्देश किया है। पञ्चमहायज्ञविधि में मनसा परिक्रमा के मन्त्रों और सं० वि० में उपस्थान मन्त्रों के पूर्व में ओम् का निर्देश लेखक-प्रमाद से छूट गया है। अतः एक कर्म में चाहे कितने ही मन्त्र विनियुक्त हों, उनके प्रथम मन्त्र के पूर्व ही 'ओ३म्' का उच्चारण करना चाहिये।

३—सामान्य प्रकरण की स्थिति

ग्रन्थकार ने जो सामान्य-प्रकरण लिखा है, उसके विषय में निम्न बातें ध्यान में रखनी चाहियें—

यह सामान्य-प्रकरण केवल 'संस्कारविधि' ग्रन्थ की ही दृष्टि से नहीं लिखा गया है, अपि तु गृह्यकर्म के साथ-साथ अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेधान्त श्रौत एवं स्मार्त्त यज्ञों की दृष्टि से भी लिखा गया है। इसमें प्रमाण पात्रलक्षण-प्रकरण और यज्ञपात्रों की आकृतियों का निर्देश (पृष्ठ २२-२८) है। ये पात्र संस्कार-कर्मों में कहीं विनियुक्त नही हैं। इनका उपयोग दर्शपौणमास आदि श्रौतयज्ञों में होता है। (इस पर विशेष विचार पृष्ठ २२ टि० १ में किया है)। इसी प्रकार यज्ञशाला, कुण्डपरिमाण, हविनिर्वाप (पृष्ठ २१) आदि विधियां भी उक्त विषय के स्पष्टीकरण के लिये पर्याप्त हेतु हैं।

---

१. दो कमरों के मध्यवर्ती द्वार की देहली (चौखट) पर रखा हुआ दीपक दोनों कमरों में प्रकाश करता है। इसे 'देहली-दीपन्याय' कहते हैं। इसी प्रकार अनेक कर्मसमूहों के लिये पठित मन्त्र-समुदाय में प्रथम कर्म के पश्चात् उत्तर कर्म के मन्त्रों के आरम्भ में उच्चरित ओ३म् पूर्व कर्म की समाप्ति और उत्तर कर्म के आरम्भ दोनों को व्यक्त करता है।

४—होम के चार प्रकार के द्रव्य

पृष्ठ २० में होम के योग्य चार प्रकार के द्रव्यों का उल्लेख किया है। उसके सम्बन्ध में हमारा विचार यह है कि ग्रन्थकार ने यहां उन चार प्रकार के द्रव्यों का निदर्शन कराया है, जो श्रौत गृह्य और स्मार्त यज्ञों में विनियुक्त होते हैं, या हो सकते हैं। इनका तात्पर्य सभी प्रकार के द्रव्यों को मिलाकर कूटकर सामग्री, जैसी कि आजकल प्रचलित है, बनाने से नहीं है। इस प्रकार की सामग्री का उल्लेख 'संस्कारविधि' में कहीं भी नहीं है, अर्थात् अमुक मन्त्र से उक्त सामग्री की आहुति दें, यह कहीं नहीं लिखा। ना ही प्राचीन यज्ञीय ग्रन्थों में इस प्रकार की सामग्री का निर्देश मिलता है। प्राचीन यज्ञीय ग्रन्थों में जिस-जिस यज्ञ में जो-जो हव्य द्रव्य लिखा है, वह सब ग्रन्थकार द्वारा निर्दिष्ट चार प्रकारों के अन्तर्भूत आ जाता है। अतः वर्तमान में प्रचलित सामग्री के सम्बन्ध में गम्भीरता से विचार करना आवश्यक है। यदि उक्त सामग्री को आवश्यक समझा जाये, तो यज्ञ में इसकी आहुति कहां दी जाये, यह भी विचारणीय है।

५—प्रत्येक आहुति के लिये चार मूठी चावल आदि

पृष्ठ २१ में लिखा है—'जितनी आहुति देनी हों, प्रत्येक आहुति के लिये चार-चार मूठी चावल आदि लेके ....।' यहां 'जितनी आहुति देनी हों' का तात्पर्य प्रधान याग की आहुतियों से है। प्राचीन यज्ञीय पद्धति के अनुसार प्रधान याग के एक-एक देवता के लिये पुरोडाश या चरु आदि बनाने का जो विधान मिलता है, उसमें प्रति देवता प्रति आहुति चार-चार मूठी जौ वा धान लिया जाता है। चार मूठी परिमाण अन्न से जो पुरोडाश वा चरु बनता है, उसमें से अङ्गुष्ठपर्वमात्र लेकर आहुति दी जाती है। शेष हवि का यजमान आदि भक्षण करते हैं। प्रति आहुति चार मूठी अन्न की बनी हुई हवि कुण्ड में डाली जाये, यह सम्भव ही नहीं है। इसी प्रकार 'जितनी आहुति देनी हों' में यदि सभी प्रधान और अङ्ग यागों की आहुतियों की गणना की जाये, तो कितने परिमाण में हवि बनानी पड़ेगी, यह कल्पना सहज में की जा सकती है। अतः उक्त आहुतियां प्रधान याग की ही जाननी चाहियें। और उनमें भी पूरी हवि की आहुति न देकर अङ्गुष्ठपर्वमात्र परिमाण में आहुति देनी चाहिये।

क्रमविपर्यय—पृष्ठ २० में यज्ञीय द्रव्य के शोधन का विधान है। पृ० २१पर क्रमशः हवि द्रव्य के ग्रहण करने और जल से धोने का। यहां पर पदार्थक्रम के अनुसार पहले चारचार मुष्टि हविद्रव्य का ग्रहण, पश्चात् उसका शोधन (=कंकड़ पत्थर आदि बीनना), तत्पश्चात् जल से प्रक्षालन होता है। ग्रन्थ के पाठक्रम और पदार्थक्रम में विपर्यास होवे,तो वहां सर्वत्र **'पाठक्रमाद् अर्थक्रमो बलीयान्'** नियम के अनुसार अर्थक्रम (जिससे पदार्थ उपपन्न हो सके) को बलवान् माना जाता है। विशेष द्र०—पृष्ठ ६३ की टि० ६।

६—ऋत्विग्वरणार्थ कुण्डलादि

पृष्ठ २४ में लिखा है—**'ऋत्विग्वरणार्थं कुण्डलाङ्गुलीयकवासांसि'** अर्थात् ऋत्विक् के वरण के लिये कुण्डल अंगूठी और वस्त्र होने चाहियें। यह द्रव्य किस ऋत्विक् के लिये तथा किस कर्म में वरण के लिये हैं, यह विचारणीय है। पूर्व उल्लिखित पदार्थ श्रौतयज्ञ सामान्य में उपयोगी हैं। एक पङ्क्ति छोड़कर अगला दक्षिणा आदि का निर्देश अग्न्याधेय कर्म तक सीमित है। हमारे विचार में उक्त वरणीय द्रव्य का सम्बन्ध भी अग्न्याधेय के लिये ऋत्विग्वरण के साथ उपयुक्त बैठता है। इस पर विचार होना चाहिये।

७—ऋत्विक् और पुरोहित कौन होवे ?

पृष्ठ २८ पर ऋत्विजों का जो लक्षण लिखा है, उसमें उनकी योग्यता का उचित निर्देश कर दिया है। पर वहां यह नहीं लिखा कि इसका अधिकारी किस वर्ण और किस आश्रम का हो। पृष्ठ ६९ में ग्रन्थकार ने पुरोहित का लक्षण करते हुए यह स्पष्ट कर दिया है कि पुरोहित गृहस्थ होना चाहिये। वर्ण का निर्देश फिर भी अछूता रह गया। परन्तु ऋषि दयानन्द ने मनुस्मृति के प्रमाणों से वर्णों के जो धर्म लिखे हैं (द्र०—सं० वि० पृ० २४९–२५३; स० प्र० पृ० १३०–१३३),उन में **याजन** कर्म केवल ब्राह्मण का कहा गया है। पुरोहित भी ऋत्विक् ही है, यह **'जो एक हो तो उसका पुरोहित [नाम]'** (पृष्ठ २९, पं० १) वचन से स्पष्ट है। इस प्रकार ग्रन्थकार के तीनों स्थलों को मिलाकर पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है कि ऋत्विक् और पुरोहित **ब्राह्मण और गृहस्थ** ही हो सकता है, न कि अन्य वर्णस्थ वा अन्य आश्रमस्थ।

८—पत्नी का आसन दक्षिण में

पृष्ठ २९ पं० ७-८ में यजमान के आसन के दो स्थान वेदी के पश्चिम वा दक्षिण में लिखे हैं। यह विकल्प कर्म की दृष्टि से है (द्र०—इसी पृष्ठ की टि० १)। यहां यह स्पष्ट नहीं लिखा है कि पत्नी यजमान के किस बाजू बैठे। इसके न लिखने का कारण यह है कि यज्ञकर्म में पत्नी के दक्षिण भाग में बैठने का शास्त्रों में विधान और लोकाचार दोनों विद्यमान हैं। अब शास्त्र-व्यवस्था और लोकाचार के लुप्त होने से ऐसी शङ्काएं होने लगी हैं।

दक्षिण में बैठाने का कारण—प्राचीन शिष्टाचार के अनुसार लोक-व्यवहार में पत्नी का स्थान वाम भाग में, और पत्नी से भिन्न कोई अन्य स्त्री वा माता बहिन बेटी का स्थान दक्षिण भाग में नियत है। प्राचीन काल में अश्वआदि सवारी पर बैठने का भी स्थान नियत था। पत्नी सदा पीठ के पीछे बैठती थी, अन्य स्त्री वा माता बहन बेटी को यदि साथ में बैठना पड़ता था, तो वह आगे बैठती थी। लोकव्यवहार के इस नियतीकारण से कभी किसी को पुरुष के साथ विद्यमान महिला के सम्बन्ध के विषय में भ्रान्ति नहीं होती थी।

यज्ञ-काल में पति-पत्नी का ब्रह्मचर्य से रहना अनिवार्य है। अतः ब्रह्मचर्य की भावना के कारण यज्ञ-समय में पति-पत्नी भाव को तिरोहित करने के लिये यज्ञकर्म में पत्नी का स्थान यजमान के दक्षिण भाग में नियत किया गया है। जिन गर्भाधानादि संस्कारों में पति-पत्नीभाव को तिरोहित करना इष्ट नहीं होता, वहां पत्नी का स्थान वाम भाग में कहा है ('संस्कारविधि' में भी ऐसा ही है)। अतः जिन विशेष कर्मों में पत्नी को वाम भाग में बैठाने का विधान किया है, उस से अन्यत्र सब संस्कारों वा यज्ञों में पत्नी का आसन दक्षिण भाग में होना चाहिये।

९—आचमन-अङ्ग-स्पर्श का काल

पृष्ठ २९, ३० में उक्त आचमन-अङ्गस्पर्श यज्ञीय व्यवस्था के अनुसार यज्ञकर्म के प्रारम्भ में किया जाता है। 'आचान्तेन कर्म

कर्त्तव्यम्' (मीमांसाभाष्य १।३।५ में उद्धृत) वचन इसमें प्रमाण है। अतः यहां उल्लिखित आचमन और अङ्गस्पर्श को 'पाठक्रमादर्थ-क्रमो बलीयान्'[1] न्याय के अनुसार कर्मकाल के आरम्भ में करना चाहिये। (विशेष द्रष्टव्य—आगे पृष्ठ ६३ की टि० ६)।

१०—समिदाधान के द्वितीय मन्त्र का त्यागांश

पृष्ठ ३१ में समिदाधान के प्रकरण में '**ओं समिधाग्निं०**' मन्त्र में '**स्वाहा। इदमग्नये—इदन्न मम**' अंश छपा हुआ मिलता है। यतः इससे समिधा अग्नि में नहीं छोड़ी जाती है, अतः उच्चारणकाल में '**स्वाहा। इदमग्नये—इदन्न मम**' अंश नहीं बोलना चाहिये (अनेक आर्य विद्वानों का यही मत है)। सम्भव है यहां हस्तलेख में प्रथम मन्त्र के बढ़ाने तथा कुछ पाठ-परिवर्तन करते समय उक्त अंश काटना रह गया हो। ऐसे स्थान ग्रन्थकार के वेदभाष्य में अनेक मिलते हैं। प्राचीन श्रौताधान पद्धति में यजुर्वेद अ० ३, मं० १-४ पठित चार मन्त्रों में से तीन से समिधा का आधान होता है, और ४ था 'उप त्वा०' मन्त्र अथवा 'सुसमिद्धा०' मन्त्र का जप-मात्र होता है (द्र०—का० श्रौत ४।८।४,५)। तदनुसार यहां भी '**समिधाग्नि**' मन्त्र का जपमात्र इष्ट जानना चाहिये।

११—सामान्यहोमाहुतियां

पृष्ठ ३२, पं० २० में पाठ है—'इसके पश्चात् सामान्यहोमाहुति गर्भाधानादि प्रधान ...'। सं० वि० की पाण्डुलिपि में इस वाक्य में पठित '**सामान्यहोमाहुति**' पद शीर्षक के रूप में मध्य में स्थूलाक्षरों में पढ़ा है। इससे विदित होता है कि यह पद आगे की कतिपय आहुतियों की संज्ञा है। अतः प्रकृत संस्करण में पङ्क्ति १९, २० का पाठ इस प्रकार होना चाहिये—

'इस मन्त्र से वेदी के चारों ओर जल छिड़कावें। तत्पश्चात्—

सामान्यहोमाहुति

[सामान्यहोमाहुति] गर्भाधानादि प्रधान संस्कारों ।'

सामान्यहोमाहुति—इस संज्ञा के अनुरूप जो आहुतियां प्रत्येक

१. यह याज्ञिक न्यायमीमांसा (५।१।२) के 'अर्थाच्च' सूत्र, तथा कात्यायन श्रौत (१।५।५) के 'विरोधेऽर्थस्तत्परत्वात्' सूत्र से बोधित है।

होम वा संस्कार में आवश्यक रूप से दी जाती हैं, वे ये हैं—२ आघाराहुतियां, २ आज्यभागाहुतियां, ४ व्याहृत्याहुतियां, १ स्विष्टकृत् और १ प्राजापत्य। ये १० आहुतियां सर्वत्र विहित हैं। प्राजापत्याहुति के आगे की १२ आहुतियां कर्मविशेष में विहित होने से विशिष्टाहुतियाँ हैं। यह बात पृष्ठ ३५ पं० १२ के ग्रन्थकार के 'नीचे लिखी आहुति चौल समावर्तन विवाह में मुख्य हैं' लेख से भी व्यक्त होती है।

१२—आघाराहुति और आज्यभागाहुतियों का स्थान

पृष्ठ ३२ पं० २८ में हमने टिप्पणी ५ में प्राचीन पद्धति के अनुसार आघाराहुतियों का स्थान प्रधान होम से पूर्व और आज्यभागाहुतियों का प्रधान होम के पश्चात् लिखा है। परन्तु ऋषि दयानन्द ने यहां दोनों प्रकार की आहुतियों का निर्देश प्रधान होम से पूर्व और अन्त में दो वार किया है। पाण्डुलिपि में पृष्ठ ३४ पं० २ में 'पश्चात् भी पूर्णाहुति' पाठ में 'भी' का प्रयोग इसी बात की पुष्टि करता है।

विशेष – पृष्ठ ३४, पं० २ में पाण्डुलिपि के अनुसार 'पश्चात् भी पूर्णाहुति' इस प्रकार पाठ का संशोधन करें।

१३—सामान्य-प्रकरण के उत्तरार्ध में क्रम अविवक्षित

सामान्य-प्रकरण शब्द ही इस बात का परिचायक है कि इस प्रकरण में सर्वत्र क्रमविशेष विवक्षित नहीं है। इसमें अग्न्याधान से लेकर वेदी के चारों ओर जल छिड़कने तक का प्रकरण, जो अग्न्याधान का ही रूप है, क्रमबद्ध है। इससे आगे की आहुतियों में क्रम विवक्षित नहीं है। इन में पहले १० सामान्य होमाहुतियां हैं(पूर्व लेख देखें) और आगे की १२ विशेषाहुतियां हैं। यद्यपि इन आहुतियों के प्रकरण में **देकर** (पृष्ठ ३५, पं० १, ११), **करके** (पृष्ठ ३५, पं० ८) आदि पूर्वकालता के बोधक शब्द पढ़े हैं, फिर भी पूर्वकालतारूप अर्थ यहां अभिप्रेत नही है। **दत्वा कृत्वा** (देकर–करके)में क्त्वा प्रत्यय का निर्देश है। 'क्त्वा' प्रत्यय **समानकर्तृकयोः पूर्वकाले** (अष्टा० ३।४।२१) के अनुसार समानकर्तृकता और पूर्वकालता को बोधित कराता है। परन्तु यह प्रत्यय कहीं-कहीं एक अर्थ को ही व्यक्त करने के लिये भी प्रयुक्त होता है। यथा—**देवसवितरित्युक्त्वा** वाच-

स्पते (काण्वपाठ) यहां पूर्वकालतामात्र में क्त्वा प्रयुक्त हुआ है, समानकर्त्तृकता यहां अभिप्रेत नहीं है (द्र०—कात्या० श्रौत २।१।१६ कर्कभाष्य)। इसी प्रकार 'संस्कारविधि' के देकर-करके प्रयोगों में समानकर्त्तृकतामात्र अभिप्रेत है, पूर्वकालता अभिप्रेत नहीं है। पाठक्रम और अर्थक्रम में विरोध होने पर पाठक्रम से अर्थक्रम बलवान् होता है, यह याज्ञिकों का सामान्य मत है। द्रष्टव्य—कात्या० श्रौ० १।५।५, तथा मीमांसा ५।१।२॥

१४—स्विष्टकृत् आहुति का हव्य द्रव्य

पृष्ठ ३५, पं० १-२ में स्विष्टकृद् आहुति में घृत या भात का निर्देश किया है। यहां भात शब्द समस्त पाकद्रव्य चरु पुरोडाश मोहनभोग आदि का उपलक्षक है। स्विष्टकृत् आहुति किस द्रव्य से दी जाये, इसके लिये सामान्य नियम यह है कि जिस कर्म में प्रधान-होम का जो हव्य द्रव्य होता है, उसी से स्विष्टकृत् आहुति दी जाती है। आज-कल आर्यसमाज में समस्त यज्ञकर्म में घृत और सामग्री की आहुतियां देकर केवल स्विष्टकृत् आहुति हलवा लड्डू चीनी गुड़ फल आदि से देने की रीति चल पड़ी है, यह अशास्त्रीय है। केवल स्विष्टकृत् आहुति हलवे आदि से देकर उसे यज्ञशेष मानकर जो प्रसाद बांटा जाता है, वह भी मन्दिरों में चढ़ावे के द्रव्य में से बांटे जाने वाले प्रसाद के समान है। यज्ञशेष वही द्रव्य कहाता है, जिससे कम से कम प्रधान होम किया गया हो।

१५—स्विष्टकृत् आहुति का स्थान

स्विष्टकृत् आहुति के मन्त्र में **'अत्यरीरिचम्'** (=अधिक किया है), वा **'न्यूनमिहाकरम्'** (=न्यून किया है) आदि का निर्देश करके सु+इष्ट (=स्विष्ट) करने की प्रार्थना होने से इसका स्थान कर्म के अन्त में है, यह मन्त्रार्थ से ही स्पष्ट है। प्राचीन याज्ञिक पद्धति के अनुसार स्विष्टकृत् आहुति प्रधान याग के पश्चात् दी जाती है, और प्रधान याग के हव्य द्रव्य से ही दी जाती है।

१६—'अमुक दा' का अभिप्राय

पृष्ठ ५३, पं० २ में **'अमुक दा'** पाठ है। 'इस ठिकाने वधू अपना नाम उच्चारण करे' ऐसा ग्रन्थकार ने टिप्पणी (पं० १३) में लिखा है।

इस पर हमने संख्या १ की टिप्पणी में 'यहां दा पाठ असम्बद्ध है' ऐसा लिखा है, और शुद्ध पाठ की कल्पना प्रस्तुत की है। अब हमारा विचार है कि यहां 'दा' शब्द वधू के **यशोदा सुखदा** (द्र०—सं० वि० पृष्ठ ८०, पं० १४, तथा पृष्ठ ८१, पं० १४) आदि 'दा'शब्दान्त नामों का एकदेश है, और 'अमुक' शब्द से उसके पूर्वभाग को द्योतित किया है, अर्थात् 'अमुकदा'=यशोदा सुखदा आदि नाम बोले। 'दा'शब्द भी उत्तरपद का उपलक्षणमात्र है। अतः वधू का जो कोई भी नाम हो, उसे यहां बोलना चाहिये, इतने में ही इसका तात्पर्य है।

१७—बालक पद का अभिप्राय

'संस्कारविधि' में जातकर्म से लेकर वेदारम्भ संस्कार तक **बालक** शब्द का व्यवहार मिलता है। बालक शब्द जातिवाची[1] है, इससे बालक-बालिका दोनों का सर्वत्र ग्रहण इष्ट है। इस शब्द के प्रयोग से जो लोग यह आक्षेप करते हैं कि स्वामी दयानन्द ने बालिका के उपनयन और वेदारम्भ का उल्लेख नहीं किया, अतः कन्याओं का उपनयन नहीं करना चाहिये, यह कथन ठीक नहीं है। इतना ही नहीं, 'संस्कारविधि' पृष्ठ ९५ में **बालक** का निर्देश करके पृष्ठ ९६ में कर्ण और नासिका के वेध का निर्देश किया है। तो क्या बालक शब्द मात्र से लड़के की नासिका भी छिदानी चाहिये? नासिका-वेध बालिकाओं का होता है। अतः स्पष्ट है कि बालक शब्द दोनों (बालक-बालिका) का बोधक है। 'संस्कारविधि' के प्रथम संस्करण में स्पष्ट लिखा है—'कन्या भी सुन्दर वस्त्र से शरीर को आच्छादित और **यज्ञोपवीत धारण करके** विवाहशाला में आये (पृष्ठ १०७)। अतः ऋषि दयानन्द को कन्या का यज्ञोपवीत और वेदारम्भ दोनों संस्कार इष्ट हैं, यह जानना चाहिये।

आशीर्वचन में ऊह—नामकरण आदि संस्कारों के अन्त में जो आशीर्वाद के वचन लिखे हैं, वे सब पुंल्लिङ्ग में हैं। अतः बालिका के इन संस्कारों को करते समय पुंल्लिङ्ग शब्दों को स्त्रीलिङ्ग में बदल कर उच्चारण करना चाहिये। यथा—

१. द्र०—महाभाष्य ४।१।६३—'लिङ्गानां च न सर्वभाक्' वचन और उसकी व्याख्या।

पृष्ठ ८१ पर आशीर्वाद का वचन है—

'हे बालक ! त्वमायुष्मान् वर्चस्वी तेजस्वी श्रीमान् भूयाः ।'

इसको बालिका के आशीर्वाद में इस प्रकार पढ़ना चाहिये—

'हे बालिके ! त्वमायुष्मती वर्चस्विनी श्रीमती भूयाः ।'

इसी प्रकार अन्य संस्कारों के आशीःवचनों में भी परिवर्तन करके बोलना चाहिये ।

१८— शान्त्याहुति

पृष्ठ ५६, पं० १७, १८ में लिखा है—'पूर्वलिखित सामान्य-प्रकरण की शान्त्याहुति देके ·· ·····।' इस पर हमने टिप्पणी देकर लिखा है—'अर्थात् शान्तिकरण के मन्त्रों से' (द्र०— पं० २६)। शान्तिकरण का पाठ 'सामान्यप्रकरण' शीर्षक से पूर्व है । ग्रन्थकार ने 'पूर्वलिखित सामान्यप्रकरण की' ऐसा निर्देश किया है। इससे सन्देह होता है कि पूर्व पृष्ठ ३२ (द्र०—इसी परिशिष्ट की संख्या ११ की विवेचना) पर लिखित सामान्यहोमाहुति का ही संक्षेप 'सामान्याहुति' का पाठ शान्त्याहुति के रूप में भ्रष्ट हो गया हो, क्योंकि सामान्यप्रकरण में शान्त्याहुति कहीं उक्त नहीं है ।

१९—पुंसवन का प्रयोजन

पृष्ठ ५८, पं० ४ में ऋषि दयानन्द ने पुंसवन संस्कार का प्रयोजन पुरुष (=पति) के पुरुषत्व की प्राप्ति अर्थात् वीर्य लाभ होना लिखा है, जिससे दूसरा सन्तान भी उत्तम होवे। इसी दृष्टि से उन्होंने बालक के जन्म हुए पश्चात् कम से कम दो मास अर्थात् गर्भ-स्थिति के पश्चात् एक वर्ष तक ब्रह्मचारी रहने का विधान किया है। सभी प्राचीन गृह्यकार पुंसवन संस्कार का प्रयोजन पुमान् बालक की उत्पत्ति मानते हैं। उनके मत से इस संस्कार से पुमान् बालक के उत्पन्न होने में सहयोग मिलता है। इसका संकेत मन्त्रब्राह्मण १।४ ९ मन्त्र के उत्तरार्ध **पुमांसं पुत्रं विन्दस्व तं पुमाननुजायताम्** (यह सं० विधि में भी विनियुक्त है) से भी होता है।

गर्भाधान के आगे से पुंसवन और सीमन्तोन्नयन संस्कार गर्भ में निष्पद्यमान शिशु के लिये मानने पर ही मनुस्मृति २।१६ का **निषेकादिश्मशानान्तो मन्त्रैर्यस्योदितो विधिः** (यह सं० वि०, पृष्ठ ४०, पं०

२ पर उद्धृत) वचन सार्थक होता है। गर्भगत शिशु पुमान् और स्त्री दोनों हो सकते हैं, और दोनों के ही गर्भाधान से अन्त्येष्टि पर्यन्त संस्कार अपेक्षित हैं। अतः पुंसवनसंस्कार का प्रयोजन पुमान् बालक की उत्पत्ति मानना युक्त नहीं हो सकता। संस्कार नाम में प्रयुक्त 'पुंम्' शब्द लक्षणा से बलवीर्य पराक्रम को लक्षित करता है, यह मानना युक्त होगा। यह अर्थ उभयविध शिशु में उपपन्न हो सकता है। हम समझते हैं कि बालक-बालिका में समदृष्टि रखनेवाले ऋषि दयानन्द को भी यही अभिप्राय अभिप्रेत रहा होगा। उन्होंने संस्कार के आरम्भ में जो प्रयोजन लिखा है वह आनुषङ्गिक है, व्यावहारिक है।

२०—क्या सीमन्तोन्नयन स्त्री-संस्कारार्थ है ?

कतिपय प्राचीन ग्रन्थकार तथा संस्कारपद्धतिकार सीमन्तोन्नयन संस्कार का प्रयोजन क्षेत्रभूता स्त्री को संस्कृत करना मानते हैं। अतः वे इसे स्त्रीसंस्कार मानते हैं। एक बार प्रथम गर्भकाल में संस्कृत स्त्री जिस-जिस बालक को उत्पन्न करती है, वे सब संस्कृत हो जाते हैं।[1] पारस्कर गृह्यसूत्र में स्पष्ट कहा है–'पुंसवनवत् प्रथम-गर्भे' (१।१४।२,३)। टीकाकार प्रायः लिखते हैं– प्रथम गर्भ में सीमन्तोन्नयन आवश्यक है, द्वितीयादि में कामचार है। अन्यों के मत में केवल प्रथम गर्भ में ही सीमन्तोन्नयन होता है।

यदि इस संस्कार से स्त्रीशरीर संस्कृत होता है, और उस संस्कृत शरीर में निहित गर्भ उसी से संस्कृत हो जाता है, यह पक्ष मान लें, तब भी इस को आहवनीयाग्नि[2] न्याय से प्रतिगर्भ करना आवश्यक है। शास्त्रकारों ने भी नारी को क्षेत्रभूता कहा है। सभी कृषक जानते हैं कि अच्छी फसल प्राप्त करने के लिये प्रति फसल क्षेत्र को संस्कृत करना पड़ता है। कई बार फसल के मध्य में भी खाद

---

१. सकृत्संस्कृत-संस्काराः सीमन्तेन द्विजस्त्रियः।
यं यं गर्भं प्रसूयन्ते स सर्वः संस्कृतो भवेत्॥
हरिदत्तादिकृत पा० गृ० १।१४।३ की टीकाओं में उद्धृत।

२. आहवनीयाग्नि यद्यपि आधान के अनन्तर सतत प्रज्वलित रहती है, फिर भी शास्त्रकारों का कहना है—अपवृक्ते कर्मणि लौकिकः संपद्यते—कर्म के समाप्त होने पर आहवनीयाग्नि लौकिक अग्निवत् हो जाती है, अर्थात् पुनः कर्म करने योग्य नहीं रहती। अतः प्रतिदिन कर्मारम्भ से पूर्व गार्हपत्याग्नि से अग्नि लाकर उसे संस्कृत किया जाता है।

आदि देना पड़ता है। इससे स्पष्ट है कि जैसे अच्छी फसल के लिये क्षेत्र का सस्कार अपेक्षित है,वैसे ही प्रतिगर्भ गर्भस्थ बालक को संस्कृत करने के लिये इस संस्कार का करना युक्तिसंगत है। अत एव कर्काचार्य आदि स्पष्ट लिखते हैं—'प्रथम गर्भ में ही सीमन्तोन्नयन करना चाहिये' यह पक्ष स्वीकार करने पर द्वितीयादि गर्भों में इस संस्कार का लोप प्राप्त होगा। इस कारण यह पक्ष इष्ट नहीं है।'[1]

२१—उपनयन में ब्राह्मण आदि पदों का अभिप्राय

उपनयन संस्कार (पृष्ठ ६७, पं० १०–१५) में गृह्यसूत्र के वचनों की व्याख्या करते हुए ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य के उपनयन काल का निर्देश किया है। इस पर पौराणिक मतानुयायी आक्षेप करते हैं कि उपनयन के प्रकरण में ब्राह्मण आदि का निर्देश होने से जन्म से जाति (=वर्ण) की सिद्धि होती है। यह कथन शब्द-व्यवहार शून्य व्यक्ति ही कर सकता है। यहां ब्राह्मण आदि पद ब्राह्मण आदि से उत्पन्न बालक को जातादि सम्बन्धरूप लक्षणा से कहते हैं। अत एव इसी पृष्ठ पर मनु० के **'ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यो विप्रस्य पञ्चमे। राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे॥'** श्लोक को उद्धृत करके लिखा है—'जिसकी शीघ्र विद्या बल और व्यवहार करने की इच्छा हो, बालक भी पढ़ने में समर्थ हुए हों, तो ब्राह्मण के लड़के का··· क्षत्रिय के लड़के···वैश्य के लड़के का ।' यहां स्पष्ट ही ब्राह्मण आदि के लड़कों का निर्देश किया है। इतना ही नहीं, यदि मनु के श्लोक में विप्र राजा और वैश्य शब्द उनके बालक के लिये लक्षणा से प्रयुक्त न मानें, तो क्या ५,६ वा ८ वर्ष का बालक ब्रह्मवर्चस बल और व्यवहार की कामना कर सकता है? मनुस्मृतिकार का अभिप्राय स्पष्ट है कि जिस ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य को अपने पुत्र को ब्रह्मवर्चस्वी बलवान् और व्यवहारकुशल बनाने की इच्छा हो, वह अपने पुत्रों का ५, ६ वा ८ वर्ष की वयः में उपनयन करे।

इसी प्रकार **पयोव्रतो ब्राह्मणो०** आदि वचनों की व्याख्या में भी ब्राह्मण का लड़का, क्षत्रिय का लड़का, वैश्य का लड़का शब्दों का व्यवहार किया है।

---

१. अपरे तु वर्णयन्ति—सीमन्तोन्नयनं तु प्रथमगर्भ एवेति। अस्मिन् व्याख्याने द्वितीयादीनां गर्भाणां तत्संस्कारलोपः प्राप्नोति, तस्मान्नैतदिष्यते।

यदि किसी को उक्त लाक्षणिक अर्थ से सन्तोष न हो, तो उसके लिये एक दूसरा समाधान भी है, वह है—भावी संज्ञा। छाटे बछड़े को **बिल्वाद** (बेल का फल खानेवाला) कहते हैं। उस समय वह बिल्व फल खाने में असमर्थ होता है, क्योंकि उसके पूरे दांत ही नहीं होते। मुर्गे के बच्चे को भी **लम्बचूड** (लम्बी कलगीवाला) कहते हैं, यद्यपि उस समय उसके कलगी होती ही नहीं है। इसीलिये यास्क मुनि कहते हैं—**'पश्यामः पूर्वोत्पन्नानां सत्त्वानाम् अपरस्माद् भावान्नामधेयप्रतिलम्भमेकेषां नैकेषाम्।यथा बिल्वादो लम्बचूडकः।'** (निरुक्त १।१४)। अर्थात् हम लोक में देखते हैं कि पूर्व उत्पन्न वस्तु का उत्तर काल में होनेवाले भाव से किन्हीं को नामधेय की प्राप्ति होती है, किन्हीं को नहीं। जैसे बिल्वाद, लम्बचूडक।

महाभाष्यकार ने इसी भाव को इस प्रकार स्पष्ट किया है—

'कश्चित् कंचित् तन्तुवायमाह—अस्य सूत्रस्य शाटकं वय इति। स पश्यति—यदि शाटको न वातव्यः, अथ वातव्यो न शाटकः। शाटको वातव्यश्चेति विप्रतिषिद्धम्। भाविनी खल्वस्य संज्ञाऽभिप्रेता, स मन्ये वातव्यो यस्मिन्नुते शाटक इत्येतद् भवति।'

महा० १।१।४४॥

अर्थात्—कोई किसी जुलाहे को कहता है—इस सूत की धोती बुन दे। जुलाहा सोचता है—यदि यह धोती है तो बुनने योग्य नहीं, यदि बुनने योग्य है तो धोती नहीं। धोती और बुनने योग्य ये परस्पर विरुद्ध हैं। इस कहनेवाले को भाविनी (=बुनने के पश्चात् व्यवहार में आनेवाली) संज्ञा अभिप्रेत है। अतः इसे इस प्रकार बुनना चाहिये, जिसके बुन जाने पर धोती संज्ञा होवे।

इसी प्रकार प्रकृत में भी 'उस बालक का आठवें, दसवें, ग्यारहवें वर्ष में उपनयन करना चाहिये, जो अध्ययन करने के पश्चात् ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य कहावे। महाभाष्य (२।२।६) में लिखा है—'ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र शब्द गुणसमुदाय में प्रयुक्त होते हैं। तप श्रुत और योनि (=जन्म) ये ब्राह्मण को बनानेवाले हैं। तप और श्रुत से हीन व्यक्ति ब्राह्मण माता-पिता से उत्पन्न होने के कारण जन्मना ब्राह्मण है।[1]

१. सर्वे एते शब्दा गुणसमुदायेषु वर्तन्ते—ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्र इति—

कुलविशेष में जन्म पूर्वकृत कर्मों के अनुसार मिलता है, और ब्राह्मणादि कुलविशेष में हुआ जन्म उस बालक को उस कुल के अनुरूप बनने में सहायक होता है। इसी दृष्टि से महाभाष्यकार ने योनि को भी ब्राह्मणत्व-निष्पत्ति में निमित्त कहा है। इस पर अधिक विचार हमने महाभाष्य २।२।६ की हिन्दी-व्याख्या में किया है।

२२—'अग्ने सुश्रवः०' का एक मन्त्रत्व, त्रिमन्त्रत्व वा पञ्चमन्त्रत्व विचार

पृष्ठ १०८, पं० ७–११ तक **'ओ३म् अग्ने सुश्रवः'** आदि पाठ छपा है। यह पाठ पारस्करगृह्य में **'अग्ने सुश्रवः'** से लेकर **'निधिपो भूयासम्'** तक एक कण्डिका के रूप में है। इस में तीन मत हैं—एक मन्त्रत्व, त्रिमन्त्रत्व और पञ्चमन्त्रत्व। पारस्कर के जयराम हरिहर गदाधर और विश्वनाथ टीकाकार इन्हें पांच मन्त्र मानते हैं। कर्क ने **'मन्त्रैः'** बहुवचनमात्र का प्रयोग किया है। प्रत्यक्ष संख्या का निर्देश नहीं किया। 'हरिहर' किन्हीं आचार्यों के मत में 'तीन मन्त्र' का निर्देश करता है। 'गदाधर' ने किसी कारिका का पाठ उद्धृत किया किया है, जिसमें इस उक्त कण्डिका का विभाग पूर्व तीन मन्त्रत्व दर्शाया है—

अग्ने सुश्रव इत्येकं यथा त्वं स्याद् द्वितीयकम्।
यथा त्वमग्ने देवानां मन्त्रेणापि तृतीयकम्॥

पञ्चमन्त्रत्व पक्ष में प्रति मन्त्र अर्थात् पांच मन्त्रों से पांच वार अग्नि का परिसमूहन अर्थात् अग्नि को इकठ्ठा करने की क्रिया करनी होती है। त्रिमन्त्रत्व पक्ष में परिसमूहन क्रिया तीन बार की जाती है।

एकमन्त्रत्व पक्ष किसी प्राचीन आचार्य का देखने में नहीं आया। परन्तु पारस्करगृह्य में **'अग्निं समूहति— अग्ने सुश्रवः भूयासमिति'** पाठ, और अन्त में इतिकरण मिलता है, उससे एक मन्त्रत्व की प्रतीति होती है। ऋषि दयानन्द ने इस पाठ को पांच स्थानों पर उद्धृत किया है, और सर्वत्र **इस मन्त्र से** ऐसा निर्देश किया है। यथा— पृष्ठ १०८, पं० १२; पृष्ठ १०९, पं० २; पृष्ठ ११५, पं० १७;

'तपः श्रुतं च योनिश्चेत्येतद् ब्राह्मण-कारकम्।
तपःश्रुताभ्यां यो हीनो जातिब्राह्मण एव सः॥'

पृष्ठ ११७, पं० २; पृष्ठ १३५, पं० १८। 'इस मन्त्र से' निर्देश पूरी कण्डिका को एक मन्त्र मानने पर ही हो सकता है, पांच मन्त्र मानने पर 'इन मन्त्रों से' निर्देश होना चाहिये। याज्ञिक व्यवहार में प्रति मन्त्र कर्म की भी आवृत्ति होती है। ग्रन्थकार ने 'अग्नि को इकट्ठा करना' सामान्यरूप से ही लिखा है, अन्यथा 'प्रतिमन्त्र अग्नि को इकट्ठा करना, अथवा 'इन पांच मन्त्रों से पांच वार अग्नि को इकट्ठा करना' ऐसा निर्देश करना चाहिये। इतना ही नहीं, संस्कार-विधि की पाण्डुलिपि और प्रेसकापी में भी एक वार ओम् का निर्देश मिलता है, पांच बार नहीं। द्वितीय संस्करण छपते समय पं० भीमसेन और पं० ज्वालादत्त ने पारस्कर के टीका-ग्रन्थों के अनुसार विभाग करके पांच बार ओम् का निर्देश किया है। परन्तु 'इस मन्त्र से' पद सर्वत्र उसी प्रकार रह गये, अर्थात् पांच मन्त्र पक्ष में इन मन्त्रों से' ऐसा संशोधन नहीं किया।

इस भूल की ओर हमारा पहले ध्यान नहीं गया था। ग्रन्थ छप जाने पर श्री पं० महेन्द्र शास्त्री जी ने हमारा ध्यान इस ओर आकृष्ट किया।

२३—'इसी प्रकार दूसरी और तीसरी समिधा छोड़े' का तात्पर्य

पृष्ठ १०८, पं० २३ का पाठ है—'इसी प्रकार दूसरी और तीसरी समिधा छोड़े।' इस का तात्पर्य यह है कि जैसे प्रथम समिधा को अग्नि में छोड़ने के लिये मन्त्र बोला, उसी प्रकार दूसरी बार मन्त्र बोलकर दूसरी समिधा को, और तीसरी बार मन्त्र बोलकर तीसरी समिधा को अग्नि में छोड़े। ऋषि दयानन्द का उक्त पाठ पारस्कर गृह्य २।४।४ 'एवं द्वितीयाम् तथा तृतीयाम्' पाठ का भाषान्तर-मात्र है।

२४—क्या ब्रह्मचारी के लिये लवण वर्जित है?

पृष्ठ ११४, पं० १५—क्षार=अधिक लवण। इस व्याख्या से स्पष्ट है कि ऋषि दयानन्द ब्रह्मचारी के लिये अधिक लवण का सेवन वर्जित मानते हैं। भोजन में उचित मात्रा में लवण को ब्रह्मचर्य के लिये वे हानिकारक नहीं मानते। चरक में लिखा है—'स्वास्थ्य के

लिये छहों रसों का उचित मात्रा में सेवन करना आवश्यक है ।[1] अतः जिस रस का सेवन छोड़ दिया जायेगा, उससे होनेवाले लाभ से वह व्यक्ति वञ्चित रह जावेगा । अग्राम्य भोजन (फल मूल कन्द दुग्ध आदि) का ही सेवन करना इष्ट हो, तो बाहर से किसी भी रस-विशेष के ग्रहण की आवश्यकता नहीं रहती । ग्राम्य भोजन में जैसे अन्न को पकाकर खाना आवश्यक होता है, उसी प्रकार शरीर-पोषक तत्त्वों की ग्राम्य भोजन से पूर्ति न होने से ऊपर से भिन्न-भिन्न रसों को भोजन में मिलाकर सेवन करना पड़ता है । जैसे गाय आदि जो पशु केवल हरे चारे पर निर्वाह करते हैं, उन्हें लवण देने की आवश्यकता नहीं होती, किन्तु जिन पशुओं का निर्वाह सूखे चारे भूसे आदि तथा अन्न की सानी पर होता है, उन्हें अलग से नमक देना आवश्यक होता है । अतः जो ब्रह्मचारी कन्द मूल फल दुग्ध आदि पर रहना चाहे, उसे न मीठे की आवश्यकता है न नमक की । परन्तु ग्राम्यभोजन करनेवाले ब्रह्मचारी के लिये सभी रसों का उचित मात्रा में सेवन आवश्यक है । इसी दृष्टि से संस्कृतसूत्रस्थ क्षार का अर्थ ऋषि दयानन्द ने **अधिक लवण** किया है ।

२५—त्रुटित पाठ की पूर्ति

पृष्ठ ११५, पं० १६, १७ तथा पृष्ठ ११७, पं० २, ३ में क्रमशः पाठ हैं—

"ओम् अग्ने सुश्रवः०" इस मन्त्र से तीन समिधा की आहुति देवे ।

(अग्ने सुश्रवः०) इस मन्त्र से समिधा होम,......।

यहां दोनों स्थानों पर पाठभ्रंश हुआ है । यह पृष्ठ १०८, पं० ७–२२ तथा पृष्ठ १३५, पं० १७–२० के पाठों की तुलना से स्पष्ट है । यहां दोनों स्थानों पर क्रमशः शुद्ध पाठ इस प्रकार होना चाहिये—

---

१. 'एवमेते षड् रसाः पृथक्त्वेनैकत्वेन वा मात्रशः सम्यगुपयुज्यमानाः उपकारका भवन्ति अध्यात्मलोकस्य (=सर्वप्राणिनः), अपकारकाः पुनरतो अन्यथा भवन्ति उपयुज्यमाना । तान् विद्वान् उपकारार्थमेव मात्रश सम्यगुपयोजयेदिति ॥ सूत्रस्थान अ० ६।४१॥

'(ओम् अग्ने सुश्रव:०) इस मन्त्र से [वेदी के अग्नि को इकट्ठा करे। तत्पश्चात् पृष्ठ १०८ में लिखे प्रमाणे (ओम् अग्नये समिध०) इस मन्त्र से] ३ समिधा की आहुति देवे।'

'(अग्ने सुश्रव:०) इस मन्त्र से [वेदी के अग्नि को इकट्ठा करे। तत्पश्चात् पृष्ठ १०८ में लिखे प्रमाणे (ओम् अग्नये समिध०) इस मन्त्र से] समिधा होम, ·· ।'

दोनों स्थानां पर कोष्ठान्तर्गत पाठ छूटने का कारण मन्त्र-प्रतीक के आगे 'इस मन्त्र से' पदों का समान पाठ है। ऊपर-नीचे समान पाठ होने पर लिपिक तथा संशोधक के दृष्टि-दोष से पाठ प्रायः छूट जाता है।

२६—दो पारस्परिक विरोध और उनका समाधान

विवाह-प्रकरण में दो स्थानों पर परस्पर विरुद्ध वचन उपलब्ध होते हैं। यथा—

प्रथम विरोध—पृष्ठ १५३ में लिखा है—'जब कन्या रजस्वला होकर पृष्ठ ४३-४५ में लिखे प्रमाणे शुद्ध हो जाय, तब जिस दिन गर्भाधान की रात्रि निश्चित की हो, उसमें विवाह करने के लिये ·।'

इस पाठ के अनुसार जिस रात्रि में विवाह-संस्कार हो, उसी रात्रि में गर्भाधान का निर्देश किया है।

इसके विपरीत पृष्ठ १८९ में लिखा है—

'वधू और वर पृथक्-पृथक् स्थान में भूमि में बिछौना करके तीन रात्रि पर्यन्त व्रतसहित रहकर शयन करें······। तत्पश्चात् चौथे दिवस विधिपूर्वक गर्भाधान संस्कार करें।'

इस पाठ में विवाह के पश्चात तीन दिन ब्रह्मचर्यपूर्वक रहकर चौथे दिन गर्भाधान करना चाहिये, ऐसा निर्देश किया है।

सत्यार्थप्रकाश पृष्ठ १३६ में भी प्रथम पक्ष का ही निर्देश किया है। वहां लिखा है—

'जिस दिन ऋतुदान देना योग्य समझें, उसी दिन 'संस्कारविधि' पुस्तकस्थ विधि के अनुसार सब कर्म करके मध्य रात्रि वा १० बजे तक अति प्रसन्नता से सब के सामने पाणिग्रहणपूर्वक विवाह के विधि को पूरा करके एकान्त सेवन करें।'

द्वितीय विरोध—पृष्ठ १५३ में लिखा है -'पश्चात् एक घण्टे मात्र रात्रि जाने पर······।'

'एक घण्टे' पर चिह्न देकर टिप्पणी में लिखा है—'यदि आधी रात तक विधि पूरा न हो सके, तो मध्योह्नोत्तर आरम्भ कर देवे। जिससे मध्य रात्रि तक विवाह-विधि पूरा हो जावे।'

यह टिप्पणी मध्याह्नोत्तर काल की विधायिका नहीं है, अपितु मध्यरात्रि तक विवाह-विधि पूरी होने में संदेह हो, तो तब तक विधि को पूर्ण करने के लिये आरम्भ करने के काल का अपकर्षण (=पूर्व खींचना) मात्र में इसका तात्पर्य है।

उक्त काल के विपरीत पृष्ठ १८१, पं० १० में लिखा है—

'इस मन्त्र को पढ़कर सूर्य का अवलोकन करे।'

पुनः पृष्ठ १८३, पं० १ में लिखा है—

'तत्पश्चात् सूर्य अस्त हुए पीछे आकाश में नक्षत्र दीखें ।'

इन दोनों वचनों से स्पष्ट है कि विवाह-कर्म दिन में होना चाहिये। इस प्रकार विवाह-काल के विषय में भी परस्पर विरोध है।

विरोधों का परिहार

हम इसी परिशिष्ट के आरम्भ में लिख चुके हैं कि ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों में अधिकतर प्राचीन ऋषि-मुनियों के मन्तव्यों का ही संग्रह है। यह बात ग्रन्थकार ने 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' में इस प्रकार लिखी है—

'**एतेषां संग्रहमात्रेणैव सत्योऽर्थः प्रकाश्यते, न चात्र किञ्चिद् अप्रमाणं नवीनं स्वेच्छया रच्यत इति।**' ऋग्वेदभाष्य भाग १, पृष्ठ ३७०, पं० ९; ऋ० भा० भू० पृष्ठ ३६४, पं० ८ (रामलाल कपूर ट्रस्ट सं०)

यही स्थिति उनके 'संस्कारविधि' और 'सत्यार्थप्रकाश' आदि अन्य ग्रन्थों की है। इतना होने पर भी हमें अपने स्वल्प ज्ञान के कारण कहीं-कहीं ऐसी बातें भी मिलती हैं, जो प्राचीन ग्रन्थों में नहीं हैं। उनको हम ग्रन्थकार के नीरजस्तम आप्त शिष्ट व्यक्ति होने से प्रमाण मानते हैं। भगवान् जैमिनि ने प्राचीन कल्पशास्त्र (=श्रौत-गृह्य-स्मार्त सूत्र) के प्रामाण्याप्रामाण्य के विषय में लिखा है -'**विरोधे त्वनपेक्ष्यं स्याद् असति ह्यनुमानम्**' (मीमांसा १।१।३) अर्थात 'कल्पशास्त्र की जो विधियां वेदवचन से विरुद्ध हों, उनकी

उपेक्षा करनी चाहिये=प्रमाण नहीं मानना चाहिये। किन्तु जिन विधियों के विरुद्ध वेदवचन उपलब्ध न हों, वहां अनुमान करना चाहिये कि उन्होंने उक्त विधियां किन्हीं वेदवचनों के आधार पर लिखी हैं।' इस न्याय के अनुसार अनुपलभ्य-प्रमाणमूलक शास्त्राविरुद्ध स्वामी दयानन्द के वचनों के सम्बन्ध में मानना चाहियें कि ग्रन्थकार ने उक्त बातें भी किसी आधार पर लिखी हैं।

अब यदि यह कहा जाये कि—'उक्त दोनों विषयों (विवाह की रात्रि में ही गर्भाधान, तथा रात्रि में विवाह करने) में गृह्यसूत्रों के साथ प्रत्यक्ष विरोध आता है, फिर उक्त दोनों कथन कैसे स्वीकार किये जा सकते हैं? इस विषय में हमारा कहना यह है कि स्वामी दयानन्द सरस्वती भी उसी कोटि के आप्त शिष्ट पुरुष हैं, जिस कोटि के गृह्यसूत्रकार। अतः दोनों में यदि कहीं विरोध दृष्टिगत होवे, तो उस पर शास्त्रीय पद्धति से विचार करना चाहिये। वह शास्त्रीय पद्धति क्या है? इसका उत्तर महाभाष्यकार पतञ्जलि देते हैं—

'पक्षान्तरैरपि परिहारा भवन्ति।'

महा० १।१ ऋलृक् सूत्र भाष्य।

अर्थात्—वहां पर पक्षान्तर मानकर परिहार (=समाधान) करना चाहिये।

प्रथम विरोध का परिहार—उक्त न्याय के अनुसार प्रथम विरोध के स्थलों में दोनों को दो स्वतन्त्र पक्ष मानकर समाधान करना चाहिये। तदनुसार विवाह-रात्रि में ही श्वशुर गृह में गर्भाधान एक पक्ष है, और तीन रात्रि व्रतस्थ रहकर स्वगृह पर आकर चतुर्थ रात्रि में गर्भाधान करना दूसरा पक्ष है। ग्रन्थकार ने भी पृष्ठ १९६, पङ्क्ति १२-१५ तक द्वितीय पक्ष को पक्षान्तररूप में स्वीकार किया है।

पक्षान्तर स्वीकार करने पर भी एक शंका तदवस्थ ही बनी रहती है, वह है चतुर्थी कर्म संज्ञा। विवाहरात्रि में ही सहवास मानने पर चतुर्थीकर्म संज्ञा कैसे होगी? तीन दिन व्रतस्थ रहने पर सहवास मानने पर ही 'चतुर्थीकर्म' संज्ञा उपपन्न हो सकती है।

इसका समाधान यह है कि **चतुर्थीकर्म** गर्भाधान कर्म का ही

नामान्तर है'। रजस्वला होने के पश्चात् रजोदर्शन की निवृत्ति होने पर चौथी रात्रि गर्भाधान का काल माना गया है। अतः 'चतुर्थीकर्म' संज्ञा-लक्षणा से यह गर्भाधान-कर्म को ही कहती है। यदि ऐसा न माना जाये, तो दूसरे मत में भी दोष आता है। जिन ग्रन्थों में चतुर्थीकर्म का उल्लेख है, उनमें भी कहा है—

'अक्षारलवणाशिनौ ब्रह्मचारिणावलंकुर्वाणावधः शायिनौ स्याताम्। अत ऊर्ध्वं त्रिरात्रं द्वादशरात्रं संवत्सरं चैके ऋषिर्जायते।'

आश्वलायन गृह्य १।८।१०,११॥

'त्रिरात्रमक्षारलवणाशिनौ स्यातामधः शयाताम्। संवत्सरं न मिथुनमुपेयाताम्, द्वादशरात्रं षड्रात्रं त्रिरात्रमन्ततः।'

पारस्करगृह्य १।८।२१॥

दोनों का भाव यही है कि विवाह के पीछे तीन रात्रि तक व्रतस्थ रहें। संवत्सर-पर्यन्त सहवास न करें, अथवा १२ रात्रि तक, अथवा ६ रात्रि तक, कम से कम तीन रात्रि तक। इन वचनों के अनुसार षड्रात्र द्वादशरात्र और संवत्सर के पश्चात् सहवास करने पर चतुर्थीकर्म संज्ञा कैसे उपपन्न होगी? अन्त में इन पक्षों में भी लक्षणा का ही आश्रय लेना होगा। इतना ही नहीं, काठक गृह्यसूत्र (३०।१; पृ० १२७) तथा लौगाक्षिगृह्यसूत्र (कं० ३०।१; पृ० ३०३) में न्यूनातिन्यून पक्ष **एकां वा** भी लिखा है। भला **एकां वा** पक्ष में तो चतुर्थी-कर्म संज्ञा लक्षणा से भी उपपन्न नहीं होती। अतः स्पष्ट है कि चतुर्थी-कर्म को गर्भाधान का पर्याय मानना ही युक्त है।

काठक और लौगाक्षि गृह्यसूत्रों के **एकां वा** पक्ष में और स्वामी दयानन्द सरवती के सद्यः पक्ष में बहुत स्वल्प अन्तर है।

सद्यः पक्ष में प्रमाण—जो लोग स्वामी दयानन्द को हमारे समान आप्त पुरुष नहीं मानते, वे कह सकते हैं कि हम गृह्यसूत्रों के विपरीत स्वामी दयानन्द के कहनेमात्र से सद्यः पक्ष को प्रमाण

१. लौगाक्षि गृह्यसूत्र का भाष्यकार देवपाल विवाह कर्म के अनन्तर ब्रह्मचर्य-विधायक सूत्र 'संवत्सरं ब्रह्मचर्यं ' की उत्थानिका में लिखता है—'अथ गर्भाधानम्। कं० ३०।१, पृष्ठ ३०३।' पारस्कर गृह्य में गर्भाधान का निर्देश विवाह के पश्चात् 'चतुर्थ्यामपररात्रे' (१।११) सूत्र में 'चतुर्थी' का निर्देश करके किया है।

नहीं मानते। उनके लिये हम इस विषय में प्रमाण भी उद्धृत करते हैं—

१—आश्वलायन गृह्यसूत्र का टीकाकार गार्ग्य नारायण १।७।२ की टीका में लिखता है—

वैदेहेषु सद्य एव व्यवायो दृष्टः। गृह्ये ब्रह्मचारिणौ त्रिरात्रमिति ब्रह्मचर्यं विहितम्॥ १।७।२, पृष्ठ २१।

अर्थात्—विदेह-निवासियों में सद्यः (=विवाह रात्रि में ही) सहवास देखा जाता है, परन्तु गृह्यसूत्र में तीन रात्रि पर्यन्त ब्रह्मचर्य का विधान किया है।

२—महाभारत में द्रौपदी का पांचों पाण्डवों के साथ विवाह का वर्णन मिलता है (द्र०—आदि पर्व अ० १९८, श्लोक १३, १४)। इस प्रकरण को प्रक्षिप्त मानने पर भी इससे इतना तो स्पष्ट है कि जब यह प्रक्षेप हुआ, उस काल में सद्यः सहवास की प्रथा विद्यमान थी। क्योंकि इस प्रकरण में प्रथम रात्रि में ही सहवास का उल्लेख मिलता है। 'महाभारत मीमांसा' ग्रन्थ के लेखक चिन्तामणि विनायक वैद्य ने लिखा है—

'पहले दिन युधिष्ठिर के साथ द्रौपदी का विवाह हुआ, तब उसी रात को समागम हुआ।''......धर्मशास्त्रों में भी कई स्थलों पर आता है कि विवाह के दिन ही पति-पत्नी का समागम हो।' पृष्ठ २२३, कालम १।

इन दोनों उद्धरणों से स्पष्ट है कि स्वामी दयानन्द का उल्लिखित सद्यः सहवास पक्ष उनकी स्वकल्पनामात्र नहीं है। प्राचीन ग्रन्थों में इस पक्ष का भी उल्लेख विद्यमान है। इसीलिये हम पक्षान्तर-कल्पना द्वारा समाधान करना युक्त मानते हैं।

द्वितीय विरोध का परिहार—द्वितीय विरोध विवाह का रात्रिकाल और दिवाकाल विषयक है। वस्तुतः यहां भी विरोध नहीं है। दो स्वतन्त्र पक्ष हैं—एक रात्रिपक्ष और दूसरा दिवापक्ष। रात्रिपक्ष में 'तच्चक्षुः०' मन्त्र से अग्नि का दर्शन कराया जाता है, और दिवापक्ष में सूर्य का। **'अस्तमितेऽग्निम्'** (लौगाक्षिगृह्य २५।३९, काठक गृह्य २४।४४) ऐसा कह कर सूर्य के अभाव में अग्नि दर्शन का

विधान तो गृह्यसूत्रकारों ने भी किया है। यदि कहा जाये कि अग्नि-दर्शन में मन्त्रलिङ्ग बाधक है, क्योंकि मन्त्र में देवों के चक्षु सूर्य का संकेत है। यह भी बाधा नहीं है। ब्राह्मण ग्रन्थों में 'अग्निर्वै देवानां चक्षुः' ऐसा स्पष्ट निर्देश मिलता है। ऋग्वेद १०।८८।६ में अग्नि को ही स्थानभेद से अग्नि विद्युत् आदित्य के रूप में कहा है, (द्र०—निरुक्त ७।२८)। अतः 'तच्चक्षुः०' मन्त्र से सूर्य के समान अग्नि का दर्शन भी कराया जा सकता है। आजकल के अनेक अशास्त्रज्ञ पुरोहित रात्रि-विवाह में सूर्यदर्शन के समय कहते हैं कि 'मन से सूर्य का ध्यान करो'। उनका यह कहना शास्त्र-विरुद्ध है, उन्हें अग्नि का दर्शन कराना चाहिये।

२७—पाणि-ग्रहण के मन्त्रों का अर्थ

पृष्ठ १७२ से १७६ तक पाणि-ग्रहण अथवा प्रतिज्ञा के मन्त्रों के अर्थ ग्रन्थकार ने वर-वधू दोनों परक किये हैं। मन्त्रों के पदों पर ध्यान देने से विदित होता है कि ये मन्त्र वर के ही प्रतिज्ञा-विषयक हैं। इस पर कहा जा सकता है कि मन्त्रपदों के अनुसार वधूपरक अर्थ करना चिन्त्य है। परन्तु शास्त्रीय पद्धति पर ध्यान दिया जाये, तो ग्रन्थकार के उभय परक अर्थ ठीक हैं। वैयाकरणों का मत है कि पाणिनीय अष्टाध्यायी के सूत्रों में लिङ्गवचन को अतन्त्र=अप्रधान माना जाता है--**सूत्रे लिङ्गवचनमतन्त्रम्**। इस नियम के अनुसार **तस्यापत्यम्** आदि सूत्रों में लिङ्गवचन को प्रधानता न देकर स्त्रीलिङ्ग पुँल्लिङ्ग एकवचनान्त द्विवचनान्त बहुवचनान्त प्रातिपदिकों से स्त्री वा पुमान् अपत्य चाहे एक हो, दो हों या बहुत, सब अर्थों में प्रत्यय होता है। यदि यह नियम न मानें, तो पुँल्लिङ्ग एकवचनान्त प्रातिपदिक से नपुंसक एक सन्तान अर्थ में ही प्रत्यय होना चाहिये। सूत्र में लिङ्गवचन अतन्त्र इसलिये स्वीकार किये जाते हैं कि यदि सभी लिङ्गों और वचनों का निर्देश करें, तो सूत्र का सूत्रत्व=सूक्ष्मत्व ही नष्ट हो जावे। 'सूत्र' का लक्षण यह किया जाता है—

अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद् विश्वतो मुखम्।
अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः॥

अर्थात्—जो अल्पाक्षर हो, जिसका अर्थ सन्दिग्ध न हो, सारवान्=महत्त्वपूर्ण हो और सब प्रकार के विषय को कहने में समर्थ

हो, व्यर्थ पद न हो, अशुद्ध प्रयोग भी न हो, ऐसे वचन को 'सूत्र' कहा जाता है।

यद्यपि सूत्र शब्द के प्रयोग से प्रायः गद्यपठित वचन ही ध्यान में आते हैं, परन्तु प्राचीन शास्त्रों, जिनका प्रणयन पद्यबद्ध हुआ था, उनके एक अर्थ के प्रतिपादक भाग को भी 'सूत्र' कहा जाता है। यथा ऋक्प्रातिशाख्य के सूत्र।

वैदिक मन्त्रों में भी सूत्र का लक्षण पूर्णतया घटता है। मन्त्रों में भी गागर में सागर निबद्ध है। अतः वैदिक मन्त्रों में भी सूत्रों के लिये व्यवहृत नियम यथावत् व्यवहरणीय हैं। यह मानकर स्वामी दयानन्द सरस्वती ने उक्त मन्त्रों में पुँल्लिङ्ग या स्त्रीलिङ्ग पदों का प्रयोग होने पर दोनों परक अर्थ किये हैं। इतना हीं नहीं भाष्यकार पतञ्जलि ने तो यहां तक लिखा है कि 'व्यवहार में प्रातिपदिकों का निर्देश अर्थ के अनुसार होता है। अतः जहां जिस विभक्ति की योग्यता हो, वहां उस विभक्ति का योग हो जाता है—'प्रातिपदिक-निर्देशाश्च अर्थतन्त्रा भवन्ति, तत्र यां यां विभक्तिमाश्रयितुं बुद्धि-रुपजायते सा साऽऽश्रयितव्या' (महा० १।१।५५)। ऋषि दयानन्द नें महाभाष्यकार के इस वचन को ऋग्वेदभाष्य के नमूने के अङ्क में 'वायवा याहि०' (ऋ० १।२।१) मन्त्र के व्याख्यान में पृष्ठ २४ पर (प्रथम संस्करण,संवत् १९३४) उद्धृत किया है।[1] महाभाष्यकार नें प्रातिपदिक के सम्बन्ध में जो बात कही है, वह आख्यात के विषय में भी जाननी चाहिये। वहां धात्वर्थ की प्रधानता अभिप्रेत होती है, लकार पुरुष वचन गौण होते हैं।[2]

इतना ही नहीं, पति-पत्नी में सप्तपदी के सातवें मन्त्र के अनु-सार सख्यभाव स्वीकार किया गया है। अतः मित्रता के नाते दोनों बराबर हैं। इसलिये गृहस्थ-सम्बन्धी प्रतिज्ञा भी दोनों को समानरूप से करनी चाहिये। इसी दृष्टि से **'मम व्रते०'** (पृष्ठ १८१) मन्त्र का भी ऋषि दयानन्द नें उभयपरक अर्थ किया है।

---

१. वैदिक यन्त्रालय के छपे उत्तरवर्ती संस्करणों में 'वायवा याहि' मन्त्र का मुद्रित अंश नहीं छापा गया।

२. इस विषय पर हमने महाभाष्य १।२।३९ की हिन्दी व्याख्या में 'विशेष' शीर्षक देकर विस्तार से लिखा है (पृष्ठ ७९-८१), वहां देखें।

ग्रन्थकार ने 'सर्वभूतेषु चात्मानम्, एकत्वमनुपश्यतः' (यजु० ४०।६,७) इस वैदिक भावना को प्रधानता देते हुए उपनयन-संस्कार में भी 'मम व्रते०' (पृष्ठ १०४) की व्याख्या में आचार्य और शिष्य दोनों से प्रतिज्ञा कराई है। जब शिष्य भी गुरु से प्रतिज्ञा करा सकता है, तो भला वर-वधू एक दूसरे से प्रतिज्ञा क्यों न करावें ?

२८—लाजाहोम के आहुति के मन्त्र

पृष्ठ १७७,पं०१६ में ग्रन्थकार ने विधान किया है कि प्रतिवार लाजा-होम तीन मन्त्रों से करना चाहिये। अर्थात् प्रति वार तीन लाजाहुतियां होनी चाहियें। यह विधान पारस्कर गृह्यसूत्र १।७।४ के अनुसार है (द्र०—पा० गृ० की टीकाएं)। गोभिल गृह्यसूत्र (२।२।७) तथा कतिपय अन्य गृह्यसूत्रों में प्रतिवार एक मन्त्र से एक ही आहुति देने का विधान मिलता है।

२९—सूर्य-दर्शन

पृष्ठ १८१ में सूर्य-दर्शन का उल्लेख है। रात्रि-विवाह पक्ष में सूर्य के स्थान पर 'अस्तमितेऽग्निम्' (लौगाक्षिगृह्य २५।३९, काठकगृह्य २४।४४)के अनुसार अग्नि का दर्शन कराना चाहिये। इस विषय पर पूर्व टिप्पणी संख्या २६ (पृष्ठ ३४५)में विस्तार से लिख चुके हैं।

३०—उत्तरविधि का समय

पृष्ठ १८३ में लिखा है—'तत्पश्चात् सूर्य अस्त हुए पीछे···।' यह लेख पारस्कर गृह्य आदि के दिवापक्ष की दृष्टि से है। रात्रिपक्ष में पूर्वविधि के समाप्त होने के तत्काल पश्चात् अथवा कुछ विश्राम करके किया जा सकता है।

३१—'सुमङ्गलीरियं' मन्त्र का पाठ

पृष्ठ १८२ और पृष्ठ १९१ दो स्थानों पर सुमङ्गलीरियं मन्त्र का पाठ विहित है। पृष्ठ १८२ पर पूर्वविधि के अन्त में सुमङ्गलीरियं० मन्त्र का जो पाठ लिखा है वह दिवाविवाह पक्ष में जानना चाहिये। विवाह में पूर्वविधि ही मुख्य है। रात्रिपक्ष में जब दोनों

विधियां एक साथ करनी हों, तो इस मन्त्र के पाठ का उत्तरविधि के अन्त में उत्कर्ष करना चाहिये, जैसा कि काठक गृह्यसूत्र में विधान मिलता है। एक ही समय में एक ही स्थान पर विवाह पक्ष में विवाह के मध्य में उक्त मन्त्र का पाठ अर्थ के अनुकूल नहीं रहता। इस मन्त्र के भावानुसार वर विवाह में समागत अतिथियों से वधू के सौभाग्यत्व की कामना करता हुआ उन्हें अपने-अपने घरों पर जाने की अनुज्ञा देता है--**सौभाग्यमस्यै दत्त्वा याथास्तं विपरेतन**। ग्रन्थकार ने वर के गृह पर वधू को देखने के लिये आये हुये व्यक्तियों से उक्त कामना के लिये जो मन्त्र का विनियोग किया है, वह दोनों पक्षों (दोनों विधियां वधू के घर पर हों, चाहे पूर्वविधि वधू के घर पर और उत्तरविधि वर के घर पर) में यथावत् उपपन्न होता है।

३२—उत्तरविधि के दो स्थान

गृह्यसूत्रकारों के मतानुसार उत्तरविधि (=ध्रुवादि दर्शन पृष्ठ १८२–१९५) करने के पक्षभेद से दो स्थान हैं। हमने जिन, ८–१० गृह्यसूत्रों का अवलोकन किया है, उनमें से पारस्कर, जैमिनि गोभिल, लौगाक्षि, आश्वलायन और काठक प्रभृति गृह्यसूत्रों में पूर्वविधि उत्तरविधि और रथारोहणादि (प्रतिगमनार्थ) का क्रमशः निर्देश है। एतदनुसार दोनों विधियां एक ही दिन में होती है। परन्तु उत्तरविधि वधू के घर वा बरात के निवास स्थान वा किसी ब्राह्मण के घर में करने का विधान मिलता है। दूसरे दिन बरात वापस लौटती है। शाङ्खायन कौषीतकि आपस्तम्ब वराह और मानव प्रभृति गृह्यसूत्रों में पूर्वविधि रथारोहणादि और उत्तरविधि का निर्देश क्रमशः उपलब्ध होता है। इस क्रम से स्पष्ट है कि इन गृह्यकारों के मत में उत्तरविधि वर के घर पर लौटकर की जाती है।

ऋषि दयानन्द के मत में विवाह की दोनों विधियां वधू के गृह पर ही होती हैं। दिवापक्ष में भी पारस्कर आदि के समान दोनों विधियां वधू के गृह पर ही ग्रन्थकार को इष्ट हैं, क्योंकि ग्रन्थकार के मतानुसार उसी रात में चतुर्थी-कर्म (=गर्भाधान) भी इष्ट है।

३३—त्रिरात्र ब्रह्मचर्य

पृष्ठ १८८ पर त्रिरात्र ब्रह्मचर्य का विधान किया है। यह

गृह्यसूत्रकारों के मतानुसार है। इस विषय पर हम पूर्व इसी परिशिष्ट (टि० सं० २६) में विस्तार से लिख चुके हैं।

३४—क्या वानप्रस्थ संन्यास अवैदिक हैं ?

पृष्ठ १६७, पं० १० पर उद्धृत गृहस्थाश्रम सम्बन्धी मन्त्र में 'इहैव······विश्वमायुर्व्यश्नुतम्' पद हैं। इन पदों का ग्रन्थकार ने पृष्ठ १६८ पं० १३-१६ तक जो अर्थ किया है, वह युक्तिसंगत है। परन्तु अनेक विद्वान् इन पदों के आधार पर कहते हैं कि वेद सम्पूर्ण आयु गृहस्थ में ही रहने का विधान करता है। अतः वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम अवैदिक हैं। इसमें एक प्रमाण बौधायन धर्मसूत्र का भी उद्धृत किया जाता है। वह इस प्रकार है—

'तत्रोदाहरन्ति—प्रह्लादिर्वै कपिलो नामासुर आस, स एतान् भेदांश्चकार देवैः सह स्पर्धमानः, तान् मनीषी नाद्रियेत।'

बौधा० धर्म० २।११।३०॥

इसका भाव यह है कि ऐकाश्रम्य में प्राचीन वचन उद्धृत करते हैं—प्रह्लाद का पुत्र कपिल नाम का असुर था। उसने देवों के साथ स्पर्धा करते हुए इन [चार आश्रमों के] भेदों को उत्पन्न किया। इनको विद्वान् स्वीकार न करें।

अब हम क्रमशः दोनों प्रमाणों पर विचार करते हैं—

प्रथम प्रमाण में इस गृहस्थ आश्रम में विश्व=सम्पूर्ण आयु व्यतीत करने का जो निर्देश है, उसका क्या तात्पर्य है ? वैदिक वचनों में जहां अर्थ अस्पष्ट हो अथवा विरोध आता हो, उसके लिए जैमिनि ने पूर्वमीमांसा शास्त्र रचा है। अतः उसकी दृष्टि से ऐसे वचनों का अभिप्राय जानने का प्रयत्न करना चाहिये। ब्राह्मण का एक वचन है—

पूर्णाहुत्या सर्वान् कामान् अवाप्नोति।

यदि इस वाक्य का सामान्य अर्थ ग्रहण किया जाये, तो अग्न्याधान की पूर्णाहुति से ही सब कामनाएं पूर्ण हो जाने से अन्य यज्ञकर्म अनर्थक हो जावें। अतः भगवान् जैमिनि ने सूत्र की रचना की है— **सर्वत्वमाधिकारिकम्** (१।२।१६)। इसका भाव यह है कि जिस

कर्म का जितना अधिकार क्षेत्र है,तद्विषयक यहां सर्वत्व ग्रहण किया जाता है। अग्न्याधान की पूर्णाहुति से श्रौत अग्नियों का आधान कर्म निष्पन्न हो जाता है। अतः उससे उत्तर सब कर्मों के करने में अधिकार प्राप्त हो जाता है। इतना ही उसका सर्वकामत्व जानना चाहिये।

सर्व और विश्व शब्द एकार्थक हैं। अतः **सर्वत्वमाधिकारिकम्** नियम के अनुसार इसका अर्थ होगा--इह=गृहाश्रम में स्थित रहने की जितनी आयु है, उतने पूर्ण काल तक गृहस्थ में रहो, उसके मध्य तुम पति-पत्नी का वियोग न होवे।

वानप्रस्थ और संन्यास वेदविहित नहीं है, यह प्रवाद पर्याप्त पुराना है। भगवान् वात्स्यायन ने न्यायदर्शन ४।१।६०, ६१, ६२ के भाष्य में इस प्रवाद का बड़ी प्रबलता से सप्रमाण निराकरण करके संन्यास आश्रम का प्रतिपादन किया है।

अब रही बौधायन धर्मसूत्र के उद्धरण की बात। उस विषय में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि उक्त वचन पूर्वपक्षरूप है। बौ० धर्मसूत्र में वानप्रस्थ और संन्यास का सविस्तर वर्णन मिलता है।

उक्त बौधायन वचन में प्रह्लाद पुत्र कपिल असुर को आश्रम-भेद का प्रारम्भक कहा है। इससे यह भ्रान्ति नहीं होनी चाहियें कि यह आसुर मत है। वैदिक ग्रन्थों और प्राचीन इतिहास ग्रन्थों से यह स्पष्ट है कि असुर लोग पहले वैदिक वर्णाश्रम धर्म के यथावत् मानने वाले थे, उत्तरकाल में वे धर्मभ्रष्ट हुए। इस सम्पूर्ण इतिहास को असुरों के लिये प्रयुक्त होनेवाला **पूर्वदेवाः** पद अपने में समेटे हुए हैं। असुर शब्द स्वर भेद से दो प्रकार का है—असुर, असुर। प्रथम का अर्थ है—समस्त दुर्गुणों दोषों से दूर रहनेवाला। यह असु क्षेपणे से उरन् प्रत्ययान्त है, यह श्रेष्ठ अर्थ का वाचक है। इसी श्रेष्ठार्थक असुर शब्द का अपभ्रंश अहुर है, जो पारसियों का प्रधान देव है। दूसरे असुर शब्द का अर्थ है—असुषु रमते जो केवल प्राणपोषण में ही लगा रहता हो। आसुरी प्रवृति वा सभ्यता इसी निन्दित अर्थ वाले असुर से सम्बन्ध रखती है। विचारने की बात है कि यदि 'खाओ पिओ मौज उड़ाओ' प्रवृत्तिवाला प्रह्लाद पुत्र कपिल होता तो वह कभी भी वानप्रस्थ और संन्यास का विधान नहीं कर सकता था। बौधायन के काल में असुर शब्द निन्दार्थक ही प्रसिद्ध हो गया

था। अतः उसी अर्थ की दृष्टि से बौधायन ने उक्त वचन पूर्व पक्ष में उद्धृत किया है। अतः इन आश्रमों को अवैदिक कहना अपना ही अज्ञान प्रकट करना है।

३५—सन्ध्योपासन की विधि

पृष्ठ २२४, पं० ११, १२ में लिखा है—'...........घर आके सन्ध्योपासनादि नित्य कर्म नीचे लिखे प्रमाणे यथाविधि उचित समय में किया करें।' इससे यह ध्वनित होता है कि सन्ध्या के मन्त्र वा क्रम में इस ग्रन्थ को प्रमाण मानना चाहिये। इसी बात की ध्वनि अगली पङ्क्ति—'इन नित्य करने के योग्य कर्मों में लिखे हुए **मन्त्रों का अर्थ और प्रमाण** पञ्चमहायज्ञ-विधि में देख लेवें।

अनेक आर्य विद्वान् यह मानते हैं कि सन्ध्या के मन्त्र और क्रम में पञ्चमहायज्ञविधि को प्रमाण मानना चाहिये (यही आर्य सार्वदेशिक सभा का भी निर्णय है)। इसमें प्रमाण रूप में ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका का निम्न वचन प्रस्तुत करते हैं—**सन्ध्योपासनविधिश्च पञ्चमहायज्ञविधाने यादृश उक्तस्तादृशः कर्त्तव्य** (पञ्चमहायज्ञ विषय के आरम्भ में, पृष्ठ २८२, रामलाल कपूर ट्रस्ट सं०)। अर्थात् सन्ध्योपासन विधि 'पञ्चमहायज्ञ-विधान' नामक पुस्तक के अनुसार करनी चाहिये।

जो लोग यह समझते हैं कि भूमिका के उक्त वचन का संकेत सं० १९३४ में प्रकाशित पञ्चमहायज्ञविधि की ओर है, वे भूल करते हैं। उन्हें ऋषि दयानन्द कृत ग्रन्थों के इतिहास का ज्ञान नहीं है। ऋषि दयानन्द ने पञ्चमहायज्ञविधि के दो ग्रन्थ छपवाये थे। प्रथम ग्रन्थ 'सभाष्यसन्ध्योपासनादि पञ्चमहायज्ञविधि' के नाम से वि० सं० १९३२ (गुजराती पञ्चाङ्गानुसार सं० १९३१) में बम्बई में छपवाया था और दूसरा वि० सं० १९३४ में काशी में छपवाया था। भूमिका की रचना सं० १९३३ के भाद्र मास मे आरम्भ होकर पौष तक पूर्ण हो गई थी। अतः भूमिका का संकेत सं० १९३४ में छपी पञ्चमहायज्ञविधि की ओर नहीं है, संवत् १९३२ में छपी पञ्चमहायज्ञविधि की ओर ही है। यतः उसमें निर्दिष्ट सन्ध्या के मन्त्रों में

संवत् १९३४ वाली पुस्तक में परिवर्तन कर दिया[1], अतः संवत् १९३२ वाले ग्रन्थ पर आश्रित उक्त पङ्क्ति स्वयं हीनबल हो गई। इसके पश्चात् वि० संवत् १९४० में परिशोधित 'संस्कारविधि' में पञ्चमहायज्ञों का विस्तार से वर्णन किया है।

विधि में भेद—इन सब ग्रन्थों में सन्ध्योपासनविधि में कुछ-कुछ भेद उपलब्ध होता है। ऋषि दयानन्द द्वारा अन्तिम रूप से परिष्कृत 'पञ्चमहायज्ञविधि' एवं 'संस्कारविधि' में निर्दिष्ट पद्धति में भी कुछ भेद है। 'सत्यार्थ-प्रकाश' समु० ३ में निर्दिष्ट सन्ध्या की पद्धति में भी क्रमभेद मिलता है। आर्यसमाज के विद्वानों में इस भेद को लेकर मतभेद देखा जाता है। कतिपय विद्वान् 'संस्कारविधि' की पद्धति को प्रामाणिक मानते हैं, तो कतिपय 'पञ्चमहायज्ञविधि' की पद्धति को। 'सत्यार्थ-प्रकाश' की पद्धति के क्रमभेद पर किसी ने न ध्यान ही दिया, और न सामूहिक दृष्टि से इस विषय पर विचार हीं किया।

भेद होते हुए भी तात्त्विक दृष्टि से अभेद—सभी पद्धतियों में भेद होने पर भी उपासना की दृष्टि से कोई भेद नहीं है। क्रम तीनों ग्रन्थों में समान है, केवल अघमर्षण कर्म, उपस्थान के मन्त्रों में क्रम-भेद एवं एक मन्त्र का आधिक्य मात्र है। जहां कर्म समान होता है, और पद्धतियों में भेद होता है, वहां मीमांसकों का मत है कि **पद्धतियों में भेद होने पर भी कर्मभेद नहीं जानना चाहिए।** भगवान् जैमिनि ने इस विषय पर मीमांसा अ० २ पाद० ४ सूत्र ८—३२ तक विस्तार से विचार किया है। यह प्रकरण मीमांसा शास्त्र में **सर्व-शाखाप्रत्येककर्मता अधिकरण** नाम से प्रसिद्ध है। इस सिद्धान्त में प्रधान हेतु यह है कि कर्म और विधि में कर्म की प्रधानता है, विधि की नहीं। ऋषि दयानन्द ने भी 'पञ्चमहायज्ञविधि' के आरम्भ में

---

१. ऋषि दयानन्द के द्वारा सं० १९३४ में परिशोधित संस्करण प्रकाशित कर दिये जाने पर भी सं० १९३२ का संस्करण उनकी दृष्टि में सर्वथा अप्रामाणिक नहीं था, क्योंकि सं० १९३२ वाले 'पञ्चमहायज्ञविधि' के संस्करण का विज्ञापन ऋषि की पुस्तकों पर अन्य पुस्तकों के साथ सं० १९३९ तक बराबर छपता रहा। वह यदि सर्वथा अप्रामाणिक अर्थात् हेय होता, तो वे उस की बिक्री का विज्ञापन अपने ग्रन्थों पर न छपवाते। यही स्थिति संस्कारविधि और सत्यार्थप्रकाश के पहले संस्करणों की भी जाननी चाहिये।

'परमेश्वर के ध्यान आदि करने में किसी प्रकार का आलस्य न आवे, इसलिये शिर और नेत्र आदि पर जलप्रक्षेप (=मार्जन कर्म) करे, यदि आलस्य न हो तो न करे' लिखकर विधि की अपेक्षा सन्ध्योपासनारूप कर्म की ही प्रधानता दर्शाई है।

तात्त्विक दृष्टि से चाहे किसी क्रम से सन्ध्योपासना कर लो जाये,इसमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। फिर भी आर्यों के कर्म में एकता रहे, इस दृष्टि से किसी विधि को तो प्रधानता देनी ही चाहिये। वह विधि कौनसी हो, इस विषय में हमारा विचार है कि 'संस्कारविधि अन्तिम ग्रन्थ होने से उसी की विधि का प्रामाण्य स्वीकार करना चाहिये। यही बात ग्रन्थकार को भी इष्ट है, यह पूर्वनिर्दिष्ट संस्कारविधि (पृष्ठ २२४) के उद्धरणों से स्पष्ट है। इतना ही नहीं, वेदारम्भ संस्कार मे पृष्ठ ११५, पं० ८ में स्पष्ट लिखा है—'गृहाश्रम संस्कार में लिखा सन्ध्योपासन..... करावे।' इसी प्रकार पृष्ठ ११७, पं० २३ पर पुनः लिखा है—'गृहाश्रम के प्रकरण में लिखे सन्ध्योपासनादि .. ।' इन वचनों से भी यह स्पष्ट है कि सन्ध्योपासनविधि के लिये संस्कारविधि ही प्रमाण है।

आश्चर्य तो इस बात का है कि जो लोग सन्ध्या के विषय में ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के उक्त वचन को उद्धृत करके पञ्चमहायज्ञविधि का प्रामाण्य स्वीकार करते हैं, वे ही अग्निहोत्र के विषय में ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के 'तथाऽग्निहोत्रविधिश्च यादृशस्तत्रोक्तस्तादृश एव कर्त्तव्यः' (पृष्ठ २८२, रामलाल कपूर ट्रस्ट सं०) अर्थात् अग्निहोत्र की विधि भी जैसी वहां (=पञ्चमहायज्ञविधि में) कही है, वैसे ही करें। इस लेख पर हड़ताल फेरकर संस्कारविधि का आश्रय लेते हैं। यह अर्धजरतीयन्याय अथवा आधा तीतर आधा बटेर वाली कहावत प्रमाण कोटि में कैसे आ सकती है?

३६—एक कालमें अग्निहोत्र करने पर आहुतियों का क्रम

जो लोग एक ही काल में दोनों समय का अग्निहोत्र करते हैं, वे प्रायः 'भूरग्नये प्राणाय स्वाहा' से लेकर '...भूर्भुवः स्वरों स्वाहा' तक के मन्त्रों की आहुतियां प्रातः और सायं की विशिष्ट आहुतियों के पश्चात् दो वार देते हैं। इसके लिये वे इन आहुतियों के ऊपर दिये

गये 'प्रातः सायं आहुति देना' वचन को प्रमाणरूप से उद्धृत करते हैं। परन्तु हमारा विचार है कि जहां भी विधि-विषयक विचार करना हो, वहां हमें उन प्राचीन शास्त्रों से प्रकाश प्राप्त करना चाहिये, जिनमें उन कर्मों का विधान हो। प्राचीन ऋषि-मुनियों ने इस प्रकार की समस्याओं पर विचार करके निर्णय किया है कि जहां एक काल में अनेक प्रधान कर्म किये जायें, तो उनसे सम्बद्ध गौण कर्मों को एक बार ही करना चाहिये। इसे याज्ञिकों की परिभाषा में **पदार्थानुसमय** कहा जाता है (द्र०—कात्या० श्रौत १।५।१०)।

ऋषि दयानन्द भी इस पक्ष को स्वीकार करते हैं। उन्होंने वेदारम्भ संस्कार में लिखा है—**जो उपनयन किये पश्चात् उसी दिन वेदारम्भ करें, उसको पुनः वेदारम्भ में ईश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासना [स्वस्तिवाचन] और शान्तिकरण करना आवश्यक नहीं** (सं० वि० पृष्ठ १२३ टि०)।

अतः शास्त्रीय सिद्धान्त के अनुसार दोनों काल में समानरूप से विनियुक्त भूरग्नये० आदि मन्त्रों की आवृत्ति करना अनावश्यक है। क्रमशः प्रातः सायं की विशिष्ट आहुतियां देकर भूरग्नये० आदि मन्त्रों से आहुतियां देनी चाहियें। अर्थात् ये आहुतियां एक बार ही दी जायें।]

इतना ही नहीं, यदि पांच आहुतियां ही दो बार देनी हों, तो अगली **यां मेधां०** वाली तीन आहुतियों ने क्या अपराध किया है? ग्रन्थकार का शीर्षक (सं० वि० में) तो आठों मन्त्रों के लिये समान है। यदि कहो कि पञ्चमहायज्ञविधि में दोनों समय की पांच ही आहुतियां लिखी हैं। और वहां पर भी इन्हें दोनों समय करने का निर्देश किया है, तो फिर संस्कारविधि के अनुसार अगली आहुतियां क्यों देते हो? कर्म एकरूप होना चाहिये, चाहे पञ्चमहायज्ञविधि के अनुसार होवे, चाहे संस्कारविधि के अनुसार, दोनों का संमिश्रण अन्याय्य है।



द्वितीय परिशिष्ट

संशोधन-परिवर्तन-परिवर्धन

इस परिशिष्ट में टिप्पणियों में परिवर्तन परिवर्धन के साथ मूल ग्रन्थ की उन सभी अशुद्धियों का निर्देश कर दिया है, जो दुबारा पढ़ने और द्वितीय संस्करण से मिलाने पर उपलब्ध हुईं—

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८	२९	४।२३	४।२६
१५	२३	पृष्ठ १ की	पृष्ठ ११ की
१६	२१	।।१७	।।१६
१७	१४	प्र॒ज्ञानमुत	प्र॒ज्ञानं॑मु॒त
१७	२१	यदं॒ज्रिं	यदं॒ज्रिं
१९	२८	जो पचास	और जो पचास
२५	६	१।८।२५)	१।८।१५)
२७	४	सामधेनी	सामिधेनी
३२	११	पर टिप्पणी देवें—'तत्पश्चात्·· छिड़कावे' पाठ कुछ विपर्यसित हो गया है। वहां इस प्रकार पाठ होना चाहिये—'तत्पश्चात् अञ्जलि में जल लेके वेदी के पूर्व दिशा आदि और चारों ओर छिड़कावे।'	
३२	१३-१५	आग्निवेश्य गृह्य (पृष्ठ ३६) में जल-सिंचन की विधि इस प्रकार दी है—पूर्व में दक्षिण से उत्तर की ओर, पश्चिम में—दक्षिण से उत्तर की ओर, उत्तर में—पश्चिम से पूर्व की ओर, दक्षिण में—दक्षिणावर्तन से चारों ओर क्रिया करनी चाहिये।	
३२	२८	टिप्पणी ५ के अन्त में 'दी जाती है।' के आगे बढ़ावें—ऐसा प्राचीन श्रौतकारों का मत है।	
३४	२	पश्चात् पूर्णाहुति	पश्चात् भी[1] पूर्णाहुति

१. यह 'भी' पद रफ कापी में विद्यमान है।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३४	२१	टिप्पणी २ के अन्त में 'दी जाने वाली आहुतियां।' के आगे बढ़ावें—ग्रन्थकार ने आघाराहुति और आज्यभागाहुति का आगे सर्वत्र प्रधान होम से पूर्व ही निर्देश किया है। किन्तु इसी पृष्ठ पर निर्दिष्ट चार व्याहृति आहुतियों का प्रधान होम के पूर्व और पश्चात दोनों स्थानों पर प्रायः निर्देश किया है।	
३७	२०	'पूर्णꣳ स्वाहा' पर टिप्पणी देवें - शत० ४।२।२।२; ५।२।३।१।।	
३८	३	वामदेव्यगान	[महा]वामदेव्य-गान
५१	२५	'टि० २—द्र०—पृष्ठ ३४, टि० ६।' के आगे बढ़ावें—यहां जो चार मन्त्र दिये हैं, उनमें प्रथम तीन पृष्ठ ३४ पर उल्लिखित हैं। चौथे का पाठ भिन्न हैं। हमारे विचार में चौथे का पाठ भी वही होना चाहिये, जो पृष्ठ ३४ पर छपा है।	
५६	२६	चौथी टिप्पणी निकाल दें। और पं० १८ में पठित 'शान्त्याहुति' पर परिशिष्ट १, पृष्ठ ३३४ की टिप्पणी संख्या १८ देखें।	
६०	११	हितवन्तः	हितमन्तः
६१	२	देवत्वं ग	देवत्वमा
६३	२२	मीमांसा के	मीमांसा (५।१।२) तथा का०श्रौ० (१।५।५) के
६४	१६	मुह्युत्ताना	मुह्युत्ताना
६५	४	प्रजापते	भूर्भुवः स्वः। प्रजापते
६५	४	इसके	इस से
६६	२१,२२	राधिन्यै	राधन्यै
७१	१६	(त्वा) इत्यादि मन्त्रों	(त्वा०)इत्यादि उत्तर मन्त्रों
७४	२	जरदः	शरदः
७६	७	विवस्वान्नो	विवस्वान्नो
८८	३०	'ऊर्ज'	'ऊर्ज'
८६	१६	में आघारा-	में लिखे प्रमाणे आघारा-

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६०	२५	१।१७।६॥ तु०—	१।१७।६॥ मन्त्र ब्रा० १।६।२॥ तु०—
६१	२५	१।६।४;	१।६।६;
९६	९	पके…हो जावे	पकें हो जावें
१००	१	तत्पश्चात्	पश्चात्
१०८	८-११	'ओं' 'ओम्'	चार स्थानों से हटा दें। द्र०—परिशिष्ट १, पृष्ठ ३३८, टि० संख्या २२।
११०	३	'इन मन्त्रों से' पर टिप्पणी—ये ६ मन्त्र हैं। ६ मन्त्रों का कार्य एक उपस्थान होने से प्रथम मन्त्र के साथ ही 'ओं' का निर्देश किया है। द्र०—परिशिष्ट १, पृष्ठ ३२५, टि० संख्या २।	
११२	१०	[ब्रह्मचारी के कर्त्तव्य]	[पिता का उपदेश]
११७	२	(अग्ने सुश्रुवः०)	(अग्ने सुश्रवः०)
११७	१०	आचार्य उपनयमानो	आचार्यं उपनयमानो
„	११,१९	द्रष्टुम०, तस्मिन्	द्रष्टुम०, तस्मिन्
१२०	१५	वर्ष की	वर्ष के
१२९	२९	उणादि गणपाठ	उणादि [गण] गणपाठ
१३२	२३	'१४ चौदह विद्याओं' पर टिप्पणी—ग्रन्थकार ने १४ विद्याओं का उल्लेख ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका (ग्रन्थप्रामाण्याप्रामाण्य विषय, पृष्ठ ३१४, रामलाल कपूर ट्रस्ट सं०); यजुर्वेदभाष्य ९।३६, तथा कानपुर के विज्ञापन (द्र०—ऋ० द० पत्र और विज्ञापन, पृष्ठ २, सं० २) में भी किया है। इनमें चार वेद, चार उपवेद और छः वेदाङ्गों (४+४+६=१४) की गणना की है। वायु पुराण ६१।७८ में चौदह विद्याओं में ४ वेद, ६ अङ्ग, मीमांसा, न्यायविस्तर, पुराण और धर्मशास्त्रों को गिना है। अगले	

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
		श्लोक में चार उपवेदों को जोड़कर १८ विद्यायें कही हैं।	
१३५	६	जितने वहां	और जितने वहां
१३६	१६	प्रमाणे करें।	प्रमाणे [पाद्य-अर्घ्य-मधुपर्क द्वारा] करें।
१४१	२१	॥४॥	॥४,५॥
१४१	२२	तक में जानना	तक में [लिखे प्रमाण] जानना
१५४	१२	'स्थालीपाक' पर टिप्पणी—स्थालीपाक से यहां भात अभिप्रेत है। इस का उपयोग उत्तरविधि में होगा।	
१६१	२६	तांत से रहित।	तांत से रहित। द्र०—पृष्ठ २२, पं० १५-'अचर्मबद्धम्'।
१६८	१३	पुरोधायमस्मिन्	पुरोधायामस्मिन्
१६०	२	अमृतस्य	अमृतस्य
१६०	१८	'संवृतं'	'सुवृतं'
१६०	२०	सूर्यं	सूर्यं
१६२	२०	वाहा	स्वाहा
२०१	२	सुगृहौ…जीवा०	सुगृहौ…जीवा०
२०१	३	इहेमाविन्द्र	इहेमाविन्द्र
२०३	२५	देवा वियन्ति	देवा न वियन्ति
२०८	७	निन्दा छोड़ दो	निन्दा को छोड़ दो

पृष्ठ संख्या २११ के आगे ११२, ११३, ११६ को क्रमशः २१२, २१३, २१६ शोधें।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२१३	१२	श्रेष्ठ, दुष्ट	श्रेष्ठ और दुष्ट
२१४	२६	प्रमाण	परिमाण
२१६	८	'कभी न समझें' पर टिप्पणी—अर्थात् तुल्य सेवा न करे। द्र०—संस्कारविधि संस्करण १, पृष्ठ १३०।	
२२७	१३	न्यायकारनी	न्यायकारी

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२२७	१४	सर्वथा	सर्वत्र
२२६	१३	०स्थुंषश्च	स्थुंषश्च
२३२	३	मं० ४।।	मं० १४।।
२३२	१५	पितृयक्षः	पितृयज्ञः
२४२	२३	'पद्धति'	'पद्धती'
२४८	१४	अस्पष्ट पाठ छपा है—द्वारफलके बनावें	
२७२	१८	ग्राम में निकल	ग्राम से निकल

पृष्ठ २७७ से ३०७ तक प्रकरण संकेत 'संन्यास-प्रकरणम्' के स्थान में 'संन्यास-विधिः' शोधें।

२७८	२	।।२।।	।।३।।
२८३	४	गणान्	गुणान्
२८८	१४	व्रिराजन्तं	व्रिराजन्तं
२६५	२७	२४-२४	२३-२४
३१६	६	षड्र्वी	षडुर्वी



तृतीय-परिशिष्ट

पठन-पाठन-विधि में निर्दिष्ट ग्रन्थ

[संस्कारविधि-वेदारम्भसंस्कार; सत्यार्थप्रकाश-तृतीय समुल्लास; ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका-ग्रन्थप्रामाण्याप्रामाण्यविषय में निर्दिष्ट]

शिक्षा

सं. वि.	पाणिनीय शिक्षा (सूत्रात्मक)
स. प्र.	,, ,,
ऋ. भा. भू.	,, ,,

व्याकरण

सं. वि.	अष्टाध्यायी	धातुपाठ	उणादिगण	गणपाठ	लिङ्गा०	महाभाष्य
स. प्र.	,,	,,	,,	×	×	,,
ऋ. भा. भू.	,,	,,	,,	×	×	,,

निरुक्त

सं. वि.	निघण्टु	निरुक्त	अव्ययार्थ (आप्तमुनि कृत)
स. प्र.	,,	,,	
ऋ. भा. भू.	,,	,,	

छन्दःशास्त्र

सं. वि.	पिङ्गल-छन्दःसूत्र (भाष्यसहित)
स. प्र.	,, ,,
ऋ. भा. भू.	,, ,, (पिङ्गलभाष्यसहित)

साहित्य

सं० वि.	मनुस्मृति	वा० रामायण	विदुरनीति	काव्यालंकारसूत्र[1]
स. प्र.	,,	,,	महाभारत (विदुरनीति)	
ऋ. भा. भू.	,,	,,	,,	

१. यास्ककृत, वात्स्यायनभाष्य सहित ।

दर्शनशास्त्र

सं. वि.	पूर्वमीमांसा	(व्यास-भाष्य)	वैशेषिक	(गोतम-प्रश०-भाष्य)
स. प्र.	,,	,,	,,	,, (गोतम-भाष्य)
ऋ. भा. भू.	,,	,,	,,	,, ,,
सं. वि.	न्याय	(वात्स्यायन-भाष्य)	योग	(व्यास-भाष्य)
स. प्र.	,,	,,	,,	,,
ऋ. भा. भू.	,,	,,	,,	,,
सं. वि.	सांख्य	(भागुरि-भाष्य)	वेदान्त	(बौधायन-भाष्य)
स. प्र.	,,	,,	,,	,,
ऋ. भा. भू.	,,	,,	,,	(बौधायन-वृत्ति)

उपनिषद्

सं. वि.	ईश	केन	कठ	प्रश्न	मुण्डक	माण्डूक्य	ऐतरेय
स. प्र.	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,
ऋ. भा. भू.	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,

सं. वि.	तैत्तिरीय	छान्दोग्य	बृहदारण्यक
स. प्र.	,,	,,	,,
ऋ. भा. भू.	,,	,,	,,

ब्राह्मण-वेद

सं. वि.	ऐतरेय-ऋग्वेद	शतपथ-यजुर्वेद
स. प्र.	,, ,,	,, ,,
ऋ. भा. भू.	,, ,,	,, ,,
सं. वि.	साम-सामवेद	गोपथ-अथर्ववेद
स. प्र.	,, ,,	,, ,,
ऋ. भा. भू.	(आदि)	(आदि)

वेद के पाठ

सं. वि.	पद क्रम	(चारों वेदों के)	गान (साम)
स. प्र.	×	×	×
ऋ. भा. भू.	×	×	×

उपवेद

आयुर्वेद

सं. वि.	चरक	सुश्रुत	निघण्टु (धन्वन्तरि कृत)

स. प्र. — चरक — सुश्रुत

ऋ. भा. भू. „ „

धनुर्वेद —

सं. वि. धनुर्वेद (अङ्गिरा आदि कृत)

स. प्र. „

ऋ. भा. भू „ „ „

गान्धर्ववेद —

सं. वि. गान्धर्ववेद (नारद-संहिता आदि)

स. प्र. „

ऋ. भा. भू. „

अर्थवेद (=शिल्पशास्त्र)—

सं. वि. अर्थवेद (विश्वकर्मा-त्वष्टा-मयकृत संहिताग्रन्थ)

स. प्र. „

ऋ. भा. भू. „ (विश्वकर्मा-त्वष्टा-[देवज्ञ]-मयकृत ४ चार संहिताएं)

ज्योतिष शास्त्र

सं. वि. सूर्यसिद्धान्त आदि; अङ्क-बीज-रेखागणित

स. प्र. „ „ „ „ भूगोल खगोल भूगर्भविद्या

ऋ. भा. भू. वसिष्ठ आदि कृत „ „

कल्प-सूत्र

सं. वि. कल्पसूत्र आश्वलायन श्रौत-गृह्य

स. प्र. „

ऋ. भा. भू. „ मानव कल्पसूत्र आदि

पठन-पाठन में त्याज्य ग्रन्थों की सूची

शिक्षा—स. प्र.—'अथ शिक्षां प्रवक्ष्यामि' आदि पाणिनीय-शिक्षा

व्याकरण—स. प्र.—कातन्त्र, सारस्वत, चन्द्रिका, मुग्धबोध, कौमुदी, शेखर, मनोरमा आदि

ऋ. भा. भू.—सारस्वत, चन्द्रिका, कौमुदी आदि

कोश—स. प्र.—अमरकोश आदि

ज्योतिष—स. प्र.—शीघ्रबोध, मुहूर्तचिन्तामणि आदि
ऋ. भा. भू.—मुहूर्तचिन्तामणि आदि

साहित्य—स. प्र.—नायिकाभेद, कुवलयानन्द, रघुवंश, माघ, किरातार्जुनीय आदि

मीमांसा—स. प्र.—धर्मसिन्धु, व्रतार्क आदि
ऋ. भा. भू.—निर्णयसिन्धु आदि

वैशेषिक—स. प्र.; ऋ. भा. भू.—तर्कसंग्रह [मुक्तावली]

न्याय— ,, ,, —जागदीशी आदि

योग— ,, ,, —हठप्रदीपिका आदि

सांख्य— ,, ,, —सांख्यतत्त्वकौमुदी आदि

वेदान्त—स. प्र.—योगवासिष्ठ, पञ्चदशी आदि
ऋ. भा. भू.—योगवासिष्ठ ,, वेदान्तसार आदि

वैद्यक—स. प्र.—शार्ङ्गधर आदि

स्मृति—स. प्र., ऋ. भा. भू.—मनु के प्रक्षिप्त श्लोक, और शेष सब स्मृतियां।

कल्पसूत्र—ऋ. भा. भू.—त्रिकण्डिका, स्नानसूत्र, परिशिष्ट

अन्य ग्रन्थ

स. प्र.	ऋ. भा. भू.
तन्त्र	व्रत-तीर्थ-यात्रा-पूजा-माहात्म्य
पुराण	आदि के ग्रन्थ
तुलसी रामायण	सम्प्रदाय ग्रन्थ
रुक्मणीमंगल	
सर्वभाषाग्रन्थ	



चतुर्थ परिशिष्ट

संस्कारविधि में निर्दिष्ट यज्ञों के पात्रादि की सूची



१. धेनु शब्द सदुग्धा सवत्सा गौ का वाचक है ।

पञ्चम परिशिष्ट

संस्कारविधि में प्रयुक्त पारिभाषिक नामों की सूची

---

१. द्र०—अग्न्याधेय शब्द।

२. द्र०—अग्न्याधान शब्द।

३. इन शब्दों के अर्थों के लिये देखो—आर्योद्देश्यरत्नमाला (क्रमशः संख्या १,२१,२४,२६) तथा स० प्र० स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकरण (क्रमशः संख्या १,४८,४९,५०)

१. ऋत्विग् लक्षण, द्रष्टव्य—पृष्ठ २८, पं० ११।
२. द्र०—चौल शब्द।
३. द्र०—चूडाकर्म शब्द।

१. ऋत्विगन्तर्गत होने से द्र०—ऋत्विग्लक्षण पृष्ठ २८, पं० ११ तथा पुरोहित लक्षण पृष्ठ ६६, पं० २४।

२. द्र०—वामदेव्यगान शब्द।

३. यज्ञपात्रों के पारिभाषिक नामों की सूची परिशिष्ट ४ में देखें।

१. वर्णभेद से वरद्रव्य नियत हैं। ब्राह्मण के लिये गौ, क्षत्रिय के लिये ग्राम, वैश्य के लिये अश्व। पार० गृह्य १।८।१५-१७॥

२. द्र०—महावामदेव्यगान शब्द। ३. द्र०—पृष्ठ २७, पं० १६, टिप्पणी ४।

षष्ठ परिशिष्ट

विषय-सूची अकारादि क्रम से



सप्तम परिशिष्ट

संस्कारविधि में उद्धृत ग्रन्थों की सूची

१. ग्रन्थकार की टिप्पणी में।

१. न्यायसूत्र शब्द भी द्रष्टव्य। २. द्र०—शारीरकसूत्र शब्द।

अष्टम परिशिष्ट

टिप्पणी में उद्धृत ग्रन्थों की सूची

1. द्र०—आठ विकृतियां शब्द ।
2. द्र०—शुक्ल यजुः प्रातिशाख्य शब्द ।

१. द्र०—पञ्चमहायज्ञविधान ।

२. इस परिशोधित सं० १६३४ के संस्करण पर प्रथम संस्करण छपा है ।

३. द्र०—गुजराती पञ्चाङ्ग, उत्तर भारतीय पञ्चाङ्ग शब्द ।

४. द्र०—काण्वबृहदारण्यक उपनिषद् शब्द ।

१. द्र०—माध्यन्दिन उपनिषद् शब्द।



१. द्र०—कात्यायनीय प्रातिशाख्य ।

नवम परिशिष्ट

संस्कारविधि में निर्दिष्ट व्यक्ति-नामों की सूची

---

१. वर्णोच्चारण शिक्षा अष्टाध्यायी धातुपाठ गणपाठ उणादिगण लिङ्गानुशासन ग्रन्थों के प्रवक्ता

२. शुद्ध नाम बौधायन है।



दशम परिशिष्ट

टिप्पणी में निर्दिष्ट व्यक्ति वा स्थान नामों की सूची

१. ग्रन्थकार की टिप्पणी में।

१. यह मीमांसक भट्ट कुमारिल से अर्वाचीन व्यक्ति है।

एकादश परिशिष्ट

संस्कारविधि में उद्धृत मन्त्रादि की सूची

१. यहां मुद्रणदोष से 'हरिदत्त' छपा है।



द्वादश परिशिष्ट

टिप्पणी में उद्धृत प्रमाणों की सूची



आर्यसमाज-शताब्दी के उपलक्ष्य में
ऋषि दयानन्द कृत ग्रन्थों का
नया महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

१–सत्यार्थप्रकाश (आ० स० शताब्दी सं०)—शुद्ध पाठ, विस्तृत विषयसूची, २५०० टिप्पणियां, ११ महत्त्वपूर्ण परिशिष्ट, सुन्दर सजिल्द संस्करण १८×२२ अठपेजी आकार के ११०० पृष्ठों में।
मूल्य १५-००

२. सत्यार्थप्रकाश (सस्ता संस्करण)—शुद्ध पाठ के अतिरिक्त २५०० टिप्पणियां, २०×३० सोलह पेजी आकार के ६०० पृष्ठों में। मूल्य ५-००, सजिल्द ६-००

३. संस्कारविधि (आ० स० शताब्दी सं०)—शुद्ध पाठ, विस्तृत विषयसूची, सहस्राधिक टिप्पणियां, १२ विविध सूचियां, सुन्दर संस्करण। मूल्य ८-००, सजिल्द १०-००

४. संस्कारविधि (सस्ता नया चौथा संस्करण)—मूल्य ३-००, सजिल्द ४-००।

५. ऋग्वेदभाष्य (ऋषि दयानन्द कृत)—शुद्ध पाठ, २००० टिप्पणियां, ११ महत्त्वपूर्ण परिशिष्ट, २०×३० अठपेजी आकार के ८४० पृष्ठों में, सुन्दर सजिल्द। प्रथम भाग मूल्य २५-००, दूसरा भाग २५-००। तीसरा भाग छप रहा है।

६. लघु-ग्रन्थ-संग्रह—ऋषि दयानन्द कृत २० लघु ग्रन्थों का सुन्दर शुद्ध सटिप्पण संस्करण छप रहा है।

७. आर्याभिविनय (अंग्रेजी अनुवाद)—स्वामी भूमानन्द सरस्वती कृत। मूल्य अजिल्द ३-००, सजिल्द ४-००

८. आर्यसमाज के वेद सेवक विद्वान् ३-००
प्राचीन वेदमनीषी—शीघ्र छपेगा।
पाश्चात्य वेद-सेवक विद्वान्—शीघ्र छपेगा।

९. महाभाष्य—पं० युधिष्ठिर मीमांसक कृत हिन्दीव्याख्या सहित। द्वितीय भाग मूल्य २०-००। तृतीय भाग छप रहा है।

१०. संस्कृत व्याकरण-शास्त्र का इतिहास—पं० युधिष्ठिर मीमांसक कृत। तीन भागों में सम्पूर्ण। मूल्य क्रमशः प्रथम भाग २५-००, द्वितीय भाग २०-००, तृतीय भाग १५-००।

श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट
द्वारा
प्रकाशित और प्रसारित ग्रन्थ

वेद विषयक-ग्रन्थ

१. यजुर्वेदभाष्य-विवरण (प्रथम भाग)— अप्राप्य
यजुर्वेदभाष्य-विवरण (द्वितीय भाग)— २०-००
२. ऋग्वेदभाष्य—ऋषि दयानन्द कृत। २००० टिप्पणियों के साथ शुद्ध सुन्दर संस्करण। (प्रथम भाग)—२५-०० (द्वितीय भाग)—२५-००। (तृतीय भाग छप रहा है)
३. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका—(स्थूलाक्षर सटिप्पण) १५-००
भूमिका पर किए गए आक्षेपों के उत्तर— १-५०
४. माध्यन्दिनपदपाठः—(यजुर्वेद का पदपाठ) १५-००
५. वैदिक-स्वर-मीमांसा— ५-००
६. ऋग्वेद की ऋक्संख्या—(विविध मतों की आलोचना) १-००
७. वेद-संज्ञा-मीमांसा— ०-७५
८. देवापि और शन्तनु के वैदिक आख्यान का स्वरूप ०-७५
९. वेद और निरुक्त— ०-७५
१०. निरुक्तकार और वेद में इतिहास— ०-७५
११. त्वाष्ट्री-सरण्यू आख्यान का वास्तविक स्वरूप— ०-७५
१२. वेद में आर्य-दास युद्ध सम्बन्धी पाश्चात्य मत का खण्डन—ले० पं० रामगोपाल शास्त्री वैद्य ०-७५
१३. वेद में प्रयुक्त विविध स्वराङ्कन-प्रकार—
२-००, सजिल्द ३-००

कर्मकाण्ड-सम्बन्धी ग्रन्थ

१४. संस्कारविधि—(साधारण संस्करण) ३-००, सजिल्द ४-००
आर्य-समाज-शताब्दी संस्करण—१२ प्रकार की सूचियों और

टिप्पणियों से युक्त— अजिल्द ८-००, सजिल्द १०-००
१५. संस्कार-समुच्चय— सजिल्द १५-००
१६. वैदिक-नित्यकर्म-विधि (व्याख्या सहित)— १-५०
१७. पञ्चमहायज्ञविधि— ०-३५
१८. पञ्चमहायज्ञप्रदीप— ३-००
१९. हवनमन्त्र—(मूलमात्र) ०-२०
२०. सन्ध्योपासनविधि—अर्थसहित। ०-२०
२१. सन्ध्योपासनविधि–अर्थ और दैनिक हवन-मन्त्र सहित ०-२५

शिक्षा-निरुक्त-व्याकरण-सम्बन्धी ग्रन्थ

२२. वर्णोच्चारणशिक्षा—(नया संस्करण) ०-५०
२३. शिक्षासूत्राणि आपिशलि-पाणिनि-चन्द्रगोमी-प्रोक्त १-५०
२४. शिक्षा-शास्त्रम्—पं० जगदीशाचार्य ४-००
२५. निरुक्त-शास्त्र—पं० भगवद्दत्त (भाषा टीका) २५-००
२६. निरुक्तसमुच्चयः— ६-००
२७. अष्टाध्यायीसूत्रपाठः— १-५०
२८. अष्टाध्यायी सूत्रपाठ के परिशिष्ट— २-००
२९. पाणिनीयं शब्दानुशासनम् (भाग १)—पाणिनीय सूत्रपाठ के विविध पाठ-भेद तथा सूत्रसूची सहित। सजिल्द ४-००
३०. धातुपाठः—धातुसूची सहित १-५०
३१. संस्कृत-धातुकोषः—हिन्दी अर्थ सहित ३-००
३२. अष्टाध्यायी-भाष्य (प्रथम भाग)— १५-००
(द्वितीय भाग)--नया संस्करण छप रहा हैं।
(तृतीय भाग)— १५-००
३३. महाभाष्य—यु० मी० कृत हिन्दी व्याख्या सहित। भाग २ सजिल्द २०-००। भाग ३, अगस्त ७४ तक मिलेगा
३४. संस्कृत पठनपाठन की अनुभूत सरलतम विधि— प्रथम भाग ५-००, द्वितीय भाग ६-५०
३५. दैवम्-पुरुषकारवार्तिकोपेतम्— ८-००
३६. काशकृत्स्न-धातु-व्याख्यानम्— ८-००
३७. काशकृत्स्न-व्याकरणम्— ३-००

३८. दाक्षनीय लिङ्गानुशासनं स्वोपज्ञवृत्ति-सहितम्—
अजिल्द ३-००, सजिल्द ४-००
३९. लिट् और लुङ् लकार की रूप-बोधक सरलविधि— २-००
४०. शब्दरूपावली — ०-७५
४१. भागवृत्तिसंकलनम्–अष्टाध्यायी की प्राचीन वृत्ति ३-००
४२. संस्कृतवाक्यप्रबोध स्वामी दयानन्द (मूल मात्र) ०-६०
" " " — आक्षेपों के उत्तर सहित १-२५

अध्यात्मविषयक ग्रन्थ

४३. अनासक्ति-योग— मोक्ष की पगदण्डी
४४. Aryabhivinaya–English Translation and Notes
अजिल्द ३-००, सजिल्द ४-००
४५. विष्णुसहस्रनाम-स्तोत्रम् (सत्यभाष्य-सहितम्)— ४ भाग
प्रति भाग १२-५०
४६. आत्मा की जीवनगाथा— १-००
४७. हंसगीता—(महाभारत का आध्यात्मिक प्रकरण) ०-४०
४८. वैदिक ईश्वरोपासना— ०-४०
४९. अगम्य पन्थ के यात्री को आत्मदर्शन— २-००

इतिहास-राजनीति-विषयक ग्रन्थ

५०. वाल्मीकि-रामायण— (हिन्दी अनुवाद) बालकाण्ड ३-५०
अयोध्याकाण्ड ५-५० अरण्य-किष्किन्धाकाण्ड ६-५०
सुन्दरकाण्ड ४-०० युद्धकाण्ड १०-५० । पूरा सैट ३०-००
५१. विदुरनीति—पदार्थ भावार्थ सहित ५-००
५२. भारतीय प्राचीन राजनीति—पं० भगवद्दत्त कृत ०-७५
५३. सत्याग्रहनीतिकाव्य—भाषानुवाद सहित ५-००
५४. संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास नया संस्करण प्रथम
भाग २५-००, द्वितीय भाग २०-००, तृतीय भाग १५-००
५५. संस्कृत व्याकरण में गणपाठ की परम्परा और आचार्य
पाणिनि १०-००

५६. ऋषि दयानन्द सरस्वती का स्वलिखित और स्वकथित आत्म-चरित— ०-७५
५७. ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज की संस्कृत साहित्य को देन— सजिल्द १०-००
५८. पूना-प्रवचन (उपदेश-मञ्जरी)— ३-००
५९. आर्य-समाज के वेदसेवक विद्वान्—डा० भवानीलाल ३-००

विविध-विषयक प्रामाणिक ग्रन्थ

६०. सत्यार्थप्रकाश— सजिल्द ६-००, अजिल्द ५-००
आर्यसमाज-शताब्दी संस्करण—२५०० टिप्पणियों और ११ प्रकार की सूचियों से युक्त। १५-००
६१. व्यवहारभानु—स्वामी दयानन्द ०-३५
६२. आर्योद्देश्यरत्नमाला— „ „ ०-१५
६३. भागवत-खण्डनम् „ „ ०-५०
६४. अष्टोत्तरशतनाममालिका— ५-००
६५. प्यारा ऋषि– ऋ. द. के जीवन की विशेष घटनाएं ०-७५
६६. अमीर सुधा—भक्त अमीचन्द कृत भजन-संग्रह ०-५०
६७. देवतावाद का भौतिक तथा वैज्ञानिक रहस्य— १-००
६८. वेद में मनुष्य-इतिहास नहीं— २-००
६९. दयानन्द-शास्त्रार्थ-संग्रह— ४-००
७०. नाडी-तत्त्व-दर्शनम्—पं० सत्यदेव शर्मा वासिष्ठ १०-००
७१. परमाणु दर्शनम्—ले० जगदीशाचार्य ४-००
७२. षक्कर्मशास्त्रम्— „ „ „ ८-००
७३. सिद्धान्तशतकम्—ले० जयदत्त शास्त्री १-००
७४. श्री पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी की जीवनी— ०-५०
७५ Vegetarianism Vs: MeatEatings ले०—कर्मनारायण कपूर मूल्य ०-५०

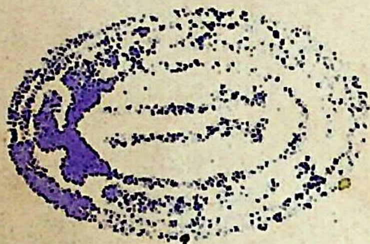
पुस्तक-प्राप्ति-स्थान—

रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़, जिला-सोनीपत (हरयाणा)

रामलाल कपूर एण्ड संस पेपर मर्चेण्ट्स—

गुरु बाजार, अमृतसर।] [नई सड़क, देहली
बिरहाना रोड़, कानपुर।] [५१ सुतारचाल, बम्बई।






2592